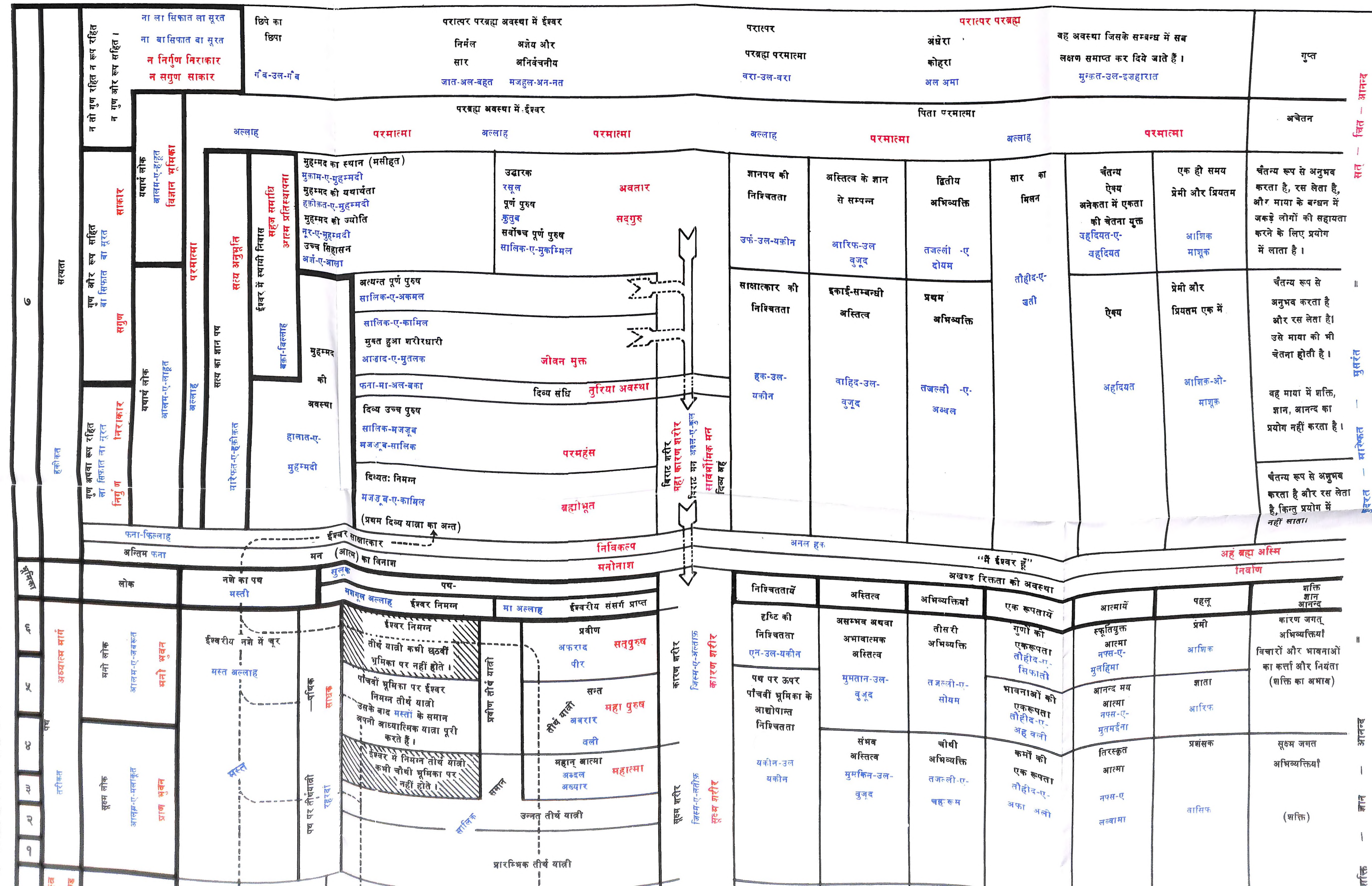
ईश्वर वाणी



मेहेर बाबा

ईश्वर-वाणी में प्रयुक्त हुए चेतना की भूमिकाओं से सम्बन्धित, गूढ़, सूफ़ी और वेदान्तिक शब्द

लुडविग डिम्फिल द्वारा तैयार किया गया और मेहेर बाबा द्वारा स्वीकार किया गया नक्शा



अल्लाह — परमात्मा — अल्लाह — परमात्मा — अल्लाह — परमात्मा — अल्लाह — परमात्मा — अचेतन

७ — सत्ता — हक़ीक़त

सगुण — गुण और रूप सहित या सिफ़ात या सूरत — साकार — यथार्थ लोक — आलम-ए-लाहूत — विज्ञान भूमिका

निर्गुण — गुण अथवा रूप रहित ला सिफ़ात ला सूरत — निराकार — यथार्थ लोक — आलम-ए-लाहूत

परमात्मा — अल्लाह

सत्य अनुभूति — सत्य का ज्ञान पथ — मारिफ़त-ए-हक़ीक़त

सहज समाधि — आत्म प्रतिस्थापना — ईश्वर में स्थायी निवास — बक़ा-बिल्लाह

मुहम्मद का स्थान (मसीहूत)
मुक़ाम-ए-मुहम्मदी
मुहम्मद की यथार्थता
हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी
मुहम्मद की ज्योति
नूर-ए-मुहम्मदी
उच्च सिंहासन
अर्श-ए-आला

मुहम्मद की अवस्था — हालात-ए-मुहम्मदी

उद्धारक — रसूल — अवतार
पूर्ण पुरुष — क़ुतुब — सद्गुरु
सर्वोच्च पूर्ण पुरुष — सालिक-ए-मुकम्मिल

अत्यन्त पूर्ण पुरुष — सालिक-ए-अकमल

सालिक-ए-कामिल — मुक्त हुआ शरीरधारी — आज़ाद-ए-मुतलक — जीवन मुक्त

फ़ना-मा-अल-बक़ा — दिव्य संधि — तुरिया अवस्था

दिव्य उच्च पुरुष — सालिक-मजज़ूब — मजज़ूब-सालिक — परमहंस

दिव्यत: निमग्न — मजज़ूब-ए-कामिल — (प्रथम दिव्य यात्रा का अन्त) — ब्रह्मीभूत

विराट शरीर — महा कारण शरीर — विराट मन अक़्ल-ए-कुल — सार्वभौमिक मन — दिव्य बहं

ज्ञानपथ की निश्चितता	अस्तित्व के ज्ञान से सम्पन्न	द्वितीय अभिव्यक्ति	सार का मिलन	चैतन्य ऐक्य — अनेकता में एकता की चेतना युक्त	एक ही समय प्रेमी और प्रियतम	चैतन्य रूप से अनुभव करता है, रस लेता है, और माया के बन्धन में जकड़े लोगों की सहायता करने के लिए प्रयोग में लाता है।
ऐन-उल-यक़ीन	आरिफ़-उल वुजूद	तजल्ली-ए-दोयम	तौहीद-ए-ज़ात	वहदियत-ए-वहदियत	आशिक माशूक	
साक्षात्कार की निश्चितता	इकाई-सम्बन्धी अस्तित्व	प्रथम अभिव्यक्ति		ऐक्य	प्रेमी और प्रियतम एक में	चैतन्य रूप से अनुभव करता है और रस लेता है। उसे माया की भी चेतना होती है। वह माया में शक्ति, ज्ञान, आनन्द का प्रयोग नहीं करता है।
हक़-उल-यक़ीन	वाहिद-उल-वुजूद	तजल्ली-ए-अव्वल		अहदियत	आशिक़-ओ-माशूक़	
						चैतन्य रूप से अनुभव करता है और रस लेता है, किन्तु प्रयोग में नहीं लाता।

मुक़ाम — सिफ़त — हक़ीक़त — मारिफ़त — मुक़रंत

फ़ना-फ़िल्लाह — ईश्वर साक्षात्कार — निर्विकल्प — अनल हक़

अन्तिम फ़ना — मन (आत्म) का विनाश — मनोनाश — "मैं ईश्वर हूँ" — अहं ब्रह्म अस्मि

सुलूक — पथ- — अखण्ड रिक्तता की अवस्था — निर्वाण

भूमिका	लोक	नशे का पथ — मस्ती	मशग़ूल अल्लाह — ईश्वर निमग्न	मा अल्लाह — ईश्वरीय संसर्ग प्राप्त
६	मनो लोक — आलम-ए-जबरूत — मनो भुवन	ईश्वरीय नशे में चूर — मस्त अल्लाह	ईश्वर निमग्न तीर्थ यात्री कभी छठवीं भूमिका पर नहीं होते।	प्रवीण — अफ़राद — पीर — सतपुरुष — प्रवीण तीर्थ यात्री
५			पाँचवीं भूमिका पर ईश्वर निमग्न तीर्थ यात्री उसके बाद मस्तों के समान अपनी आध्यात्मिक यात्रा पूरी करते हैं।	सन्त — तीर्थ यात्री — अबरार — महा पुरुष — वली
४		मस्त	ईश्वर में निमग्न तीर्थ यात्री कभी चौथी भूमिका पर नहीं होते।	महान् आत्मा — अब्दल — अख़्यार — महात्मा
३	सूक्ष्म लोक — आलम-ए-मलाकूत — प्राण भुवन			समान
२			पथ पर तीर्थयात्री — रहरवां	सालिक — उन्नत तीर्थ यात्री
१				प्रारम्भिक तीर्थ यात्री
०	स्थूल लोक — आलम-ए-नासूत — अन्न भुवन	ईश्वरोन्मत्त — दीवाना अल्लाह	तालिब — खोजी	हवा — व्यक्ति न तो पथ पर और न उससे दूर

अध्यात्म मार्ग — पथ — तरीक़त — धर्म शास्त्र — कर्म-काण्ड — शरीयत — पथिक — साधक

(S) (S) (S) अधिकांश मानवता (माया के बन्धन में आत्मायें)

कारण शरीर — जिस्म-ए-अल्ताफ़ — कारण शरीर

सूक्ष्म शरीर — जिस्म-ए-लतीफ़ — सूक्ष्म शरीर

स्थूल शरीर — जिस्म-ए-कसीफ़ — स्थूल शरीर

निश्चिततायें	अस्तित्व	अभिव्यक्तियाँ	एक रूपतायें	आत्मायें	पहलू	शक्ति ज्ञान आनन्द
दृष्टि की निश्चितता — ऐन-उल-यक़ीन	असम्भव अथवा अभावात्मक अस्तित्व — मुमतान-उल-वुजूद	तीसरी अभिव्यक्ति — तजल्ली-ए-सोयम	गुणों की एकरूपता — तौहीद-ए-सिफ़ाती	स्फूर्तियुक्त आत्मा — नफ़्स-ए-मुलहिमा	प्रेमी — आशिक़	कारण जगत् अभिव्यक्तियाँ — विचारों और भावनाओं का कर्त्ता और नियंता (शक्ति का अभाव)
पथ पर ऊपर पाँचवीं भूमिका के आद्योपान्त निश्चितता			भावनाओं की एकरूपता — तौहीद-ए-अह्‌वाली	आनन्द मय आत्मा — नफ़्स-ए-मुतमईना	ज्ञाता — आरिफ़	
यक़ीन-उल यक़ीन	संभव अस्तित्व — मुमकिन-उल-वुजूद	चौथी अभिव्यक्ति — तजल्ली-ए-चहारूम	कर्मों की एक रूपता — तौहीद-ए-अफ़ाअली	तिरस्कृत आत्मा — नफ़्स-ए-लव्वामा	प्रशंसक — वासिफ़	सूक्ष्म जगत अभिव्यक्तियाँ (शक्ति)
बौद्धिक निश्चितता — इल्म-उल-यक़ीन	आवश्यक अस्तित्व — वाजिब-उल-वुजूद	पाँचवीं अभिव्यक्ति — तजल्ली-ए-पंजुम	वाणी की एकरूपता — तौहीद-ए-अक़वाली	असत् आत्मा — नफ़्स-ए-अम्मारा	हितकारी अथवा दाता — वाक़िफ़	स्थूल अभिव्यक्तियाँ उदाहरणार्थ, मानवी आनन्द मानवी ज्ञान गर्मी अथवा अणु शक्ति

आनन्द — ज्ञान — अनन्त शक्ति

व्याख्या :— –शब्द जिस नम्बर की भूमिका पर लागू होते हैं वे उस नम्बर के दाहिनी ओर पड़े-बल दिखाए गए हैं।
विषय वस्तु की श्रेणियाँ, लम्ब रूप स्तम्भों के लिए, ६ वीं और ७ वीं भूमिकाओं के बीच पड़े-बल सूचित की गई हैं।
टाइप की शैली शब्द के मूल रूप को इंगित करती है, जैसे गूढ़, सूफ़ी, वेदान्तिक अथवा निकट-वेदान्तिक।

इस चार्ट का मूल आलेख एल. डिम्फिल ने २५ अक्टूबर १९६४ को डाक द्वारा भेजा था।
मेहेर बाबा द्वारा उसका पुनर्निरीक्षण और संशोधन हो जाने के बाद, वह एल. डिम्फिल को एरच बी० जसावाला द्वारा १२ अप्रैल, १९६६ को वापस भेज दिया गया था।

ईश्वर – वाणी

मेहेरबाबा कृत

पुनरीक्षित एवं परिवर्धित

अब तक कोई ऐसा दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ जो पाठक को जीवन और विश्व के मूल तत्वों में इतनी अधिक गहराई से ले जाता हो । ईश्वर–वाणी आत्मा की यात्रा का, उसकी 'सृष्टि' से लेकर उस समय तक जबकि उसने चेतना के विकास और प्रतिवर्धन की क्रिया में अपना कार्य पूरा नहीं कर लिया है और परमात्मा तक वापिस नहीं पहुँच गया है जिससे उसकी मूल उत्पत्ति हुई थी, एक सूक्ष्म विस्तृत वर्णन है ।

विकासमय ढाँचे में प्रत्येक स्थिति के सार का वर्णन अनेक दृष्टि–कोणों से किया गया है; और मार्ग में कुछ खास कदमों की विशेषताओं और कठिनाइयों पर विस्तार के साथ विचार किया गया है । ईश्वर–वाणी का अध्ययन करने में पाठक को दृष्टिकोण के एक असीमित विस्तार का आशय मिलता है जिसमें विश्व के सब महान धर्मों के उपदेश शब्दशः "एक धागे में पिरोयी हुई गुरियों के समान" पिरोये गये हैं; प्रत्येक धर्म के विशेष ज्ञानों को सृष्टि के लक्ष्य के बोध्य वर्णन में मिलाकर एक किया गया है, और युगों के देवदूतों के उपदेशों की खास बुनियादी गलतफहमियों को कुशलता के साथ संशोधित किया गया है, जिससे मनुष्य की मूलोत्पत्तियों और प्रारब्ध का एक अटल, मौलिक ढाँचा उभर कर ऊपर आता है ।

दर्शनशास्त्र और धर्म के विधार्थियों को इसमें पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी जो बिल्कुल नवीन है अथवा जो पहले, केवल बहुत खण्डित रुप में, आगे आई थी । मेहेरबाबा पूर्व बिखरी धारणाओं की शुद्धता और स्पष्टता के साथ व्याख्या करते हैं । विकास और चेतना के सम्बन्ध में वह कहते हैं, "यह सदैव याद रखना अच्छा होगा कि चेतना में आदि एक आदि है, चेतना में विकास एक विकास है, अन्त, यदि कोई अन्त है, तो वह चेतना में एक अन्त है ।"

ग्रन्थ का अध्ययन कर लेने पर, पाठक को यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि उसने सचमुच ईश्वर की वाणी सुनी है, चाहे वह जिस क्रियाविधि से पूर्ण हुई हो ।

केवल एक ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त प्राणी को ही सृष्टि के प्रयोजन और जीवन के उद्देश्य के विषय पर ईश्वर–वाणी के समान ग्रन्थ लिखने का ज्ञान, गहराई और तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त होते हैं । मेहेरबाबा उन पूर्ण पुरुषों में से एक दुलर्भ पुरुष थे जो उस समय प्रकट होते हैं जब कभी विश्वव्यापी संकट



Chase Studios, Ltd., Washington

Meher Baba, 1956

ईश्वर-वाणी

सृष्टि और उसके प्रयोजन का विषय

मेहेर बाबा कृत



मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ God Speaks के द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण का हिन्दी अनुवाद।

अनुवादकर्त्ता—
केशव नारायण निगम
बी० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक :
प्रहलाद सिंह
मेहेरधाम, नौरङ्गा (राठ)
जिला हमीरपुर (उ० प्र०)
भारत

तृतीय **हिन्दी संस्करण १०००**
दिसम्बर 2009

मुद्रक : शिवम् आर्ट्स, निशातगंज, लखनऊ। दूरभाष : 0522-2782348, 0522-2782172

समर्पण

विश्व के प्रति–
माया के प्रति जो सत्य को
धारण किये रहती है ।

दो शब्द

प्रियतम बाबा ने इस युग को **ईश्वर-वाणी** (*GOD SPEAKS*) नामक ग्रन्थ एक अद्वितीय देन के रूप में प्रदान किया है और इस बेजोड़ ग्रन्थ में उनका मौन बोल रहा है।

इस ग्रन्थ में परमात्मा की मौन स्थिति से उत्पत्ति का प्रवाह प्रदर्शित किया गया है जो प्रवाह क्रमश: ध्वनि प्राप्त करता है और अन्त में प्रवाह में बहने वाली बूंदें ध्वनि को निरर्थक जानकर मौन की ओर मुड़ती हैं तथा ध्वनि से मुक्त होकर मौन में समा जाती हैं, जहाँ निरन्तर परमानन्द है।

अतएव प्रियतम बाबा के मौन से उद्धृत **ईश्वर-वाणी ग्रन्थ** किसी भी तुलना के परे है और यही कारण है कि प्रियतम बाबा ने इस ग्रन्थ के बारे में बारम्बार कहा है :—

"मेरी इच्छा है कि इस ग्रन्थ का अनुवाद सब भाषाओं में हो जाय और मेरा प्रत्येक प्रेमी इसे अवश्य पढ़े। चाहे इसे कोई समझे या न समझे, किन्तु इसे पढ़े, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि इसे पढ़ना आवश्यक है।"

इसलिये इस ग्रन्थ को भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित करना हमारा कर्तव्य है और यदि हम अपने इस कर्तव्य का पालन करते हैं तो प्रियतम बाबा की इच्छा का अनुसरण करते हैं।

यह प्रसन्नता की बात है कि बाबू रामप्रसाद अपने समस्त बाबा-प्रेमी जनों के साथ इस ग्रन्थ को हिन्दी में प्रकाशित करने का प्रयास कर रहे हैं और मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी जगत के प्रेमी उन्हें इस महत्वपूर्ण कार्य में अपना पूरा सहयोग प्रदान करेंगे।

अहमदनगर — **भाऊ कलचुरी**

दिनांक ६ सितम्बर, १९७८

प्रथम संस्करण का पूर्व-कथन

इस ग्रन्थ के लिखने और सम्पादन करने में अनेक बातें आ गई हैं जिन्हें कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

मेहेरबाबा ने इस ग्रन्थ के भाग १ से ८ तक, दी गई मौजूदा बातों का पूरा भाग अपनी वर्णमाला पट्टी के द्वारा लिखवाया है।

भाग ९ और १०, **"परमात्मा की दस अवस्थायें"** और "उपसंहार" एरच वी० जसावाला ने मेहेरबाबा की लिखाई हुये टीपों का विस्तार करके लिखे थे, और वे पहले के भागों का सारांश हैं जो मेहेरबाबा ने सीधे सीध लिखाये थे।

सम्पादकों ने मेहेरबाबा के पहले प्रकाशित किये गये तथा अप्रकाशित दोनों कथनों का उपयोग करते हुये, और साथ साथ पूर्व के महान रहस्यवादी कवियों की रचनाओं के स्वतन्त्र रूप में अनुवादित व्याख्यात्मक अन्श उद्धृत करते हुये, पृष्ठों के नीचे विशेष टीपें जोड़ दी हैं। इसके अतिरिक्त, ग्रन्थ के पृष्ठों के नीचे दी गई अनेक टीपों में और **पूरक** में उन टीपों को शामिल किया गया है जो मेहेरबाबा के कुछ शिष्यों ने लिख ली थीं, जिनमें मेहेरबाबा के सूफ़ी शिष्य स्वर्गीय डाक्टर अब्दुल गनी मुन्सिफ़ सम्मिलित हैं जो बाबा के साथ २५ वर्ष से अधिक समय तक रहे थे और वे टीपें बाबा की व्याख्याओं पर आधारित हैं और बाबा की अनुमति लेकर उनका प्रयोग किया गया है। "ऊर्ध्वगामी आत्मा" (*Ascending Soul*) शीर्षक फ़ारसी कविता का अनुवाद जो पृष्ठ ३६ पर दिया है, वह रेनाल्ड ए० निकोलसन कृत ग्रन्थ **"रूमी, पोयेट ऐण्ड मिस्टिक"** से पुनः उद्धृत किया गया है; इस ग्रन्थ का प्रकाशन "जार्ज ऐलेन ऐण्ड अनविन लिमिटेड" ने किया था। भूमिका के पृष्ठ पर उद्धृत किया गया भगवद्गीता का अंश सर एडविन अर्नाल्ड की "दि साँग सेलेस्टियल" नाम की पुस्तक से उद्धृत किया गया है, जो रूटलेज ऐण्ड केगन पाल लिमिटेड ने प्रकाशित की थी। इन अनुवादों को उद्धृत करने की अनुमति प्रदान करने के लिये हम उपर्युक्त प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रगट करते हैं। **गाड स्पीक्स** में दी गई सम्पूर्ण बातों

को मेहेरबाबा ने सावधानी के साथ संशोधित कर दिया है और उन्हें प्रकाशित करने की स्वीकृति दे दी है।

मौजूदा सम्पादकों का कार्य मूलरूप से कुछ खास यांत्रिक विवरणों को हाथ में लेने का रहा है, जो किसी भी कृति को प्रकाशन के लिये अन्तिम रूप देने में आवश्यक होते हैं। यदि इस ग्रन्थ के लेखक ने सम्पादकों से ऐसा करने की प्रार्थना विशेषरूप से न की होती तो उन्होंने ऐसी मौलिक कृति के सम्बन्ध में इस छोटे कार्य को भी हाथ में न लिया होता।

सम्पादकों के सूफ़ीज्म रिओरियेन्टेड से व्यक्तिगत सम्बन्ध रखने का ग़लत अर्थ उन चन्द लोगों को न लगाना चाहिये जिन्हें उनके उस सम्बन्ध का ज्ञान है। मेहेरबाबा की घोषणायें सदैव साम्प्रदायिक उद्देश्य अथवा पक्षपात से रहित हुई हैं। उन्होंने बहुधा इस आशय के सीधे कथन किये हैं कि वह सब "वादों" (*isms*) (सूफ़ीवाद, वेदान्तवाद, ईसाई-वाद, ज़रतोस्तवाद, बुद्धवाद; इत्यादि), धार्मिक एवं राजनैतिक दलों की प्रशंसा उनकी अनेक अच्छी बातों के लिये करते हैं जो वे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु वह उनमें से किसी से सम्बन्ध नहीं रखते और न रख सकते हैं। वह मानते हैं कि **परम सत्य** इन सबको अपने में धारण करता है और इन सबके परे होता है, और उनका कार्य व्यापार इन सब ईश्वरीय मार्गों से पृथक् होता है, और वह इन ईश्वरीय मार्गों के अनुयायियों को उनके यथार्थ अर्थ एवं सच्ची भावना की जागृति प्रदान करता है। "समस्त जीवन की एकता (*Unity*) अखण्ड और अविभाज्य होती है। वह सब मतभेदों के बावजूद अभेद्य और अजेय बनी रहती है।"

पाठकों को शीघ्र ही इस बात का ज्ञान होगा कि **गाड स्पीक्स** ग्रन्थ के असंख्य अन्श स्पष्टरूप से बार-बार दोहराये गये हैं। यदि इस ग्रन्थ का मन्तव्य प्रचलित संस्कृति के किसी न्याययुक्त सुपरिचित सूत्र को स्पष्ट करने का अथवा पुन: वर्णन करने का होता, तो शायद यह वांछनीय होता कि इस कृति को सादी न्याययुक्त श्रेणी में व्यवस्थित किया जाता और विषय को संक्षिप्त पूर्णता के साथ उजागर होने दिया जाता। तथापि, **गाड स्पीक्स** न केवल आध्यात्मिक सत्य की अनेक पूर्व धारणाओं के अंशों को चुनता है और उन्हें तरतीबवार एवं परस्पर अनुरूप रीति से व्यवस्थित करता है, बल्कि वह समूचे विषय को कई डग आगे को ले जाता

है, उसकी अपेक्षा आगे ले जाता है जिसका अस्तित्व इतिहास में है और वह विचार के अनेक नये तथा विस्तृत नमूने स्थापित करता है।

इसको कारगर रूप से करने के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विषय की सामग्री को कई दृष्टिकोणों से और बढ़ते हुये मनोभाव की वृद्धि के साथ बार-बार देखा जाय। इन विविध परिस्थितियों में दृष्टान्तचित्र और उपाख्यान बहुधा दुहराये गये हैं जिससे प्रत्येक भाग आत्म-परिपूर्ण हो सके, और इस प्रकार पाठक को पिछले अन्शों के विवरणों का उल्लेख बाद के प्रसङ्गों में करने की आवश्यकता न रहे।

......यद्यपि यह पहलेपहल एक छोटी बात मालूम पड़ेगी, तथापि इस ग्रन्थ का सम्पादन हाथ में लेने में सबसे अधिक कठिन प्रश्नों में से एक, शब्दों को बड़े अक्षरों में लिखने के लिये एक उपयुक्त नीति क़ायम रखने का रहा है। विशिष्ट नामों, दैव और उसके निकटतम गुणों के ऐसे प्रयोग को सुरक्षित करने के लिये सामान्य विधि, एक ऐसी कृति में जिसका मुख्य विषय सकल सृष्टि की दिव्यता है, एक दुःखद भ्रमजाल में पड़ जाती है। नितान्त शाब्दिकरूप में ऐसी विधि स्थापित करने के फलस्वरूप बड़े अक्षरों की एक बाढ़ आ जायगी जो न केवल ऐसे विषय पर ज़ोर देने में सहायक होंगे बल्कि पाठक की प्रगति में बाधक होंगे।

यह विषय उस सूक्ष्म रीति से और भी अधिक चक्कर में डालने वाला हो जाता है जिस सूक्ष्म रीति से मेहेरबाबा पाठकों की चेतना ईश्वर की अप्रगट अवस्थाओं की कल्पना से धीरे-धीरे खींचते हैं और उसको उन्नति के उन दर्जों तक ले जाते हैं जिनमें व्यक्तिगत हुई आत्मा ईश्वर से अपने मूलभूत सनातन ऐक्य का साक्षात्कार करने से प्रत्यक्षरूप से अत्यन्त दूर होती है। विकास की ऐसी प्रगति के दौरान में, जिसका अन्त **पिता** परमात्मा से पूर्ण मिलन प्राप्त होने में होता है, अक्षरों को बड़ा बनाने की नितान्त विवेकपूर्ण नीति प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध नहीं है, इसलिये इस कृति के सम्पादकों ने ईश्वर और उसके निकटस्थ गुणों को बड़े अक्षरों में लिखने के अधिकतर सम्भव प्रयोग को अपनाया है, और उसके बाद उन्होंने बड़े अक्षरों का प्रयोग मूलरूप से ज़ोर देने के प्रयोजन के लिये किया है और पाठकों को उच्चतर दशाओं से सम्बन्धित भूमिकाओं तथा अधिकतर स्थूल भूमिकाओं (अर्थात् अणुशक्ति से तुलना की गई सूक्ष्म भूमिकाओं की शक्ति) के बीच का अन्तर शीघ्र समझ लेने में सहायता करने के लिये किया है।

ऐसी ही समस्याओं का सामना विराम चिन्हों का प्रयोग करने की एक यान्त्रिक रीति से हुआ था। जटिल विषयों में, जो मेहेरबाबा ने सूक्ष्म विवरणों को स्पष्ट करने के लिये छाँटे हैं, विराम चिन्हों के अत्युत्तम नियमों का कड़ाई के साथ पालन करने के फलस्वरूप अर्द्ध विरामों (,), कोलनों (:), डैशों (—) और सेमी-कोलनों (;) की प्राय: एक न समझने योग्य खिचड़ी पैदा हो जायगी। अत: इस स्थल पर सम्पादकों ने पुन: एक वाक्य के भीतर, जब तक कि विचार का प्रवाह सहज गति से चलता रहा है, विराम चिन्हों को छोटी सी छोटी बातों में लगाने के प्रयोग को जानबूझकर त्यागने की स्वच्छन्द नीति अपनाई है।

अनेक उदाहरणों में मेहेरबाबा ने एक ख़ास कल्पना प्रगट करने के लिये शब्द गढ़े हैं। यह बात अधिक वांछनीय मालूम पड़ी है कि बदले में सु-समयानुकूल शब्दों का प्रयोग करके, जो गढ़े गये वाक्य खण्डों का अर्थ स्पष्ट करते हैं, इस कृति को अधिक रूढ़ बनाने की अपेक्षा बाबा के अभिप्राय की सही समझ प्रदान की जाय। वाक्य का उल्टा और जटिल ढाँचा भी असंख्य उदाहरणों में त्याग दिया गया है जहाँ ढाँचे के पुन: उल्टने अथवा वाक्यों को छोटा करने के फलस्वरूप सम्भावित दोहरे अर्थ अथवा विचार प्रवाह का खण्डन पैदा होता मालूम पड़ता था।

संक्षेप में, सम्पादक का कार्य यह है कि वह कृति को परम्परागत प्रयोग और तत्पर एकीकरण के लिये करे। जहाँ कहीं भी वर्तमान सम्पादकों को यह बात इस कृति के अधिकांश उद्देश्य से बेमेल मालूम पड़ी है, वहाँ उन्होंने परम्परागत प्रयोग और शैली की सादगी को अभिप्राय की विशिष्टता के लिये खुशी से त्याग दिया है।

पाठकों को इस बात से ख़बरदार किये बग़ैर यान्त्रिक पहलू को छोड़ देना काफ़ी न होगा कि अधिकांश लेखक *"Knowledge"* (ज्ञान) और *"Wisdom"* (बुद्धिमत्ता) शब्दों में अन्तर करते हुये बुद्धिमत्ता शब्द को अधिक मूल्यवान अथवा आध्यात्मिक कार्य निर्दिष्ट करते हैं। मेहेरबाबा इन शब्दों में ऐसा कोई विभेद नहीं करते और वह *"Knowledge"* (ज्ञान) शब्द को "यथार्थ ज्ञान" के अर्थ में प्रयोग करते हैं।

इस ग्रन्थ पर प्रगाढ़ ध्यान एकाग्र करने के पश्चात् कुछ पाठक सीमित और असीमित के विषय पर मेहेरबाबा के दृष्टिकोण के सम्बन्ध

में अपना ज्ञान बढ़ाने की इच्छा कर सकते हैं। अतिरिक्त मूल्यवान सामग्री मेहेरबाबा के **उपदेशों** *(Discourses)* के पाँच भागों में मिलेगी, जिन्हें मेहेर पब्लिकेशन्स अहमदनगर, भारत,* ने प्रकाशित किया है, और साथ-साथ वह मेहेरबाबा के पूर्व-कथन में मिलेगी जो उन्होंने डाक्टर विलियम डङ्किन के ग्रन्थ "दि **वेफेयरर्स**"‡ के लिये लिखी थी, और उस ग्रन्थ के अध्याय १ में भी मिलेगी।

वाशिंगटन, डी० सी०
२३ जनवरी, १९५५

आइवी ओ० ड्यूस
डान ई० स्टीवेन्स

---

* सूफ़ीज्म रिओरियेण्टेड, इनकार्पोरेटेड, १९६७ द्वारा ३ भागों में पुनः प्रकाशित की गई है।

‡ सूफ़ीज्म रिओरियेण्टेड, इनकार्पोरेटेड, १९६९ द्वारा पुनः मुद्रित।

प्रथम संस्करण की भूमिका

परमात्मा मेरे सामने कभी नहीं बोला, परन्तु मुझे दृढ़ विश्वास है कि मैंने उसको मनुष्य रूप में कार्य करते देखा है। मैं केवल उसी रीति से क्रिया और प्रतिक्रिया की अद्भुत सूक्ष्म ग्राह्यता समझा सकता हूँ जिसे मैंने मेहेरबाबा की विशेषता के रूप में देखा था, जिस समय मैंने मेहेरबाबा को पहिली बार उन संक्षिप्त अवधियों में एक शनिवार को तीसरे पहर न्यूयार्क में क्रियाशील देखा था।

वह सत्य के एक साधक की कहानी बतला रहे थे जो अपने शिक्षक द्वारा स्वीकार किये जाने के पहले चरमसीमा की स्वेच्छाचारिता और कठोरता की क्रियाओं को सहन करने के लिये आमन्त्रित किया गया था। जब मेहेरबाबा की अँगुलियाँ वर्णमाला तख्ती पर चल रही थीं जिसका प्रयोग वह अपने विचार प्रगट करने के लिये करते हैं, और जब उनके हाथ बीच-बीच में संक्षिप्त संकेत करने के लिये उठ रहे थे, तब मैं कहानी में तल्लीन होने की अपेक्षा कहानी बतलाने वाले में और कहानी बतलाने के ढँग में और भी अधिक तल्लीन था।

मैंने एक ओर बैठे हुये तथा मेहेरबाबा की दृष्टि की कतार के बाहर बैठे हुये अपना हाथ बिल्कुल अनिच्छापूर्वक ऊपर को उठाया और उसमें अँगूठे तथा तर्जनी अँगुली से पूर्णता के युगों-पुराने चक्र का संकेत किया। जैसे ही मैंने यह करना शुरू किया मैं यह देखकर उत्साहित हुआ कि मेहेरबाबा ने अपनी पूरी चितवन मेरे ऊपर डाली और ख़ुद अपना हाथ ऊपर उठाकर उसी प्रकार का संकेत किया। मानव प्राणियों को अपने बन्धुप्राणियों की भावनाओं का बहुधा भान नहीं होता, उनके प्रति सूक्ष्मरूप से सहानुभूतिपूर्ण होने की बात क्या कही जाय, और मुझे किसी ऐसे व्यक्ति के निकट होने में आश्चर्य हुआ जिसमें भावना की ऐसी सूक्ष्म ग्राह्यता भरी थी।

मैं उस कहानी को भूल गया था जब तक कि बाबा दिन का काफ़ी भाग गुज़र जाने पर ऊपर ले जाने वाली लिफ्ट की ओर जा रहे थे, और जब मैं उनके रास्ते की बग़ल में लोगों की भीड़ के बीच खड़ा था

तब मैंने उसी प्रकार का संकेत करने के लिये अपना हाथ फिर से उठाया, लेकिन अब वह जानबूझ कर इस आश्चर्य के साथ उठाया गया था कि क्या वह कम सम्भावित स्थिति में भी जिसमें मैं था मेरे संकेत को समझ जायँगे। पुनः जब मैंने संकेत करना आरम्भ किया तो उन्होंने घूमकर मेरे पूरे चेहरे को देखा और अपना प्रत्युत्तर पुनः दिया। इस बार जो चीज़ अकथनीय दृश्य का रूप धारण करने लगी उससे मैं हर्षित होने की अपेक्षा और भी अधिक आश्चर्यचकित हुआ। जब मेहेरबावा आगे चलते हुये हॉल के भीतर गये और अन्ततः लिफ्ट के दरवाज़े से होकर गुज़र गये मैंने पूर्णता के चक्र का संकेत करने के लिये अपना हाथ तेज़ी से तीसरी बार ऊपर को उठाया। इस बार उन्होंने अपने पूरे शरीर को मोड़ दिया और जानबूझकर अपना प्रत्युत्तर पुनः दोहराया।

मुझे ऐसा महसूस नहीं होता कि सृष्टि के मूल उद्देश्य और उसकी यन्त्र-रचना जैसे महत्वपूर्ण विषय का, और उस लेख के लेखक का, परिचय देने के लिये यह एक तुच्छ घटना है। मेहेरबाबा स्मरणीय हैं तथा अतिशय सन्तोषप्रद हैं, इसलिये नहीं कि वह दर्शन-शास्त्र और विश्वव्यापी यन्त्र-रचना के प्रदेश में निःसन्देह असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न हैं, वरन् इसलिये कि उनमें मनुष्य के हृदय को उत्साहित करने की क्षमता है जैसा करने की क्षमता कदाचित् किसी अन्य प्राणी में नहीं है।

अन्त में हममें से प्रत्येक सन्तोष और शान्ति की एक गहरी आन्तरिक भावना की खोज कर रहा है, किसी उपस्थिति में समाविष्ट होने की भावना की खोज कर रहा है जो विश्वसनीय एवं प्रेममयी हो, और हमारी अन्तरतम आवश्यकताओं के प्रति सहज ज्ञान तथा अनुकूल प्रतिक्रिया की खोज कर रहा है। इस सब के ऊपर, हमें खुद (*ourselves*) अपनेआप होने की आवश्यकता है और स्वयं अपने लिये पूर्णरूप से स्वीकार किये जाने की आवश्यकता है। मेहेरबाबा तमाम लोगों के अन्दर से जो गहरी प्रतिक्रिया बाहर निकालते हैं वह मनुष्य की अत्यन्त गहरी आत्मा के प्रति उनकी अकल्पित ग्रहण क्षमता के कारण है।

इसके अतिरिक्त, बहुत अधिक आश्चर्यजनक प्रकार की तमाम चीज़ें हैं जो मैं उस विशाल ज्ञान-भण्डार से गिना सकता हूँ जो ४० वर्ष की अवधि में इस महान हस्ती के चारों ओर संचित हो गया है, जब से उसको अपनी मौजूदा ऊँची आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त हो गई थी।

किन्तु वे सब चीजें एक केन्द्रीय विषय को—अर्थात् न केवल मेहेरबाबा की समझने की पूर्ण क्षमता को, वरन्, कुछ रीति से, मनुष्य की स्वयं आत्मा होने को, जटिल बना देंगीं। मुझसे ऐसे अद्भुत दृश्य का वर्णन करने और उसको समझाने के लिये न कहिये। विश्वास करने के लिये उसका अनुभव करना आवश्यक है।

ऐसा भी हो, तो मनुष्य को ऐसी आशा करनी होगी कि कल्याण की ऐसी भावना उसका मूल हट जाने के बाद धीरे-धीरे क्षीण हो जायेगी। अति हर्ष से भरा अनुभव भी सामान्यरूप से क्षीण हो जाता है और एक स्मृति बन जाता है, जिस प्रकार बुरा स्वप्न भी क्षीण हो जाता है। तथापि, इसमें ऐसे प्राणी से सम्पर्क होने का एक अन्य रहस्य निहित होता है जो समझाया नहीं जा सकता। जब मैं एक व्यस्त घटनापूर्ण सप्ताहान्त व्यतीत करने के बाद वायुयान पर बैठा हुआ अपने घर जा रहा था, मैंने सत्यता के अपने सामान्य सन्दर्भ में वापिस होकर पुनः छानबीन करनी शुरू कर दी। अपने मन में भरी अपनी एक या दो परेशानियों की ओर मुड़ने पर मुझे यकायक अनुभव हुआ कि वे अब मुझको परेशान न कर रही थीं।

अविवेकपूर्ण निष्कर्षों से आसानी से भयभीत न होने के कारण, मैंने अन्य अनेक कठिनाइयों के नमूने निकाले और मैं यह मालूम करके बिल्कुल आश्चर्यचकित हुआ कि मैं कुछ उदाहरणों में ऐसे उत्तर देख सकता था जैसे मैंने पहले न देखे थे, और अन्य उदाहरणों में मैं विक्षोभ की कोई भावना न पकड़ सकता था। मैं स्पष्टरूप से कहता हूँ कि, जैसे ही मैं पुनः घर पहुँचकर व्यवस्थित हुआ मैं इन कठिन विषयों के साथ अपने नित्य दुखदायी सम्बन्ध को पुनः नवीन करने की पूरी आशा करता था, किन्तु जैसे-जैसे दिन और सप्ताह और महीने और अन्ततः वर्ष बीतते गये वैसे ही वैसे मुझे अनुभव होने लगा कि ऐसे मनुष्य की सङ्गति में व्यतीत हुये एक संक्षिप्त सप्ताहान्त ने भी मेरे भावात्मक अङ्ग में प्रमुख आपरेशन कर दिया था और मेरी परेशान होने की क्षमता को नष्ट कर दिया था।

मैं इन घटनाओं का वर्णन अभिमान की भावना से नहीं कर रहा और न डुग्गी पीटने की भावना से कर रहा हूँ। दो घटनायें हैं जो खुद मेरे जीवन में घटित हुई थीं, और उनको उस छोटे ढाँचे से त्याग देने की मेरी असावधानी होगी जिसका निर्माण निम्नलिखित पृष्ठों में

रची गई सर्वोच्च चित्रकारी के चारों ओर करने का भार मुझे सौंपा गया है। मुझे दृढ़ निश्चय है कि मैंने अपनी जानकारी में परमात्मा को बोलते हुये नहीं सुना, किन्तु मुझे दृढ़ निश्चय है कि मैंने अपने जीवनकाल में परमात्मा को कार्य करते हुये देखा है।

मेहेरबाबा ने अपने ग्रन्थ **गाड स्पीक्स** के शीर्षक का चुनाव करने में संक्षिप्तरूप से प्रमुख विषय को बतलाया है जो उन्हें विशद रूप में समझाना है, और साथ-साथ ऐसे विषयों पर जो इस युग के अत्यन्त उन्नत व्यक्तियों के द्वारा ही वर्णन किये जा सकते हैं, अधिकारपूर्वक बोलने के लिये अपना अधिकार बतलाया है। अपने ग्रन्थ के लिये ऐसा श्रेष्ठ स्रोत सूचित करने के मेहेरबाबा के अधिकार के विषय में वादविवाद करने के पहले, यह अच्छा होगा कि विचारणीय विषय की जटिलता बिल्कुल सादगी के साथ ऐसा कहकर पूर्ण कर दी जाय कि सारी दुनियाँ में मेहेरबाबा के अधिकांश शिष्य और अनुयायी उन्हें युग का **अवतार** मानते हैं। यह बात पश्चिमी शब्दावली में इस प्रकार कही जा सकती है कि वे मेहेरबाबा को अपने युग का **क्राईस्ट** मानते हैं : मोहम्मद, क्राईस्ट, बुद्ध, कृष्ण, राम, ज़ोरास्टर की और अँधेरे भूतकाल के अवतारों की परम्परा का उत्तराधिकारी मानते हैं, और उस अभिन्न प्रकृति के रूप में मानते हैं जिसने उन विशिष्ट और क्रमबद्ध हस्तियों के रूप में पुनः अवतार लिया था।

यदि मेहेरबाबा हमारी सभ्यता के आध्यात्मिक ढाँचे में ऐसा सर्वोच्च पद रखते हैं, तो **सृष्टि** की गहन से गहन रचनाओं के विषय में उनके निश्चितरूप से और अधिकार के साथ बोलने के लिये उनके अधिकार का कोई प्रश्न न रहेगा। किन्तु तब उनके **दैवी स्रोत** का अधिक सरल विषय, दिव्य शासक–मण्डल (*Hierarchy*) की मुख्य भूमिका में—जिसमें अनेक लोग शङ्का करते हैं अथवा स्पष्टरूप से अविश्वास करते हैं—मेहेरबाबा के यथार्थ व्यापार का बहुत महानतर विषय बन जाता है।

हमने दो पैराग्राफों में एक बड़ी भारी और चुनौती देने वाली समस्या का बयान किया है। किन्तु वह ऐसी समस्या है जो हमें भूमिका के लिखे हुये शब्दों की अपेक्षा अन्य साधनों के द्वारा यथार्थरूप में कार्यान्वित करनी चाहिये। अन्त में इस मूल प्रश्न के, क्या कोई दिया गया मनुष्य मसीहा है ?—केवल दो विश्वसनीय उत्तर हैं। व्यक्तिगत उत्तर व्यक्तिगत

सम्पर्क हो सकता है। इस लेख के समय यह अब भी भौतिकरूप से सम्भव है, और तमाम लोगों ने पहले ही इस विषय पर इस प्रत्यक्ष हमले का लाभ उठा लिया है। अनेक लोगों ने अपने प्रश्न के अन्त में उसे स्वीकार कर लिया है, थोड़े से लोगों ने उसे निश्चितरूप से अस्वीकार किया है, और अन्य लोगों ने एक गहरी भ्रान्ति स्वीकार की है जिसमें सुख और दुःख दो प्रमुख अंग हैं, किन्तु उनमें अब भी अन्तिम प्रश्न पर अन्तिम निष्कर्ष तक पचहुँने की प्रत्यक्ष अयोग्यता है।

विस्तृत और दीर्घकालीन उत्तर क्रियाशील हुई शक्तियों का खालिस मूल्य निर्धारण होना चाहिये जो समाज आगामी पीढ़ियों के ऊपर करता है। यदि बोले गये शब्द और अग्रसर की गई धारणायें जीवनशक्ति और यथार्थता में बढ़ती हुई प्रतीत होती हैं, तब मनुष्य अपनेआप सिंहावलोकन द्वारा मान लिया जाता है कि वह अपने युग के लिये दिव्य आकृति का महान मूर्तिकार है।

किन्तु कितनी भी अग्रिम दलील अथवा प्रदर्शन समाज को दृढ़ विश्वास नहीं दिला सकते। यह ऐसा है जैसे कि कल्पनायें स्वयं अपनी जीवनशक्ति लिये रहती हैं और वे संयुक्त करने अथवा अपने उद्देश्य को नष्ट करने के प्रयत्नों की ओर ध्यान न देकर जाति की सम्पत्ति एवं सांकेतिक शब्द बन जाती हैं।

तथापि, अनेक लोगों के लिये व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने के लिये अथवा शरीररूप से स्वीकार करने या अस्वीकार करने के लिये अवसर न रहेगा। और चूंकि ये घटनायें हमारे युग में हो रही हैं, अतः हममें से कोई भी उस मूल्य निर्धारण से एकमत होने पर भरोसा नहीं कर सकता जो समाज आगामी पीढ़ियों के ऊपर कर चुका होगा। तब इन लोगों के लिये, जो ऐसी स्थिति में हैं, यह आवश्यक है कि वे अनुसरण करें, चिन्तन करें और खुले मन से रुचिकर बनावें क्योंकि यहाँ **सत्यता एवं यथार्थता** का एक महान भण्डार-गृह हो सकता है जिसकी खोज हममें से हरेक जीवन पर्यन्त करता है। यह आवश्यक नहीं है कि स्वीकृति या अस्वीकृति का संकटकाल पैदा किया जाय, वरन् यह आवश्यक है कि वर्णन की गई कल्पनाओं को मनुष्य के मन की कड़ाही में धीरे-धीरे पकते रहने दिया जाय। धीरे-धीरे मनुष्य की पर्याप्त होने की निजी गहरी भावना, और साथ-साथ स्वयं जीवन की निपट यथार्थता, वर्णन किये गये खाके का समर्थन करेंगीं या खण्डन करेंगीं।

पाँच वर्ष की अवधि में जो उस समय के बीच वीत गई जिसमें मुझे सबसे पहले इस तथ्य का भान हुआ कि कोई व्यक्ति अस्तित्व में था जिसका नाम मेहेरबाबा था, और न्यूयार्क में पहली बार उनसे मेरे मिलन के दौरान में मुझे प्रश्न करने के लिये और बग़ावत करने के लिये और मेहेरबाबा के जीवन के कितने ही विवादपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में "बस मैं नहीं जानता" के स्वाभाविक बिन्दु पर वापिस आने के लिये काफ़ी अवसर प्राप्त था। मेहेरबाबा स्वीकार किये जाने अथवा अस्वीकार किये जाने के लिये आसान व्यक्ति नहीं हैं।

मेहेरबाबा को क्रियाशील देखने के लिये अपने अनेक सुअवसरों समेत एक सप्ताहान्त का समय मुझे यह दृढ़ विश्वास दिलाने के लिये काफ़ी था कि वह सौम्य विनोदभाव से युक्त सर्वश्रेष्ठ कहानी बतलाने वाले (यहाँ तक कि एक वर्णमाला तख्ती के विघ्न के माध्यम से भी) थे जिनके सरीखे व्यक्ति से मेरा सामना कभी न हुआ था; वह सर्वश्रेष्ठ व्यापारी मन वाले थे जैसा मुझको भारी व्यवसाय में कार्य करते हुये बीते जीवन में ज्ञात न हुआ था; सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी थे जैसा मुझको कभी न मिला था, और अत्यन्त ग्रहण-क्षमता से सम्पन्न मानवी एवं प्रेमपूर्ण व्यक्ति थे जिसकी संगति का आनन्द रस मुझे कभी न मिला था।

ये चीज़ें निश्चितरूप से गुणों का काफ़ी महान संचित समूह हैं, किन्तु आप तत्काल आपत्ति करते हैं कि सीमित गुणों का योग कभी असीमितता पैदा नहीं कर सकता। क्या मैंने निर्णय कर लिया था कि वह सचमुच इस युग के अवतार थे ?

मैं स्पष्टरूप से बतलाता हूँ कि मुझे इसकी धुँधली से धुँधली कल्पना नहीं है, और मेरे मत में यह प्रश्न असंगत है। मुझे दृढ़ निश्चय है कि मुझे अवतारपन के गुणों एवं उपलब्धियों का निर्णय करने के लिये कोई साधन प्राप्त नहीं हैं, और इससे आगे मैंने यह पाया था कि मेहेरबाबा उन क्षेत्रों में जिनमें मैं निर्णय करने के लिये अपने को योग्य महसूस करता था श्रेष्ठता के मेरे सब पिछले स्तरों से परे थे। एक बार जब हवाई बाण मेरे भौतिक लोक से छूटकर चला जाता है तो तारागणों से भरे अन्तरिक्ष में उसकी स्थिति को पहिचानने के लिये मेरे पास कोई ठोस साधन नहीं है। किन्तु मैं यह कह सकता हूँ कि स्वयं मेरा अन्तर्ज्ञान मुझे बतलाता है कि उन गहन क्षमताओं से सम्पन्न व्यक्ति पुनः न मिलेगा और

मेरे अन्तस्तल को सन्तुष्ट करने की विलक्षण योग्यता न मिलेगी जो मैंने मेहेरबाबा में पाई थी।

मुझे एक पिछला बयान बरबस याद आता है जो मेरे एक खोजी साथी ने कुछ वर्ष पहले यथार्थ क्राईस्ट के विषय में हुये एक प्रतिभाशाली वादविवाद को सुनने के बाद दिया था, जिस वादविवाद का विषय मोरमोन चर्च के एक संचालक ने दिया था। उसने कहा था, "मेरे मन में एक विचार है कि यदि आज क्राईस्ट पृथ्वी पर होते तो प्रायः हममें से कोई भी उनको न पहिचानता और न स्वीकार करता।"

उसके वे शब्द अब मेरे लिये एक विचित्र अर्थ रखते हैं क्योंकि उनमें उनकी ऊपरी सतह पर प्रदर्शित किये गये प्रत्यक्ष मानव विद्वेष की अपेक्षा बहुत गहनतर बातें भरी हैं। हममें से प्राय: कोई भी मेहेरबाबा को न पहिचानेगा, न केवल हमारे पक्के रँगीले पक्षपातों के कारण से बल्कि इस कारण से कि हममें से प्राय: किसी में भी माप के उन भीतरी स्तरों का विकास नहीं हुआ जो ऐसे प्राणी के सही आकार का अनुमान लगाने के योग्य हों। उनकी क्षमता और उनकी ऊँची आध्यात्मिक स्थिति उन सुदूर प्रदेशों में ऊँचे मँड़राते हैं जहाँ उनके पीछे जाने की क्षमता हममें नहीं है। अत: हम नापने में अपनी पराजय स्वीकार करते हैं, भले ही हम अस्वीकार करने के सचमुच अलंघ्य प्रलोभनों से पहले ही पराजित न हो गये हों।

किसी आदमी के सम्भावित आध्यात्मिक चरित्र-बल का अनुमान लगाने में जो सहारा हम बहुधा लेते हैं वह यह है कि हम ढूंढ़ते हैं कि उस मनुष्य ने कितने चमत्कार किये हैं। आप पूछते हैं, "मेहेरबाबा ने अपनी ऊँची आध्यात्मिक स्थिति के समर्थन में क्या चमत्कार किये हैं?" ऐसे चमत्कारों की कई कहानियाँ हैं, और मैंने खुद ऐसी घटनायें देखी हैं जिन्होंने घटनाओं की प्राकृतिक अवस्था के विषय में मेरे स्थिर विचारों को आश्चर्यचकित कर दिया है। तथापि, चमत्कारों का मूल्यांकन प्रारम्भ करना असलियत से बहुत न्यून होगा और सत्यता को तुच्छता से ढाँक देगा। ऊँची आध्यात्मिक स्थिति की आत्मा के अवतरण का महत्व उसमें निहित नहीं होता है जोकुछ वह प्राकृतिक नियम के बाहर प्रत्यक्षरूप से करता है, बल्कि उसमें निहित होता है जोकुछ वह है और जोकुछ वह अपने अन्तर्गत करता है। ऐसा मनुष्य किसी प्रकार यशस्वी प्रदर्शन-व्यक्ति के रूप में, अविश्वसनीय करामातों से लोगों को आश्चर्यचकित करने के

लिये, नहीं आता। ऐसी करामातें केवल मानवजाति को, उनके जीवन के मूल ढाँचे को प्रभावित करने के वजाय, कुछ समय के लिये चक्कर में डाल देंगीं, और वे उनको कोई ऐसा पैमाना न देंगीं जो उनके जीवनों के आधारभूत खाकों को प्रभावित करने के वजाय खुद अपनी उपलब्धियों को नाप सकें, और साथ-साथ वे जीवन की ऐसी रीति प्राप्त करने के लिये किसी मनुष्य की योग्यता की पुनः पुष्टि कर सकें।

आध्यात्मिक जीवन के इतिहास में ऐसे प्रधान पुरुष एक अलौकिक कार्य अपने ऊपर लेते हैं, और वह कार्य यह है कि वे पूर्णता का एक जीता-जागता उदाहरण प्रदान करते हैं जिसे वे सभी प्रतिवन्धों और सीमितताओं के बीच प्रदर्शित करते हैं जिनका सामना हम अधिक सामान्य मानव प्राणियों को करना होता है। ऐसी शक्तियों को आकर्षित करके जो हमारे कार्यक्षेत्र से बाहर हैं, अथवा अनेक प्रतिबन्धों से जिनसे हम संघर्ष करते हैं अबाधित रहकर, ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना स्पष्टरूप से न्याय सङ्गत न होगा और हमें एक ऐसी अवास्तविक योजना से अपने-आपको अलग कर लेने का प्रत्येक अधिकार होगा।

तथापि जब कठोर वास्तविकताओं की विषम दुनियाँ में उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है, जो उन वास्तविकताओं की सभी दशाओं के अधीन होता है और फिर भी वह आश्चर्यजनक रूप से श्रेष्ठ सिद्ध होता है, तब वास्तव में आशा रखने और उसी चीज़ के लिये प्रयत्न करने के लिये कारण होता है। यह ऐसे व्यक्तियों का एक कार्य है। कारगर शिक्षा का एक सर्वश्रेष्ठ स्थापित सिद्धान्त है—भीतरी प्रयोग द्वारा अथवा क्षेत्रीय प्रयोग द्वारा पाठ्य विषय का एक व्यावहारिक प्रदर्शन प्रदान करना। इस बात से किसी को अचरज न होना चाहिये कि **स्वयं परमात्मा** अपनी वास्तविकताओं के प्रदर्शन में इसी प्रकार की अभिन्न प्रक्रिया का प्रयोग करता है।

ये बड़ी भारी चीज़ें हैं जिनका सामना हमसे होता है और हमें उनका मूल्यांकन करने में जल्दबाज़ी न करनी चाहिये।

इस स्थल पर कोई वे परिस्थितियाँ पूछ सकता है जिनके अन्तर्गत **ईश-पुरुष** प्रगट होता है। यह आवश्यकता के एक मूल स्वाभाविक नियम का अनुसरण करता प्रतीत होता है जो सम्भरण और माँग के आर्थिक नियम के सदृश्य है। जब आध्यात्मिक सत्य की मान्यता का धागा झगड़े में पड़ने लगता है, तब परमात्मा का यह पहलू आवश्यकता के प्रति प्रत्युत्तर

देता है, और तब महान **जागृतिकर्त्ता** का जन्म होता है जो मानवजाति को फिर से जगावेगा। इसके फलस्वरूप महान आध्यात्मिक शिक्षकों का अवतरण सदैव दुनियाँ के मामलों में संकटकालों से सम्बद्ध रहा है और उसके पश्चात् किसी क्षेत्र में जो पहले प्रायः ऊसर पड़ा रहा था मानवीय विकास का पुनर्जन्म हुआ है।

यह जान लेना अच्छा है कि जब **अवतार** आता है, तो वह उन नियमों और प्रक्रियाओं के द्वारा जो प्रकृति में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती हैं हमको स्वयं हमारी आत्माओं की वास्तविकता दिखलाने के लिये आता है। यह जान लेना अच्छा है कि ये चीज़ें दूर हटीं, दूसरी दुनियाँ की, पीली और द्वि-परिमाण की होने के बजाय हार्दिक, सहज और कम से कम त्रि-परिमाण की होती हैं। यह जान लेना अच्छा है कि जब एक वास्तविक आध्यात्मिक शिक्षक कोई कार्य अथवा अनुशासन देता है, तो वह कारगर होता है क्योंकि वह उस यन्त्र-विज्ञान के अन्दर गहरी अन्तर्दृष्टि पर आधारित होता है जिसके द्वारा प्रकृति व्यक्तिगत स्वभाव का परिवर्तन तथा उसकी आवश्यकतायें पैदा करती है। तब अध्यात्म, रविवासरों को प्राप्त किया गया और सप्ताह के दौरान में, क्रमशः खोया गया प्रतिबन्धक अनुशासन होने की बजाय दिन-प्रति-दिन के तगड़े जीवन आचरण का एक चुनौती देने वाला मसला बन जाता है।

मेहेरबाबा के इतिहास की विविध ज्वलन्त बातों को उनके स्वभाव के अनेक विवादग्रस्त पहलुओं पर वादविवाद किये बग़ैर स्पर्श करना उचित न होगा। उदाहरण के लिये, वह बहुधा बीच में ही अपनी योजनायें बदल देते हैं, अथवा यह कहते हैं कि वह किसी ख़ास समय पर कोई ख़ास चीज़ करना चाहते हैं और फिर वह उसको देर में करते हैं या उसको प्रत्यक्षरूप में कभी नहीं करते। ऐसे महान पुरुष से निकली हुई यह बात क्या ग़ैरज़िम्मेदारी से भरी और संकुचित दृष्टि से युक्त नहीं है ?

मेहेरबाबा की अचानक योजनायें पलट देने की प्रक्रिया सचमुच विषम है, किन्तु उसके अमूल्य परिणाम होते हैं। जो लोग बाबा के साथ लम्बे समय तक रहे हैं वे प्रायः सारी दुनियाँ में अपनी लोचता और सामंजस्य करने की शक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त निःसन्देह अधिक मूलभूत कारण हैं जिनका वास्ता औसत दर्जे के मनुष्य

की स्वतन्त्र इच्छा की निपट अनिश्चितता से है और साथ-साथ स्वयं हमारे अस्तित्व के अलावा अस्तित्व के स्तरों पर सद्‌गुरु की क्रिया से है।

मुझे यह कल्पना करनी ही पड़ती है कि भौतिक कार्यों की दुनियाँ में सीखे गये सबकों से लेकर आध्यात्मिक विकास के प्रदेश के अन्दर तक ले जाने के लिये एक सीधा मार्ग है। क्या यह सच नहीं है कि ऐसे व्यक्ति को, जो एक निश्चित शारीरिक दिनचर्या में कभी परिपक्व नहीं हुआ, किन्तु जो अपेक्षाकृत चैतन्य और ग्रहणशील है, आन्तरिक विकास में करने के लिये असंख्य परिवर्तनों के प्रति उसी प्रकार की सामंजस्य करने की क्षमता प्राप्त होगी ?

यह तथ्य कि मेहेरबाबा बहुधा उपवास करते हैं अनेक लोगों की समझ में नहीं आता जो बाबा के कार्य करने की रीति से परिचित नहीं हैं। बाबा ने सदैव लगातार छोटी और लम्बी अवधियों तक उपवास किये हैं, और यह पहलू उनके कार्य में शाश्वत एवं महत्वपूर्ण रीति से प्रगट होता है। इसको कभी-कभी लोगों ने ग़लत समझकर स्वयं बाबा के लिये एक अच्छा और पवित्र कर्म माना है, अथवा तपस्या या आध्यात्मिक लाभ के लिये, अच्छा और पवित्र कार्य माना है। किन्तु यह कार्य स्वयं उनके लिये नहीं होता बल्कि भूमण्डल पर उनके कार्य के लिये होता है। जैसा भगवद्‌गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था :—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

अर्थात् "हे अर्जुन ! यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और न किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त ही करना है, तथापि मैं कर्म में ही बर्तता हूँ।"

अध्याय ३ श्लोक २२

मेहेरबाबा का लगभग ३० वर्ष का मौन और अपने भाव प्रगट करने के लिये साधन के रूप में उनके द्वारा वर्णमाला तख्ती का प्रयोग मनुष्य को सामान्यरूप से आश्चर्यचकित करने वाले हैं। अनेक लोग वर्णमाला तख्ती के प्रयोग को निरर्थक मान सकते हैं, और कुछ लोग इसको धोखा भी कहते हैं।

मेहेरबाबा के इस लम्बे समय के मौन धारण करने के कारणों के विषय में बाबा से और अन्य लोगों से कई वादविवाद हुये हैं। मैं इस स्थान पर इसकी सम्भावित विविध व्याख्यायें नहीं देना चाहता, वरन्

इन सबकी अत्यन्त अचरजपूर्ण सत्यता की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। ऐसी कठोर अड़चन के होते हुये भी, जो ऐसी है जैसे किसी मनुष्य का एक हाथ उसकी पीठ के पीछे बाँध दिया गया हो, मेहेरबाबा ने अत्यन्त जटिल कार्यों को सूक्ष्मरूप से और खुद योजित किया है, सैंकड़ों लोगों को सिखलाया है और हज़ारों लोगों को आशीर्वाद दिया है, हाथ में लिये गये कार्यों का संचालन किया है और सुदूर स्थानों में रहने वाले लोगों को प्रसन्न करने वाले शब्द प्रदान किये हैं, और थोड़े से ही समय में इस ग्रन्थ जैसी स्मरणीय कृति "लिखवाई" है।

मेहेरबाबा की पद्धतियाँ बहुधा उत्तेजना पैदा करती हैं। वह ऐसी अनेक चीज़ें करते हैं जो समझ के परे होती हैं, और वह उनको समझाने की परवाह किये बग़ैर खुशी खुशी अपना कार्य करते रहते हैं। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं किसी भी मनुष्य की बहुत प्रशन्सा करता हूँ जो अपने को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिये हर दूसरे कदम पर नहीं बैठता, किन्तु ऐसे व्यवहार के लिये इस रूप में प्रत्यक्षरूप से ठोस कारण हैं कि लगातार समझाने के लिये बिल्कुल समय नहीं है, और न तो सम्भवतः हममें अधिक गूढ़ पहलुओं की व्याख्या को समझने की बुद्धि है यदि वह हमको प्रदान की जाय।

मेहेरबाबा का जन्म पारसी दम्पत्ति से पूना, भारत, में २५ फ़र्वरी १८९४ ई० को हुआ था, और उनके माता-पिता ने उनका नाम मेरवान शेरयार रक्खा था, उनका पारिवारिक नाम ईरानी था। वर्ष १९१४ ई० में महान सूफ़ी सन्त हज़रत बाबाजान ने मेरवान के मस्तक को चूमकर उसे ईश्वर-साक्षात्कार* प्रदान कर दिया। १९१५ ई० में मेरवान अपने दूसरे सद्गुरु उपासनी महाराज से मिले। १९२१ में वह सद्गुरु हो गये। १९२५ ई० में उन्होंने अपना मौन प्रारम्भ किया, और वह अपने विचार प्रगट करने के लिये एक छोटी चौखूंटी तख्ती का प्रयोग करने लगे जिसमें अँग्रेज़ी वर्णमाला के अक्षर अङ्कित हैं। बाबा इस वर्णमाला पट्टी पर अङ्कित अक्षरों के ऊपर अँगुलियाँ रखते हुये तेज़ी के साथ शब्द निर्माण करते हैं। इस समय तक उन्होंने अपने शिष्यों का एक छोटा सा दल

* 'अवतार' यथार्थ में परमात्मा के साथ एक होता है, किन्तु वह भौतिक जगत में एक परदा लेकर आता है जो परिपक्व समय आने पर एक सद्गुरु द्वारा हटा दिया जाता है। बाबा के निमित्त यह कार्य हज़रत बाबाजान ने किया था।

एकत्र कर लिया था जो उनको "मेहेरबाबा" कहकर पुकारते थे। १९३१ ई० में वह पश्चिमी जगत में गये और पश्चिम के साथ अपने प्रथम सम्पर्क स्थापित किये। १९३२ ई० में उनका स्वागत उन अनेक लोगों ने किया जिनको आप और मैं कदाचित हालीवुड के महानतम व्यक्ति समझेंगे। ५८ वर्ष की आयु में ओकलाहोमा में हुई एक भीषण मोटर दुर्घटना में उनकी एक टाँग और एक हाथ टूट गये। अब, ६१ वर्ष की आयु में मेहेरबाबा गतिशील हैं, क्रियाशील हैं, और उनके चारों तरफ़ जोकुछ हो रहा है उस सबका उनको सूक्ष्म ज्ञान है।

मैंने बाबा के प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं को विस्तारपूर्वक देने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि उनका वर्णन सी० बी० परडम कृत **"दि परफेक्ट मास्टर"*** ग्रन्थ में योग्यतापूर्वक किया गया है और उसके बाद हाल ही में जीन ऐड्रियल कृत **"दि अवतार"**‡ ग्रन्थ में किया गया है। यहाँ दिये गये जीवनी सम्बन्धी खाके को देने का अभिप्राय केवल पूर्वीय दृष्टिकोण देने से है जिससे हम बाबा के जीवन से सम्बन्धित कई प्रमुख विचारणीय प्रश्नों पर, जो सहजरूप से जटिल हैं और कदाचित् अन्त में व्याख्या के लिये असम्भव हैं, वादविवाद करते रह सकें।

बाबा के अनेक कार्यों और यात्राओं के कारण के सम्बन्ध में बहुत कल्पनायें की गई हैं, किन्तु उनका अधिकांश भाग रहस्य के कुछ अन्शों से ढका रहता है। ऐसी स्थिति में सामान्य विधि यह है कि व्यक्ति को विवेकरहित घोषित किया जाय और उसके कार्यों को भ्रम कहकर काट दिया जाय। बाबा के साथ ऐसा नहीं किया जाता क्योंकि इसका सीधा-सादा कारण यह है कि बाबा के बहुत से प्रयत्न और सुझाव उन चीजों की शक्ल में, जो औसत दर्जे के मनुष्य के ज्ञान के बिल्कुल परे हैं, अन्तर्दृष्टि होने पर आधारित देखे जाते हैं। बहुधा ऐसा परिणाम चन्द घण्टों के अन्दर पैदा हो जाता है। कभी-कभी घटनाओं का फैसला हफ्तों अथवा महीनों अथवा वर्षों तक भी नहीं दिया जाता।

तथापि, यह विलक्षण अन्तर्दृष्टि उन लोगों को, जिन लोगों ने अकस्मात् आलोचना करने में कुछ क्षण व्यतीत किये हैं, शान्त रहने के

---

* सी० बी० परडम, दि परफेक्ट मास्टर, विलियम ऐण्ड नारगेट, १९३७, (जो अब उपलब्ध नहीं है)।

‡ जीन ऐड्रियल, दि अवतार, जे० एफ० रोनी, १९४७।

लिये प्रेरित करती है और इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वे बाबा के किसी भी पिछले कार्य का चिर वांछित उत्तर पाने के लिये तैयार होवें और इस बात का ध्यान न रक्खें कि वे कार्य उस समय कितने अतुलनीय दिखायी पड़ते हैं।

बाबा की क्रियाओं और सुझावों को विश्वास के साथ मानने के लिये आगे और भी कारण हैं। मनुष्य को एक भी ऐसी स्थिति न मिलेगी जिसमें बाबा के प्रभाव के फलस्वरूप सम्बन्धित व्यक्ति को क्षति पहुँची हो। बाबा उस व्यक्ति की क्षमता बढ़ाने के लिये उस व्यक्ति कोपस्त हो जाने की सीमा तक अथवा निराश हो जाने की सीमा तक बहुधा ढकेलेंगे। किन्तु सम्भावना की एक बारीक रेखा है जिसको बाबा कभी नहीं लांघते।

बाबा के जीवन में एक अवधि ऐसी है जो नाटक और करुणारस दोनों से भरी है‡ जिसके दौरान में बाबा ने सब जातियों और सम्प्रदायों के बालकों के लिये स्कूल की स्थापना की थी। वह स्कूल १९२७ ई० की ग्रीष्मऋतु में स्थापित किया गया था और उसमें एक समय कुल १०२ बालक थे, जिनमें से ४९ हिन्दू थे, २० मुसलमान थे, ३२ ज़रतोस्ती थे और १ ईसाई था।

उन विद्यार्थियों में बाबा का एक कृपापात्र विद्यार्थी अली था। अली को उसका पिता स्कूल से ले गया जबकि वह ऐसा समाचार सुनकर भयभीत हो गया था कि उस स्कूल के कई बालकों को अनियन्त्रित आँसू बहाने के दौड़े समय-समय पर होते थे। इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी रीति से दैनिक ध्यान लगाने से था जो वे बालक लगाते थे।

अली का पिता उसको तीन बार स्कूल से हटाकर ले गया और उसको अपने घर बम्बई ले गया। उसके ऊपर अत्यन्त सावधानी के साथ चौकसी रक्खे जाने पर भी अली तीन बार बचकर स्कूल वापिस आ गया और वह अधिकान्श रूप से पैदल आया, बाबा के प्रति उसकी भक्ति इतनी गम्भीर थी! अली के चौथी बार वापिस ले जाये जाने के बाद शीघ्र ही मेहेरबाबा ने स्कूल के सब बच्चों को कुछ समय के लिये उनके घर भेज दिया और १९२९ ई० के प्रारम्भ में स्कूल सदैव के लिये बन्द कर दिया गया। इसके बाद शीघ्र ही बाबा की विश्व की विस्तृत

‡ इसका सुन्दर वर्णन रमजू अब्दुल्ला कृत "Sobs And Throbs" (आंसू और सिसकियां) नाम की पुस्तक में किया गया है।

यात्रायें करने की अवधि प्रारम्भ हुई और सात वर्ष की संक्षिप्त अवधि में उन्होंने सात बार पश्चिम की यात्रा की और दो बार सारे भूमण्डल की यात्रा की।

इन यात्राओं में कुछ अनुकूल प्रचार हुआ और अधिकतर आलोचनात्मक अथवा अश्लील बातें मिलीं। बाबा ने कभी अनुकूल "प्रचार" (Press) बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया। वह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि जो लोग उनके ऊपर हमला करते हैं वे बाबा की प्रशन्सा करने वाले लोगों के समान ही बाबा का कार्य करते हैं। अपनेआप को बचाने के लिये इनकार करने अथवा अपने "कथनों" को उद्धृत करने में हुई ग़ल्तियों को ठीक करने अथवा मामूली ग़लतफ़हमियों को दूर करने की उनकी दृढ़ प्रवृत्ति आज के दिन एक अद्भुत बात है जबकि दुनियाँ को समाज की नज़रों में अपनेआप को सुरक्षित रखने की आवश्यकता पर दृढ़ विश्वास हो गया है। ऐसी निपट उदासीनता व्यावहारिकता का अनुभव करने की असफलता पर आरोपित की जा सकती है, किन्तु मनुष्य इस भावना के साथ समाप्त करता है कि बाबा गहरे आन्तरिक ज्ञान के अनुसार कार्य करते हैं और इस बात से सन्तुष्ट रहते हैं कि व्याख्या से अप्रभावित उनके कार्यों के परिणाम निकलेंगे। यूरोप में और अमरीका में बाबा के लिये बड़े-बड़े स्वागत समारोह किये गये थे, और हालीवुड को दिये गये उनके परिचय पर जो भारी प्रचार तरङ्गित हुआ उससे कथनों की एक बाढ़ आ गई जो कभी भी पूरी तरह अखण्डित न होगी।

पश्चिम की इन यात्राओं ने घटनाओं का अपना निजी भण्डार पैदा किया जो मानवी भावना से परिपूर्ण था। एक घटना जो मेरे लिये सदैव गम्भीररूप से मनोरञ्जक रही है वह है एक रूसी महिला से बाबा के मिलन का वर्णन। वह महिला अपनी पुत्री से प्रेमपूर्ण सम्बन्ध की कोई भावना बनाने की अपनी अयोग्यता के कारण गम्भीररूप से अशान्त थी; उसकी पुत्री उस समय २० साल से अधिक उम्र की थी। बाबा ने उस महिला का हाथ ठोंका और उससे कहा कि वह उसकी मदद करेंगे, और कई दिन बाद जब वह सुबह जागी तो वह अपनी पुत्री के प्रति प्रेम की गहरी और ऊष्ण भावना से भरी थी, जैसा उसको कभी न हुआ था। उसने अपनी पुत्री से भूतकाल में किये गये अपने व्यवहार के लिये तुरन्त क्षमा माँगी और उसी क्षण उन दोनों में एक गहरा और विश्वास से भरा सम्बन्ध स्थापित हो गया।

दूसरा उदाहरण, जिसमें मानवी भावनाओं के जादू के चिराग का रस मिलता है, वह था जिससे बाबा इटली में एक अशान्त और प्रतिभाशाली यूनीवर्सिटी प्रोफ़ेसर से मिले थे जिसने बाबा के सामने गूढ़ तत्त्वज्ञान का अपना ज्ञान खोल कर रख दिया था। उसकी बात सुनने में बाबा के धीरज रखने के बावजूद, जब वह अपने जीवन के ज्ञान के अंगों को एकसाथ पिरोने के अपने प्रयत्नों में बिल्कुल निराश हो गया। तब उसने अन्त में निराशा में अपने हाथ डाल दिये और बाबा से याचना की कि वह केवल ध्यान में उसके साथ ख़ामोशी से बैठ जायँ।

बाबा मुस्कराये और उन्होंने अपना हाथ उस प्रोफ़ेसर के हाथ के ऊपर रख दिया, और जो लोग वहाँ कमरे में मौजूद थे वे बतलाते हैं कि कमरे में गम्भीर शान्ति का भाव व्याप्त था और उसने उस व्यक्ति के चेहरे से नैराश्य का आलोक धीरे-धीरे हटा दिया। कुछ क्षण ख़ामोश रहने के बाद वह अचानक चिल्ला पड़ा, "अब मुझको ज्ञान हुआ कि **सत्य प्रेम** है।"

इस विषय में चमत्कारी कहानियाँ हैं कि बाबा ने एक समय असीसी के सन्त फ्रान्सिस की गुफ़ा में ठहरकर ध्यान लगाया था, उन्होंने स्विटज़रलैण्ड के आल्पस पर्वत के शिखर पर दिव्य शासक-मण्डल की मीटिंग की थी, और वर्षा का एक भीषण तूफ़ान आया था जब बाबा उस तूफ़ान से अछूते रहकर प्रकाश के एक पुन्ज में खड़े थे जो बरसते हुये बादलों को बेधकर उस पार निकल गया था, जबकि बाबा की देखभाल करने वाले जन, जो ढाल के नीचे कुछ फ़ीट की दूरी पर खड़े हुये बाबा की प्रतीक्षा कर रहे थे, बिल्कुल भीग गये थे।

उसके बाद बाबा ने कुछ वर्ष पागलों के साथ कार्य करने में फिर आध्यात्मिक नशे में चूर लोगों के साथ कार्य करने में व्यतीत किये। १९३६ ई० में राहुरी में एक तथा-कथित "पागल आश्रम" स्थापित किया गया था जिसमें बाबा और उनके शिष्य कई सचमुच पागल लोग लाये थे। बाद में बाबा ने "आध्यात्मिक नशे में चूर" लोगों के साथ अपना कार्य अधिक बढ़ा दिया था—आध्यात्मिक नशे में चूर वे लोग थे जिनका सामान्य चैतन्य सम्पर्क उनके ईश्वरीय प्रेम के नशे के फलस्वरूप उनके इर्द-गिर्द की चीज़ों से समाप्त हो गया था।

भारत में यह स्वीकार किया जाता है कि लौकिक पागलपन और सामान्य चेतना के ह्रास के बीच का अन्तर आध्यात्मिक अति-हर्ष के

फलस्वरूप होता है, और लोग एक परम्परा के रूप में इन बाद की श्रेणी के "मस्तों" की देखभाल करते हैं। इस क्षेत्र में बाबा का कार्य उस कार्य का स्मरण दिलाता है जो सद्गुरु उपासनी महाराज ने ७ वर्ष की अवधि में बाबा के लिये किया था; बाबा के मस्तक पर चुम्बन करके सूफ़ी सन्त बाबाजान द्वारा पर्दा हटा दिये जाने के बाद, उपासनी महाराज ने बाबा की चेतना को धीरे-धीरे उतारकर उन्हें सृष्टि की पूर्ण चेतना प्रदान की थी। इन दोनों सद्गुरुओं ने मेहेरबाबा को अपना आध्यात्मिक चार्जमैन (आध्यात्मिक वारिस) चुना था, यह एक अद्वितीय कार्य था जो हिन्दू और मुसलमान दोनों की सर्वोच्च परम्पराओं को एक में मिलाता था।

राहुरी आश्रम में किये गये मेहेरबाबा के मस्त-कार्य की शाखायें बढ़ती चली गईं और आगामी वर्षों के दौरान में उन्होंने भारत के हृदय में और उसके सुदूर कोनों की अधिक और अधिक यात्रायें कीं, जिनके दौरान में उन्होंने सभी उपलब्ध मस्तों और सन्तों से सम्पर्क किया, भले ही वह सम्पर्क एक क्षण के लिये किया हो। इन यात्राओं की कहानी भीषण कठिनाई और भारी प्रयत्नों के उदाहरणों से भरी है जिनका सामना उन यात्राओं में भाग लेने वाले सब जनों को करना पड़ा था*।

एक बार फिर हम ऐसे सम्पर्कों के अनुमान की केवल कल्पना कर सकते हैं। यदि मैं एक अनुमान लगाने का खतरा उठाऊँ तो मैं कल्पना करूँगा कि उन सम्पर्कों से एक दोहरा कार्य सम्पन्न किया गया था। आध्यात्मिक स्थिति में ऊँची ऐसी आत्मायें किसी प्रकार की मूल मानसिक अथवा ऐहिक शक्ति पर निश्चित रूप से नियन्त्रण रखती हैं अथवा उसे उपलब्ध रखती हैं, चाहे कोई उसका जो भी नाम रक्खे। समूचे रूप से, वे आत्मायें कुछ-कुछ कार्यकर्त्ता मधुमक्खी के समान कार्य करती हैं, और भारत कुछ-कुछ शहद के छत्ते के रूप में कार्य करता है।

बाबा, शहद के छत्ते के शाही कुलपति के रूप में, शक्ति के इस विशाल भण्डार को खींचने के लिये अपना सम्बन्ध स्थापित कर रहे थे, और उसके बदले में वह निःसन्देह प्रत्येक मस्त अथवा सन्त को उसकी आध्यात्मिक यात्रा में आगे बढ़ने के लिये एक और ठेल देते थे। मस्तों से

* इसके विवरण जानने के लिये देखिये विलियम डन्किन कृत दी वेफ़ेयरर्स, मेहेर पब्लिकेशन्स, अहमदनगर, भारत। (जिसका पुनः मुद्रण १९६९ में सूफ़ीज्म रिओरिएण्टेड, इनकार्पोरेटेड, ने किया है)।

सम्पर्क करने का यह कार्य १९४६–१९४८ की अवधि में अपने चरम शिखर पर पहुँच गया, और उसके बाद दो वर्ष तक बाबा की "**नई ज़िन्दगी**" का पहलू रहा जो १६ अक्टूबर १९४९ को प्रारम्भ हुआ था। यह पहलू निःसन्देह सब अतुलनीय चीज़ों में अत्यन्त अतुलनीय चीज़ है जिससे विद्यार्थियों को निपटना पड़ता है। "**नई ज़िन्दगी**" प्रारम्भ करने के पहले बाबा ने सब आश्रम तोड़ दिये जो "**मस्तों**" के लिये तथा कम-वेश स्थायी घनिष्ठ शिष्यों के लिये क़ायम रक्खे गये थे, और साथ-साथ लोगों का निरन्तर ताँता लगे रहने के लिये क़ायम रक्खे गये थे जो वहाँ एक थोड़े समय की मुलाक़ात से लेकर हफ्तों, महीनों अथवा वर्षों तक ठहरते थे।

जो लोग बाबा पर आश्रित थे उन लोगों की देखरेख के लिये प्राविधान किया गया, और उसके बाद बाबा ने स्वयंसेवकों से कहा कि वे अनेक यात्राओं में उनके पीछे चलें, जिनमें उन्हें बहुधा पैदल चलना था और अत्यन्त भीषण कठिनाइयों का सामना करना था। बाबा की "**नई ज़िन्दगी**" के इस नये पहलू में उनका अनुसरण करने के लिये शिष्यों से स्वयंसेवक माँगने के लिये पहले बाबा ने अनुशासन एवं त्याग के कठोर नियम निश्चित किये थे। बाबा की वह "**नई जिन्दगी**" वनवास, असहायपन और त्याग की ज़िन्दगी थी। उसके लिये अन्ततः २० जन चुने गये और वे बाबा के साथ गये।

उन दो वर्षों में हुई यात्रायें और आध्यात्मिक अनुशासन अत्यन्त कठिन थे जिनसे होकर बाबा के शिष्य कभी न गुज़रे थे। जिन शिष्यों ने उन यात्राओं में भाग लिया था वे थकित, दुबले-पतले और ग़िरी हालत में थे जैसे कि वह १९५१ ई० के उत्तरार्द्ध में बाहर निकलने पर दिखाई पड़ते थे। घटनाओं और उनके महत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किसी अधिक विस्तृत ग्रन्थ में दिया जायगा, किन्तु उनको देखने वाला मनुष्य यह नतीजा निकाले बग़ैर नहीं रह सकता कि इस गूढ़ पहलू में भविष्य के व्यक्ति और जाति की सामाजिक उन्नति के लिये एक प्रमुख अधिकार पत्र स्थापित हो गया था। १६ अक्टूबर १९५० ई० को बाबा ने महाबलेश्वर में कहा था, "मेरा पुराना जीवन मुझको ईश्वरत्व और ईश्वरीय पूर्णता के स्तर पर रखता है। **अपनी नई ज़िन्दगी** में मैं परमात्मा और उसके बन्दों के विनम्र सेवक की स्थिति ग्रहण करता हूँ। अपनी **नई ज़िन्दगी** में **मैं साधक** हूँ, **प्रेमी** हूँ और **मित्र** हूँ। ये दोनों पहलू—**पूर्ण ईश्वरत्व** और

पूर्ण विनम्रता—परमात्मा की मर्ज़ी रहे हैं और ये दोनों परमात्मा के शाश्वत जीवन से सतत् जुड़े हैं।"

१३ फ़र्वरी १९५१ को बाबा महाबलेश्वर में लगभग १०० दिन के लिये एकान्तवास में चले गये थे। उसके अन्त में उन्होंने कहा था कि १६ अक्टूबर को उन्हें अपने कार्य के एक अन्य पहलू में प्रवेश करना आवश्यक होगा। उनके कार्य का यह बाद का पहलू **"मनोनाश"** की अवधि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह कार्य ४ महीने तक चला, और इसका अन्त १६ फ़र्वरी १९५२ को हुआ।

इसके पश्चात् बाबा ने घोषित किया कि बाबा और उनके कुछ शिष्य शीघ्र ही संयुक्त राज्य अमरीका जायँगे और बाबा २१ मार्च से १० जौलाई १९५२ तक एक "जटिल-स्वतन्त्र" जीवन व्यतीत करेंगे जिसमें शक्ति के ऊपर निर्बलता की प्रबलता होगी, १० जौलाई से १५ नवम्बर तक एक "पूर्ण-स्वतन्त्र" जीवन व्यतीत करेंगे जिसमें निर्बलता के ऊपर शक्ति की प्रबलता होगी, और १५ नवम्बर से आगे "ज्वालामय-स्वतन्त्र" जीवन व्यतीत करेंगे जिसमें शक्ति और निर्बलता दोनों ईश्वरत्व की ज्वाला में भस्म हो जायँगीं।

२० अप्रैल १९५२ को बाबा पूर्व और पश्चिम दोनों के ६ शिष्यों और ६ शिष्याओं के साथ न्यूयार्क पहुँचे। वे सीधे मिरटिल बीच, दक्षिण कैरोलिना, गये जहाँ एक जायदाद बाबा को अर्पित की गई थी, और कई हफ्तों के बाद, बाबा ने कई पुराने और नये अनुयायियों का स्वागत किया, खासकर १७ मई १९५२ को जबकि बाबा से मिलने के लिये अमरीका के सब राज्यों से एक विशाल जनसमूह एकत्रित हुआ था।

तब बाबा का दल कैलिफ़ोर्निया के लिये, दूसरी संयोजित मुलाक़ातें प्रदान करने के निमित्त, मोटरकार द्वारा रवाना हुआ। जब वे लोग ओकलाहोमा से गुज़र रहे थे बाबा की कार एक मोटरकार से भिड़ गई और उस हृदयविदारक मोटरकार दुर्घटना में बाबा की मोटरकार में बैठे ५ जनों में से ४ जन गम्भीररूप से घायल हो गये। ऐसी मोटर दुर्घटनायें हमारे देश के राजमार्गों में आमतौर पर होती रहती हैं।

दुर्घटना के निकट ओकलाहोमा के छोटे क़स्बा प्रेग में सौभाग्य से एक छोटा प्राईवेट अस्पताल था जिसमें डाक्टर बर्लेसन कार्य करते थे। इस डाक्टर और उसके थोड़े से कर्मचारियों के प्रयत्नों ने खून से लथपथ लोगों और खून से भरे कपड़ों का सामना किया, जिनमें एक

मौन गुरु (Master) और उसके घायल साथी फँसे थे। और, चिकित्सा जगत दुःख दूर करने तथा ज़िन्दगी की अवधि बढ़ाने के लिये निरन्तर जो संघर्ष कर रहा है उसके उस नित्य नाटक में उस घटना का वर्णन निश्चित रूप से एक अनुपम वर्णन है। जब पीड़ा की दशा धीरे-धीरे जाँचकर निश्चित की गई तो उससे यह स्पष्ट हुआ कि उनमें से कोई भी जन तात्कालिक ख़तरे में न था, किन्तु टूटी हुई हड्डियों की संख्या और चमड़ी रहित तथा खुरचे हुये माँस के विस्तार भयानक थे। कई दिनों तक घायलों की हड्डियाँ बैठाने, उनके घावों की सफ़ाई करने, मरहमपट्टी करने और उनमें नया जीवन भरने का नीरस तथा मन्द कार्य चलता रहा। बाबा की टूटी हुई बायीं टाँग और हाथ और उनके चेहरे पर आयी गम्भीर चोटें अत्यन्त गम्भीर चोटें न थीं, वरन् वे अत्यन्त पीड़ा देने वाली थीं। दो सप्ताह के बाद बाबा का यह दल चिकित्सा गाड़ी द्वारा दक्षिण कैरोलिना लौट गया और वहाँ उसने चंगा होने के लिये कुछ समय व्यतीत किया।

एक महान आध्यात्मिक नेता ने अपने ऊपर और अपने अनुयायियों के ऊपर ऐसी दुर्घटना कैसे होने दी ? निश्चय ही वह उसको पहले से देख सकता था और उससे बच सकता था। मुझे अचरज होता है कि ये प्रश्न कितनी अधिक बार पूँछे गये हैं। वास्तव में बाबा ने अपने प्रति ऐसी दुर्घटना की और उसकी आवश्यकता की भविष्यवाणी पहले ही १९२८ ई० में कर दी थी। उन्होंने एक अवसर पर यहाँ तक कहा था कि उनको अमरीका में अपना खून "बहाना" आवश्यक होगा। किन्तु मेरा ऐसा घोषित करना कि "वह उसको सतत् जानते थे" केन्द्रीय विषय से बहुत आगे बढ़ जाता है। युग-युगान्तर के महान आध्यात्मिक नेताओं ने अपने को एक असावधान एवं ध्यान न देने वाली सभ्यता की आपत्तियों से कभी नहीं बचाया। वास्तव में उन्होंने भीषण मानवी आपत्ति में अपने हिस्से को ख़ुशी से स्वीकार किया है और अपने को प्राप्त ऐहिक शक्ति का निरंकुश प्रयोग किये बग़ैर उसको जीवन के आचरण में बरता है। ऊँचे आध्यात्मिक पुरुषों का परम कार्य वह नहीं है जोकुछ वे हमारे भौतिक जगत के नियम के बाहर करते हैं, वरन् वह है जोकुछ वे उसके अन्तर्गत करते हैं।

१९३७‡ ई० में बाबा ने **सद्गुरुओं** का यह कार्य समझाया था। "एक सद्गुरु को, जिसे दुनियाँ के बोझों को अपने अन्तर में पी जाने के लिये, अपने ऊपर लेना पड़ता है, अनिवार्यरूप से भौतिक प्रतिक्रियाओं का सामना करना पड़ता है, और उसके फलस्वरूप साधारण मनुष्यों की तरह शारीरिक कष्ट भोगना पड़ता है।

"सद्गुरु क्रिया और प्रतिक्रिया के नियम के प्रति अपने को अधीन करके उस नियम को स्थापित करते हैं, और वे निःस्वार्थरूप से तथा स्वेच्छापूर्वक उस नियम के अधीन होते हैं। किन्तु अपनेआप को इस नियम के अधीन करने के बावजूद, वे नियम के परे होते हैं, और अपनेआपको भौतिक प्रतिक्रियाओं से बचा सकते हैं। तब 'क्रिया और प्रतिक्रिया' का क्या अर्थ एवं उद्देश्य होगा ?

"**सद्गुरु** मानव जाति को 'क्रिया और प्रतिक्रिया' के बन्धनों से मुक्त करने के द्वारा, मानवता को माया से बाहर ले जाकर 'विश्वव्यापी मांया' के द्वैध प्रभाव को अपने अन्तर में निगल जाते हैं।

"सद्गुरु दुई को, शुद्ध करने के लिये, उसको अपने यथार्थ सत् के अन्दर खींच लेता है।"

न्यूयार्क में लोगों को मुलाक़ातें देने में कुछ दिन और व्यतीत करने के बाद बाबा योरुप में अपने पुराने और नये अनुयायियों से मिलने के लिये वायुयान द्वारा योरुप को चल दिये, और अगस्त १९५२ के दूसरे पखवारे में भारत लौट आये। भारत आने के बाद वह तत्काल ही कुछ और **मस्तों** से सम्पर्क करने के लिये यात्राओं पर निकल पड़े, किन्तु अब उन्होंने अपना क्रियाकलाप अधिकतर लोगों के विशाल समूहों को, जो बाबा के सार्वजनिक दर्शन देने के लिये घोषित किये गये स्थानों में जमा होते थे, आध्यात्मिक आशीर्वाद प्रदान करने पर अधिक केन्द्रित किया था। इन सार्वजनिक **दर्शनों** की पराकाष्ठा सितम्बर १९५४ ई० में हुई

‡ [उस समय बाबा ने उस क्षण तक भी अपने अवतार होने के सम्बन्ध में कोई सार्वजनिक बयान नहीं दिया था और आमतौर पर लोग उनको 'सद्गुरु' मानते थे। तथापि, पूरक ३० में बाबा ने अवतार और सद्गुरु (Perfect Master) की भूमिकाओं के बीच का भेद समझाया है। –सम्पादक]

जब बाबा ने सारी दुनियाँ से अपने पुरुष अनुयायियों को "अन्तिम" आध्यात्मिक मीटिंग के लिये अहमदनगर में अपने आश्रम में जमा होने के लिये निमन्त्रित किया था। भारत के कोने-कोने से और एशिया, योरुप तथा अमरीका के सुदूर स्थानों से लगभग एक हज़ार लोग एकत्रित हुये। जो लोग पहले आ गये थे उनको १२ सितम्बर १९५४ को ६० हज़ार लोगों का जमाव देखने को मिला, जो **प्रसाद** के रूप में बाबा का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये अहमदनगर के इर्द-गिर्द के स्थानों से आये थे।

रोज़ तीसरे पहर इस रंगीन और हृदय को द्रवित करने वाले सुअवसर के पश्चात् बाबा यात्रियों को खुद शिक्षा देते थे। २९ सितम्वर को बाबा ने उन एक हज़ार लोगों को सम्बोधित किया जो उनके निमन्त्रण पर आये थे, उनको आशीर्वाद दिया और उन्हें उनके घर भेज दिया। ७ अक्टूबर को बाबा ने वर्णमाला पट्टी का प्रयोग करना भी छोड़ दिया, और अब वह अपनी बात प्रगट करने के लिये केवल संकेतों पर निर्भर हो गये। (यह बड़ी मनोरंजक बात है कि बाबा अपने भाव प्रगट करने के लिये जिन संकेतों का उपयोग करते हैं वे वर्णमाला के **A B C D** अक्षर नहीं हैं—अँगुलियों द्वारा बनाई गई कोई आकृति नहीं है जिसका उपयोग एक मौन पुरुष कर सकता है, और न वे कोई संकेत भाषा हैं जिसका उपयोग बहरे और गूँगे करते हैं, वरन् वे स्वतन्त्र और सरल और कुछ-कुछ बढ़ाकर किये गये संकेत हैं जो अद्वितीय रूप से खुद बाबा के हैं और जो अत्यन्त स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं जोकुछ बाबा प्रगट करना चाहते हैं।)

एकबार फिर बाबा ने घोषित किया कि उनके मौन का खुलना, उनका प्रगटीकरण और उनकी मृत्यु सब निकट थे। बाबा ने कहा था कि जब वह अपना मौन खोलेंगे तब वह केवल एक शब्द बोलेंगे, जो शब्दों का **शब्द** होगा, और जो लोगों के हृदयों में प्रवेश कर जायगा।

इस प्रकार, मुरशिदा ड्यूस के साथ कार्य करते हुये, मैंने **अवतार मेहेरबाबा** के घटनापूर्ण जीवन को एकबार फिर आज तक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। बाबा के जीवन और कार्यों के महत्व

को संचित होने वाली घटनाओं की दृश्यभूमिका में छाँटना और तौलना इतिहास के लिये छोड़ दिया गया है। हम, जो तात्कालिक वर्तमान में साझीदार होते हैं, केवल अपने प्रेम और मानवी भक्ति का अन्श अर्पित कर सकते हैं और अपनी कृतज्ञता उस महान चीज़ के लिये घोषित कर सकते हैं जो हमारे जीवनों में आ गई है।

डान ई० स्टीवेन्स

द्वितीय संस्करण की भूमिका

उन १८ वर्षों में जो **गाड स्पीक्स** के प्रथम संस्करण प्रकाशित होने के समय से गुजरे हैं, मेहेर बाबा की उपस्थिति की बाढ़ दुनियाँ में चारों ओर फैल गई है और उनका नाम करोड़ों लोगों के लिये आशा एवं श्रद्धा का प्रतीक बन गया है। चार साल पहले जनवरी के अन्त में उन्होंने खुद अपना शरीर त्याग दिया, जो अब उस क़ब्र में बन्द है जो वर्षों पहले खुद उनके सावधान निर्देशों के अनुसार मेहेराबाद, अहमदनगर, के निकट, भारत में बनाई गई थी।

इस अवधि में दुनियाँ की समस्याओं के प्रति मेहेरबाबा के समाधान की व्यापकता के टकराव को, और उनके प्रेम के प्रति सब धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों के प्रत्युत्तर की एकरूपता के टकराव को, देखना सम्भव हुआ है। सबसे प्रारम्भिक समय से, मेहेरबाबा ने संकेत दिया था कि वह किसी खास धार्मिक सम्प्रदाय के नहीं हैं; अपितु उनका उद्देश्य था सत्य के शब्दों में जीवन की श्वाँस लेना जो समस्त महान विश्व-धर्मों ने प्रदान किये हैं। बाबा ने बारम्बार, स्पष्ट, संक्षिप्त कथनों में अपने कार्य की स्वतन्त्रता और मार्ग की व्यापकता को ज़ोरदार शब्दों में प्रस्तुत किया है :

"राजनीति से मेरा कोई लगाव नहीं है। सब धर्म मेरे लिये बराबर हैं। और सब जातियाँ और मत मुझको प्रिय हैं। किन्तु, यद्यपि मैं सभी 'वादों' (*Isms*), धर्मों और राजनीतिक दलों की क़द्र करता हूँ, उन अनेक अच्छी बातों के लिये जो वे प्राप्त करना चाहते हैं, फिर भी मैं अखण्ड सत्य प्राप्त करने के लिये इन वादों, धार्मिक अथवा राजनीतिक दलों का न हूँ और न हो सकता हूँ, जबकि सत्य उनको समानरूप से अपने में प्रविष्ट किये हुये, उन सबको लाँघ जाता है और प्रथक्कारी खण्डों के लिये कोई गुंजाइश नहीं रखता जो सब समानरूप से मिथ्या हैं। समग्र जीवन की 'एकता' अखण्ड्य और अविभाज्य है। वह समस्त कल्पनीय मतभेदों के बावजूद अबाध्य और अभेद्य बनी रहती है।

"मैं बड़े और छोटे, सबकी पहुँच के अन्दर समानरूप से हूँ,
मैं सन्तों की पहुँच के अन्दर हूँ जो ऊँचे उठते हैं और पापियों की पहुँच के अन्दर हूँ जो पतित होते हैं,
और, मैं सभी विविध मार्गों के द्वारा, जो ईश्वरीय पुकार देते हैं, पहुँच के अन्दर हूँ।
मैं समानरूप से सन्तों को प्राप्य हूँ जिनकी मैं पूजा करता हूँ,
और पापियों को प्राप्य हूँ जिनके लिये मैं आया हूँ,
और मैं समानरूप से सूफ़ीवाद, वेदान्तवाद और ईसाई मत के द्वारा प्राप्य हूँ,
अथवा ज़ोरास्टरमत तथा बुद्ध धर्म के द्वारा प्राप्य हूँ,
तथा किसी भी प्रकार के अन्य वादों के द्वारा प्राप्य हूँ और वादों के माध्यम के बग़ैर सीधे-सीध भी प्राप्य हूँ........"‡

मेहेरबाबा की अवतारी (क्राईस्ट, मसीहा स्थिति) के कण्टकाकीर्ण विषय ने भी इन मध्यवर्ती वर्षों में बहुत कुछ स्पष्ट किया है। जब **गाड स्पीक्स** का प्रथम संस्करण १९५५ ई० में जनता के सामने रखा गया, तो बाबा के **अवतारिक** कार्य के तथ्य का वर्णन केवल कुछ वर्षों के लिये उनके निकटतम शिष्यों के अलावा अन्य लोगों को किया गया था। उस समय के पहले अधिकांश लोगों ने उन्हें एक महान सन्त अथवा सद्गुरु माना था, और उन्होंने उनके उद्देश्य के महत्व का और आगे अनुमान लगाये बिना ऐसा किया था।

तथापि, १९५४ ई० में बाबा ने प्रथम बार और स्पष्टरूप से जनसमूह के बीच घोषित किया था कि वह इस युग के **अवतार** हैं। उनको पहले ही सद्गुरु मान लेने के पश्चात्, भक्तों के सामने विश्वव्यापी उत्तरदायित्व के इस प्रसार के लिये कोई समस्या पैदा करने वाली चीज़ न थी।

बाहरी लोगों के लिये, जो मेहेरबाबा के चरित्र बल से ठगित हुये थे, किन्तु जिन्हें व्यक्तिगत आत्म-समर्पण के द्वारा उनकी सत्ता में निमग्न हो जाने का सुअवसर प्राप्त न हुआ था, उनके बाहरी क्रिया-कलाप का और **अवतारिक** भूमिका के परिणामों का निर्णय करने की कोशिश करने

‡ १९५२ ई० में "ज्वालामय स्वतन्त्र जीवन" के दौरान में दिये गये सन्देशों से उद्धृत।

का कार्य अब भी प्रारम्भिक था। यह अचरज की बात है, कि बहुत थोड़े लोगों ने मेहेरबाबा के इस कथन से कि 'वह युगावतार हैं' कड़ा पब्लिक मतभेद प्रगट किया। अनेक लोग, स्वयं **गाड स्पीक्स** का अध्ययन करने के द्वारा, दृढ़ विश्वास करते थे कि ऐसी कृति केवल उस पुरुष से निकलेगी जिसने सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर ली थी, और इसलिये यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम कोई फैसला करने के पहले प्रतीक्षा करें और देखें।

यह बड़ी विलक्षण बात है, कि उन लोगों के लिये जिनका सामना बाबा के स्थूल शरीर से न हुआ था, वे परम्परागत रूप से अध्यात्म की ओर प्रवृत्त न थे जो पहले-पहल उनको **पुरातन पुरुष** के रूप में स्वीकार करने लगे थे। वे तो नवयुवक, बागी, परीक्षक, लोग थे, जो भ्रान्ति एवं नैराश्य के जीवन में अर्थ की खोज कर रहे थे, और वे अचानक इस मौन सद्गुरु *(Master)* की प्रतिमा एवं शब्दों को पहचानने लगे। उनके सहज ज्ञान ने, जो आवश्यकता से तीव्र हो गया था और मार्ग पाने के लिये बारम्बार हुई असफलताओं से विस्तृत हुआ था, अकस्मात् बाबा की एक फोटो में, उनके उपदेशों की किताब में, एक छोटे कार्ड में छपे जीवन के विषय में, एक सारपूर्ण कथन में उत्तर पाया।

जैसा बाबा ने बीसों वर्ष पहले बहुधा कहा था, कि **अवतार** का अवतरण और उसके शब्द की मान्यता **सृष्टि** की आवश्यकताओं के कारण होते हैं। जब आवश्यकता बहुत होती है तब **अवतार** आता है, और उसका शब्द माना जाता है, क्योंकि केवल यही चीज़ है जो सन्तुष्ट कर सकती है। उचित और आश्रय लेने योग्य लक्ष्यों की मनुष्य की खोज पीढ़ियों से बढ़ती रही है। हमारे समय में वह इतनी शक्तिशाली हो गई है कि वह सामाजिक विप्लव की एक लहर से दूसरी लहर के रूप में प्रगट हुई है।

इस सामाजिक खलबली में मेहेरबाबा का अवतरण सृष्टि के प्रयोजन तथा सर्व-समावेशक प्रेम के एक स्पष्ट कथन के साथ हुआ है, जो इतना शक्तिशाली है कि आवश्यकता के अपरिपक्व खरोंचे अकस्मात् इतने शान्त हो जाते हैं कि वे मौन और राहत के आँसुओं की ओर अग्रसर करते हैं। बाबा बारम्बार सृष्टि का वर्णन ऐसे साधन के रूप में करते हैं जिसके द्वारा खुद अपने ईश्वरत्व को चैतन्यरूप से जानने की परमात्मा की लहर फलीभूत होती है। **गाड स्पीक्स** में सावधानी के साथ दिये गये

कथनों में वह उस ढंग का वर्णन करते हैं जिसमें चेतना की पीढ़ी की कार्य प्रणाली का विकास होता है। अनन्त एकता की यथार्थता तथा चेतना, जिनका विकास सृष्टि की दुई के अन्दर स्थित अनन्त चुनौतियों का सामना करने के द्वारा हुआ था, अत्यन्त सूक्ष्म विवरण के साथ अङ्कित की गई हैं। वह भौतिक रूप, जो सृष्टि के द्वन्द्वों का अनुभव करने के लिये माध्यम के रूप में कार्य करता है, परमात्मा की खुद को चैतन्यरूप से जानने की इच्छा के निरन्तर बढ़ते हुये जटिल उप-उत्पादन के रूप में दिखाया गया है। रूप के विकास की स्वयं यही शक्ति, कोई योग्यतम का चुनाव नहीं बनती, किन्तु वह निरन्तर बढ़ते हुये अधिक जटिल साधनों के द्वारा अपनेआप को प्रगट करने के लिये शेष अनुभवों की आवश्यकता का परिणाम होती है। विकास और चेतना के पूर्ण होने को खुद सृष्टि के अखिल उद्देश्य के रूप में वर्णन किया गया है :

> "और, विकासमयी प्रक्रिया के विषय में, यह सदैव स्मरण रखना अच्छा है कि आदि चेतना के अन्तर्गत एक आदि है, विकास चेतना के अन्तर्गत एक विकास है, अन्त, यदि कोई अन्त होता है, तो वह चेतना में एक अन्त है......"*

मेहेरबाबा ने बीसियों वर्षों तक ये, और साथ-साथ जो अनन्त सन्तुलित, व्यावहारिक अन्तर्दृष्टियाँ दैनिक जीवन में प्रदान की हैं, ऐसी सिद्ध हुई हैं जिनकी माँग नवयुवक वर्ग ने उच्च स्वर में की है। उन्होंने बाबा के स्वरूप को अनुभव द्वारा पहचाना है : अर्थात्, आधुनिक जीवन के भ्रमजाल के उत्तर के रूप में। यह बिल्कुल ठीक वही है जो मेहेरबाबा ने कहा था कि **अवतार** अवश्य होना चाहिये। इस प्रकार हाथ और दस्ताना का बिल्कुल सामंजस्य हो जाता है। समानता पर दृष्टि डालने से किसी को शङ्का नहीं हो सकती कि बाबा ठीक वही हैं जो उन्होंने अपने को कहा है, अर्थात् **युग का अवतार** हैं।

किन्तु इस अवधि में मेहेरबाबा के अधिकतर व्यक्तिगत जीवन के विषय में क्या कहा जाय ? फिर भी प्रेग के निकट, ओकलाहोमा में, १९५२ ई० में हुई गम्भीर मोटर दुर्घटना के बावजूद, जिसकी भविष्य-वाणी उन्होंने बहुत पहले कर दी थी, और बाद में दिसम्बर १९५६ ई० में भारत के सतारा नगर के निकट हुई उससे भी अधिक गम्भीर दुर्घटना,

* दि अवेकनर, भाग ८, नम्बर ४, १९६२।

जिसमें बाबा के कूल्हे की हड्डी चूर-चूर हो गई थी और डाक्टर नीलू की मृत्यु वहीं हो गई थी, इन १५ वर्षों में बाबा ने बहुत प्रगाढ़ भीतरी और बाहरी कार्य किया था। इन दो दुर्घटनाओं के प्रसङ्ग में, पाठक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह क्रमिक सन्तुलनों की एक दुनियाँ है जिसमें हम रहते हैं, और जिसमें जादूगर की छड़ी का कोई जादू नहीं होता। **अवतार** खुद यातना भोगने की प्रक्रिया के द्वारा, जो वह स्वेच्छा से अपने ऊपर लेता है, सन्तुलन को यथार्थ करता है। इन दो अवसरों पर उन्होंने दो महाद्वीपों में अपना खून उसके निमित्त बहाया है जिसे करना वह आवश्यक समझते थे।

१९५६ ई० में उन्होंने योरुप और अमरीका तथा भूमण्डल की यात्रा की, जिसमें वह पहली बार आस्ट्रेलिया गये। पश्चिमी देशों की इस १२वीं यात्रा का तारीखवार पर्याप्त वर्णन **'दी अवेकनर'** (भाग ४, संख्या १ और भाग ५, संख्या २) में तथा अन्य ग्रन्थों में दिया गया है।

उनकी तेरहवीं यात्रा पश्चिमी देशों में १९५८ ई० में हुई। इस बार उस यात्रा में केवल आस्ट्रेलिया और अमरीका सम्मिलित थे। इस यात्रा में उन्होंने प्रेमी और प्रियतम के बीच प्रेम की पारस्परिक क्रीड़ा का घना वातावरण पैदा किया (दि अवेकनर, भाग ५, संख्या ३ और ४)। इस अवसर पर यह स्पष्ट था कि बाबा केवल उन लोगों के निमित्त थे जो खुद अपने हृदयों के सङ्गीत को जानते थे। जनता इस छली प्राणी की उपस्थिति की याचना करने से हतोत्साहित न की गई थी, लेकिन बाबा के आगमन का कोई प्रचार न किया गया था। वह **प्रियतम** की उपस्थिति में वास्तविक निवास था। सिंहावलोकन करने से, लोग समझते हैं कि बाबा जानते थे कि अनेक लोगों के लिये यह उनका अन्तिम व्यक्तिगत सम्पर्क होगा। वास्तव में उन्होंने उसके विषय में काफी बताया था, लेकिन हम लोगों ने उनके कथन को नहीं सुना।

१९६२ ई० में मेहेरबाबा ने अपने घनिष्ठ जनों को निकट खींचने के जादू का प्रयोग पुनः किया, लेकिन इस बार उन्होंने यह प्रयोग एक महत्वपूर्ण नये नमूने में किया। भूतकाल में उनके पूर्व और पश्चिम के अनुयायियों का केवल अत्यन्त सीमित मिलन हुआ था। तथापि, १९६२ ई० में यह मिलन विचारपूर्वक तथा भारी पैमाने पर किया गया था।

भारत के पूना नगर में मिलन के स्थल पर सैंकड़ों लोग योरुप, अमरीका और आस्ट्रेलिया से आये। अन्य हज़ारों लोग ईरान, पाकिस्तान और भारत से आये। 'गुरुप्रसाद' पूना के सुन्दर निवास में हुआ "१९६२ **पूर्व-पश्चिम मिलन**" संस्कृति के विस्तृत विभिन्न प्राकृतिक प्रेम के स्रोतों के मिलन की वीरगाथा थी। ५ दिन तक मेहेरबाबा इस अन्तरंग आमन्त्रित दल के कुछ हज़ार लोगों के बीच बैठे और उन्होंने असमानता के तत्त्वों को विलायक तत्त्व के अन्दर एकसाथ मिश्रित किया जो केवल यथार्थ एकता, अर्थात् परम प्रेम, को जन्म देता है।

लोगों को ताज्जुब होता है कि यह अविश्वसनीय (*Incredible*) प्राणी किस प्रकार लम्बे समय तक कठोर प्रयोग एवं कुचलने वाली दुर्घटना से गम्भीररूप से आहत शरीर के द्वारा भारी भीड़ को रोज़ घण्टों तथा काफी रात तक दर्शन एवं आशीर्वाद देने की शारीरिक शक्ति को प्राप्त करने के योग्य था। छठवें दिन वह इससे भी आगे चले गये। गुरुप्रसाद बंगला के फाटक खोल दिये गये और दर्शनार्थियों को बाबा के सामने उनके अभिलाषा से भरे आध्यात्मिक आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये आने की अनुमति प्रदान की गई। सुबह से लेकर शाम तक लोगों का सजीव ताँता उनके सामने से गुज़रता रहा, और जब अन्ततः अन्धेरा हो जाने पर फाटक बन्द कर दिये गये, तब भी दर्शनार्थियों की भीड़ लम्बी चार कतारों में दूर तक खड़ी थी, जो बाबा की चितवन अथवा उनका स्पर्श पाने के लिये आशा के विपरीत आशा कर रही थी।

इस समय से, १९६३ और १९६५ ई० की अवधि में, अपने भारतीय शिष्यों को थोड़े-थोड़े समय के अवकाश देकर, मेहेरबाबा ने बढ़ता हुआ कठोर नियन्त्रित एकान्तवास किया। अन्ततः, अगस्त १९६६ ई० में, उन्होंने आदेश जारी किये कि वह अपने निश्चित निमन्त्रण से बुलाये गये जनों के सिवाय और किसी से न मिलेंगे। बहुत-बहुत थोड़े निमन्त्रण दिये गये, और उससे भी कम लोग बुलाये गये। उन्होंने सबको बतलाया कि वह अपने विश्वव्यापी कार्य के उच्चतम पहलुओं से गुज़र रहे थे, और फिर अन्ततः, वह कार्य उनके शत प्रतिशत सन्तोष के अनुसार पूरा हो गया था।

यह उनके भक्त अनुयायियों के लिये संकेत हो सकता था। किन्तु कोई उस दिन की कल्पना कभी नहीं कर सकता जबकि प्रियतम सदेह उनके पास न होगा। १ फ़रवरी १९६९ को तेज़ी के साथ, गहरी भक्ति के

फैले हुये जाल के द्वारा, सारी दुनियाँ में यह समाचार फैल गया कि मेहेरबाबा ने अपना शरीर पिछले दिन दोपहर के कुछ समय बाद त्याग दिया था। सात दिन तक उनका शव, जो पुष्पहार पहने था और जिसके ऊपर गुलाब की खुशबूदार पंखुड़ियाँ फैली थीं, क़ब्र में रखा रहा जो इस अवसर के लिये बहुत पहले तैयार कर दी गई थी, और उनका सिर एक छोटे तकिया पर रखा था, "जिससे कि मैं अपने प्रेमियों को उठकर बैठे बग़ैर **दर्शन** दे सकूं।" वह देख चुके थे कि क्या आवश्यक होगा और, सदैव की तरह, उसके लिये उन्होंने तैयारी कर ली थी। उनके भक्तों ने "अनन्तता के रूप में अनन्तता का, स्वयं अपनी अनन्तता में महाप्रयाण पहचाना।" उनके दफ़न होने के बाद, अप्रैल, मई और जून के महीनों में पूर्व और पश्चिम के प्रेमियों के विशाल दलों ने गुरुप्रसाद, मेहेराज़ाद—निवास स्थान—और मेहेराबाद—समाधि, की तीर्थयात्रायें कीं। हम नहीं जानते कि कोई भी उसका वर्णन कैसे कर सकता था जो घटित हुआ था। आपके जानने के लिये केवल यह उपाय है कि आप उस पुरुष के पास बैठें जो वहाँ मौजूद था। फ्रान्सिस ब्रैबेज़ोन ने इस महान घटना का अत्यन्त सुन्दर वर्णन "थ्री टाक्स" शीर्षक पुस्तिका में किया है, जिसका प्रकाशन १९६९ में आस्ट्रेलिया के **मेहेर हाऊस पब्लिकेशन्स**, सिडनी ने किया है।

गाड स्पीक्स के इस संशोधित संस्करण में कुछ नई बातें और संशोधन दिये गये हैं, जिनका संकेत मेहेरबाबा ने किया था। **पूरक** में भी कुछ और बातें जोड़ी गई हैं। अनेक चार्टों में छोटे किन्तु आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं, और ५ और चार्ट शामिल किये गये हैं। एक चार्ट लुडविग डिम्फिल ने प्रेम की पीड़ा के रूप में बनाया था और उसका सम्बन्ध "चेतना की भूमिकाओं से सम्बन्धित गूढ़, सूफ़ी और वेदान्तिक शब्दों से है, जैसा कि उनका प्रयोग **गाड स्पीक्स** में किया गया है।" यह चार्ट मेहेरबाबा के शरीर छोड़ने के कई साल पहले उनके पास भेजा गया था। एरच बी० जसावाला हमें बतलाते हैं कि बाबा ने उसको बारीकी के साथ पढ़ा था और उसमें दो या तीन संशोधन किये थे, और उससे पूर्ण सन्तोष प्रगट किया था, और उसको **गाड स्पीक्स** में प्रयोग करने की स्वीकृति दे दी थी। वह इतना बड़ा था कि वह पुस्तक में अलग से लगाया गया है। पुस्तक के मूल पाठ में और अधिक टीपें जोड़ी गई

हैं जो मेहेरबाबा द्वारा समय-समय पर दी गई प्रथक् सूचना से ली गई हैं।

इस समय यह भी ध्यान से नोट करना चाहिये कि कुछ शब्दों का प्रयोग उन शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है जिनका अर्थ सूफ़ी, वेदान्ती और गूढ़ शब्दावली में मिलता है, और वे कुछ उदाहरणों में उच्चकोटि के शब्द नहीं हैं, जिनका प्रयोग उन तीन अनुशासनों में किया गया है; अपितु वे ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिये और पाठकों द्वारा विषय को ज्यादा अच्छी तरह समझने के लिये किया गया है। लुडविग डिम्फ़िल द्वारा सङ्कलित की गई पूर्ण शब्दावली मेहेरबाबा ने शरीर छोड़ने के पहले ही स्वीकृत कर दी थी।

अन्त में, हम अवतार मेहेरबाबा के जीवन एवं शब्दों का अनिवार्य लेखा तैयार करने का अनिवार्य सुझाव दिये बग़ैर नहीं रह सकते। जबकि वह आन्तरिक मानव के लिये जीवित थे, जिससे वह यथार्थता के भ्रमजाल के फन्दों को तोड़ सकें जिनके द्वारा उन्होंने खुद अपने को बन्धन में कर लिया था, फिर भी मेहेरबाबा के द्वारा दी गई स्पष्टियों का महान महत्व भौतिक अनुशासनों के लिये भी है। जब कोई उन विविध कृतियों का अध्ययन करता है जो हमारे युग के "ऊँचे से ऊँचे" ने प्रदान की हैं, तो उसको भौतिक विज्ञानों की समस्त रीतियों के अर्थ मूलभूत एवं क्रान्तिकारी दिखाई पड़ते हैं। जब वे लोग, जो भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, भूगर्भविज्ञान, मनोविज्ञान, तथा अन्य अनेक अनुशासनों के क्षेत्रों में प्रशिक्षित होते हैं, मेहेरबाबा के जीवन और कथनों का अध्ययन करते हैं, तो वे बिल्कुल न्यायसंगतरूप से उनको पहले खुद अपनी आन्तरिक प्रकृतियों की आवश्यकताओं पर लागू करेंगे। तथापि, जब उनके शब्द प्राणभूत प्रयोजन और आश्वस्त सहारा के भाव को स्थापित करने के प्रथम कार्य को पूरा कर लेते हैं, तो महत्व का दूसरा पहलू अनिवार्य रूप से खुद का दृढ़ प्रतिपादन करने लगेगा। जीवन गतिशील होने लगता है और वह आन्तरिक तथा बाह्य दोनों रूपों से हरकत करने लगता है। सत्यताओं की तीव्र, क्रमिक मान्यतायें, जो अन्तर्मुखी हो गई थीं, उनके पीछे बाह्य जगत के व्यापार में तुलनात्मक अन्तर्दृष्टियाँ आती हैं।

मेहेरबाबा के सादे और प्रायः स्वतः-स्पष्ट कथन मूल एवं उत्तेजक भावार्थों के एक बहुरूपदर्शी के अन्दर शाखाओं के रूप में देखे

जाते हैं। वह शब्दों का कम प्रयोग करते थे। वह विस्तार न करते थे। वह केवल मूलभूत सत्य की केवल एक जीवनदायी पुनः व्याख्या करते थे। उससे भारी संख्या में अनिवार्य निष्कर्ष निकलते हैं। भौतिक विज्ञान शास्त्री, जिसने एक बार अपने सारभूत स्वत्व को पुनः खोजने के लिए चक्र चालू कर दिया है, उसे भौतिक विज्ञान के खुद अपने क्षेत्र में मेहेरबाबा का टकराव भी मालूम होने लगेगा।

मेहेरबाबा उसी के समान हैं। वह जीवन के समस्त अंगों के माध्यम से खामोशी से प्रवाहित होते हैं, और इसको जानने के पहले मनुष्य को ज्ञात होता है कि समस्त जीवन मेहेरबाबा को मेहेरबाबा से व्यवहार करते हुये देखने का मनोहर खेल हो गया है। निश्चय ही यह व्यापकता में अन्तिम स्थिति है।

आइवी ओ० ड्यूस
डान ई० स्टीवेन्स

सैन फ्रान्सिसको, कैलीफोर्निया
अप्रैल, १९७३

"मैं कोई सम्प्रदाय, समाज अथवा संगठन स्थापित करने के लिये नहीं आया; और न कोई नया धर्म ही स्थापित करने के लिये आया हूँ। जो धर्म मैं प्रदान करूँगा वह अनेक के पीछे एक के ज्ञान की शिक्षा देता है। जो किताब मैं लोगों को पढ़वाऊँगा वह हृदय की किताब है जिसके हाथ में जीवन के रहस्य की कुंजी है। मैं मन और हृदय का आनन्ददायी मेल कर दूंगा। मैं सब धर्मों और सम्प्रदायों में नया जीवन डाल दूंगा, और उनको एक धागे में पिरोई हुई गुरियों के समान एकसाथ पिरो दूंगा।"

—मेहेरबाबा

विषय सूची

चार्ट

ईश्वर-वाणी

भाग १

चेतना की अवस्थायें

सब आत्मायें **परमात्मा** में थीं, **परमात्मा** में हैं, और **परमात्मा** में रहेंगीं।

आत्मायें सब **एक** हैं।

सब आत्मायें अनन्त और सनातन हैं। वे निराकार हैं।

सब आत्मायें **एक** हैं; आत्माओं में अथवा आत्मावत् उनकी सत्ता और अस्तित्त्व में कोई अन्तर नहीं है।

आत्माओं की चेतना में अन्तर होता है;
आत्माओं की चेतना की भूमिकाओं में अन्तर होता है;
आत्माओं के अनुभव में अन्तर होता है और इस प्रकार
आत्माओं की अवस्था में अन्तर होता है।

अधिकांश आत्माओं को **स्थूल शरीर** *(Gross Body)* की चेतना प्राप्त होती है;

कुछ आत्माओं को **प्राण** *(Subtle Body)* की चेतना प्राप्त होती है;

कुछ आत्माओं को **मन** *(Mental Body)* की चेतना प्राप्त होती है; और

बहुत थोड़ी आत्माओं को खुद की *(Self)* चेतना प्राप्त होती है।

अधिकांश आत्माओं को **स्थूल** जगत *(World)* का अनुभव प्राप्त होता है;

कुछ आत्माओं को **सूक्ष्म** जगत *(World)* का अनुभव प्राप्त होता है;

कुछ आत्माओं को **कारण** जगत *(World)* का अनुभव प्राप्त होता है; और

बहुत थोड़ी आत्माओं को **परमात्मा** का अनुभव प्राप्त होता है।
अधिकांश आत्मायें स्थूल भूमिका (**अन्न भूमिका**) पर होती हैं;
कुछ आत्मायें **प्राण भूमिका** (सूक्ष्म भूमिका) पर होती हैं;
कुछ आत्मायें **मनो भूमिका** पर होती हैं; और

बहुत थोड़ी आत्मायें मन भूमिका के परे भूमिका (**विज्ञान** भूमिका) पर होती हैं।

अधिकांश आत्मायें बहुत बन्धनयुक्त होती हैं; कुछ आत्मायें थोड़े बन्धनयुक्त होती हैं; कुछ आत्मायें बहुत थोड़े बन्धनयुक्त होती हैं; और बहुत थोड़ी आत्मायें बिल्कुल बन्धनरहित होती हैं।

विभिन्न चेतना, विभिन्न अनुभवों, और विभिन्न अवस्थाओं वाली ये सब आत्मायें **परमात्मा** के अन्तर्गत होती हैं।

अब, यदि सब आत्मायें **परमात्मा** के अन्तर्गत हैं और सब **एक** हैं, तब चेतना में, भूमिकाओं में, अनुभवों में और अवस्थाओं में क्यों अन्तर होता है ?

इस अन्तर का कारण यह है कि आत्माओं को भिन्न-भिन्न और विविध संस्कार प्राप्त होते हैं।*

अधिकांश आत्माओं को **स्थूल** संस्कार प्राप्त होते हैं; कुछ आत्माओं को **सूक्ष्म** संस्कार प्राप्त होते हैं; कुछ आत्माओं को **मनो** संस्कार प्राप्त होते हैं; और बहुत थोड़ी आत्मायें बिल्कुल संस्काररहित होती हैं।

स्थूल संस्कार रखने वाली आत्मायें, **सूक्ष्म** संस्कार रखने वाली आत्मायें, **मनो** संस्कार रखने वाली आत्मायें और कोई संस्कार **न** रखने वाली आत्मायें, सब **परमात्मा** के अन्तर्गत आत्मायें हैं और वे **सब एक** हैं।

स्थूल संस्कार-युक्त आत्माओं को स्थूल शरीर की चेतना प्राप्त होती है और अन्न भुवन का अनुभव प्राप्त होता है।

सूक्ष्म संस्कार-युक्त आत्माओं को प्राण *(Subtle Body)* की चेतना प्राप्त होती है और प्राण भुवन का अनुभव प्राप्त होता है।

मनोसंस्कार युक्त आत्माओं को कारण शरीर (मन) की चेतना

* [मेहेरबाबा, "संस्कारों का निर्माण और व्यापार" सम्भाषण, छठा संस्करण, ३ भाग (सैन फ्रान्सिसको : सूफ़ीज्म रिओरिएन्टेड, इनकारपोरेटेड, १९६७), १ : ५४-६४. *Ed.*] को भी देखिये।

प्राप्त होती है और मन भुवन‡ का अनुभव प्राप्त होता है।

संस्काररहित आत्माओं को खुद की (आत्मा की) चेतना प्राप्त होती है और परमात्मा का अनुभव प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्थूल संस्कार रखने वाली आत्मायें स्थूल जगत (अन्न भुवन) का अनुभव स्थूल शरीर के माध्यम से करती हैं; अर्थात्, वे देखने, सुनने, सूँघने, खाने, सोने, टट्टी करने और पेशाब करने के विभिन्न एवं विविध अनुभवों का अनुभव करती हैं। ये सब स्थूल जगत के अनुभव हैं।

सूक्ष्म संस्कारों वाली आत्मायें सूक्ष्म शरीर *(Subtle Body)* के माध्यम से सूक्ष्म जगत की क्रमश: तीन भूमिकाओं का अनुभव करती हैं, और इन तीन भूमिकाओं में उन्हें केवल देखने, सूँघने और सुनने के अनुभव प्राप्त होते हैं।

मनोसंस्कारों वाली आत्माओं को कारण शरीर अथवा **मन** के माध्यम से, मनोजगत [मन भुवन] में केवल देखने का अनुभव प्राप्त होता है, और यह देखना ईश्वर को देखना है।

कोई संस्कार **न** रखनेवाली आत्मायें, आत्मा *(Self)* के माध्यम से परमात्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव करती हैं।

जो आत्मा शरीर *[Gross Body]* की चेतना से युक्त होती है, **उस** आत्मा को सूक्ष्म शरीर *[Subtle Body]* की चेतना नहीं होती, कारण शरीर की चेतना नहीं होती, और आत्मा *[Self]* की चेतना नहीं होती।

जो आत्मा सूक्ष्म शरीर *[Subtle Body]* की चेतना से युक्त होती है, **उस** आत्मा को स्थूल शरीर का भान नहीं होता, कारण शरीर

‡

भुवन	शरीर		
गूढ़वादी	रहस्यवादी	सूफ़ी	वेदान्तिक
अन्न भुवन (जगत)	स्थूल शरीर	जिस्म-ए-कसीफ़	स्थूल शरीर
प्राण भुवन (जगत)	सूक्ष्म शरीर	जिस्म-ए-लतीफ़	सूक्ष्म शरीर (प्राण)
मन भुवन (जगत)	कारण शरीर	जिस्म-ए-अलताफ़	कारण शरीर (मानस)

का भान नहीं होता, और आत्मा *[Self]* का भान नहीं होता ।

जो आत्मा कारण शरीर की चेतना से युक्त होती है, **उस** आत्मा को स्थूल शरीर का भान नहीं होता, सूक्ष्म शरीर का भान नहीं होता, और आत्मा *[Self]* का भान नहीं होता ।

जो आत्मा आत्म-चेतना से युक्त होती है, **उस** आत्मा को स्थूल शरीर का भान नहीं होता, सूक्ष्म शरीर का भान नहीं होता, और कारण शरीर का भान नहीं होता ।

जो आत्मा अन्न भुवन के अनुभव से युक्त होती है, **उस** आत्मा को प्राण भुवन का अनुभव नहीं होता, न उसको मन भुवन *[Mental World]* का अनुभव होता है, और न परमात्मा का अनुभव होता है ।

जो आत्मा प्राण भुवन का अनुभव रखती है, उस आत्मा को अन्न भुवन का अनुभव नहीं होता, न उसको मन भुवन का अनुभव होता है और न परमात्मा का अनुभव होता है ।

जो आत्मा मन भुवन का अनुभव रखती है, **उस** आत्मा को अन्न भुवन का अनुभव नहीं होता, न प्राण भुवन का अनुभव होता है, और न परमात्मा का अनुभव होता है ।

जिस आत्मा को परमात्मा का अनुभव प्राप्त होता है, **उस** आत्मा को अन्न भुवन का अनुभव नहीं होता, न उसको प्राण भुवन का अनुभव होता है, और न उसको मन भुवन का अनुभव होता है । अर्थात्, जिस आत्मा को आत्मज्ञान प्राप्त होता है और परमात्मा का अनुभव प्राप्त होता है, उस आत्मा को स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की चेतना नहीं होती और अन्न भुवन, प्राण भुवन तथा मन भुवनों (जगतों) का अनुभव प्राप्त नहीं होता ।

इसका यह अर्थ है कि आत्म की चेतना प्राप्त करने के लिये और परमात्मा का अनुभव प्राप्त करने के लिये, आत्मा से स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरों की चेतना का लोप होना आवश्यक है । किन्तु जब तक आत्मा स्थूल, सूक्ष्म अथवा मनो संस्कारों से युक्त रहती है, तब तक उसको अटलरूप से तथा क्रमशः स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, अथवा कारण शरीर का भान रहता है, और स्थूल, सूक्ष्म और मन के अनुभवों से हठात् एवं अनिवार्यरूप से गुज़रना पड़ता है ।

इसका स्पष्ट कारण यह है कि जब तक आत्मा की चेतना में स्थूल संस्कारों की छाप रहती है, तब तक स्थूल शरीर के माध्यम से इन

स्थूल संस्कारों का अनुभव करने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं रहता।

इसी प्रकार, जब तक आत्मा की चेतना में सूक्ष्म संस्कारों की छाप रहती है, तब तक सूक्ष्म शरीर के माध्यम से इन सूक्ष्म संस्कारों का अनुभव करने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं रहता।

इसी प्रकार, जब तक आत्मा की चेतना में मन के संस्कारों की छाप रहती है, तब तक कारण शरीर के माध्यम से इन मनो संस्कारों का अनुभव करने के सिवाय अन्य प्रकार से छुटकारा नहीं मिलता।

जैसे ही स्थूल, सूक्ष्म और मनो संस्कार पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं अथवा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा की चेतना आपहीआप तथा प्रत्यक्षरूप से स्वयं आत्मा की ओर निर्देशित एवं केन्द्रीभूत होती है, और तब इस आत्मा के लिये अनिवार्यरूप से परमात्मा के अनुभव में निमग्न होने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं रह जाता।

अब, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर **आत्मा की छायायें मात्र हैं।** अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन (जगत) **परमात्मा की छायायें मात्र हैं।**

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर सीमित होते हैं, रूपधारी होते हैं और परिवर्तनशील एवं नश्वर होते हैं। अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन (जगत) मिथ्या हैं; वे शून्य हैं, कल्पना हैं और खाली स्वप्न हैं। केवल परमात्मा ही एकमेव सत्य है।

इसलिये जब आत्मा अपने स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के साथ अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन का अनुभव करती है, तब आत्मा अपनी ही छायाओं की सहायता से सत्यता में वस्तुतः परमात्मा की छायाओं का अनुभव करती है।

दूसरे शब्दों में, अपने सीमित और नश्वर रूप के द्वारा आत्मा असत्यता, शून्य, कल्पना और एक खाली स्वप्न का अनुभव करती है।

केवल जिस समय आत्मा परमात्मा का अनुभव अपनी सत्ता *(Self)* के साथ करती है, तभी वह यथार्थ का अनुभव यथार्थता के साथ करती है।

जब आत्मा को अपने स्थूल शरीर का भान रहता है, तब यह आत्मा स्थूल शरीर से अपनी एकरूपता करती है और अपने को स्थूल शरीरवत् मानती है।

इसका यह अर्थ है कि अनन्त, सनातन, रूपरहित आत्मा अपने को सीमित, नश्वर और रूपधारी पाती है।

यह अज्ञानता संस्कारों के कारण होती है। प्रारम्भ में आत्मा, जो शाश्वतः परमात्मा में स्थित है, ज्ञान प्राप्त करने की बजाय पहलेपहल संस्कारों के द्वारा अज्ञान का उपार्जन करती है।

जब आत्मा ख़ास संस्कारों के अनुसार कोई ख़ास शरीर प्राप्त करती है, तब वह अपने को ऐसा महसूस और अनुभव करती है कि वह वही ख़ास शरीर है।

आत्मा अपनी पत्थर-योनि में अपने को पत्थर अनुभव करती है। इसी अनुसार, कालान्तर में, आत्मा अनुभव तथा महसूस करती है कि वह धातु है, वनस्पति है, कीड़ा है, मछली है, पक्षी है, पशु है, पुरुष अथवा स्त्री है। स्थूल शरीर की चाहे जो किस्म हो और उसके रूप की चाहे जो शक्ल हो, आत्मा उस शरीर, आकार और शक्ल के साथ सहजतया अपना साहचर्य करती है, और ऐसा अनुभव करती है कि वह स्वयं वह शरीर, आकार एवं शक्ल है।

जब आत्मा को सूक्ष्म शरीर की चेतना होती है, तब यह आत्मा अनुभव करती है कि वह सूक्ष्म शरीर है।

जब आत्मा को कारण शरीर की चेतना प्राप्त हो जाती है, तब इस आत्मा को अनुभव होता है कि वह कारण शरीर है।

केवल संस्कारों के कारण ही (नुरूश-ए-अमल अथवा संस्कार) निराकार आत्मा, अनन्त आत्मा, अनुभव करती है कि वह अनिवार्यरूप से **स्थूल शरीर** है, अथवा सूक्ष्म शरीर (प्राण) है, अथवा कारण शरीर (मन) है।

आत्मा स्थूल शरीरों के माध्यम से अन्न भुवन का अनुभव करती हुई, असंख्य स्थूल शरीरों से साहचर्य करती है एवं सम्बन्ध-विच्छेद करती है। स्थूल शरीरों के साथ उसके इस साहचर्य तथा उनसे इस सम्बन्ध-विच्छेद को क्रमशः **जन्म** और **मृत्यु** कहते हैं।

सत्यता में जन्मों और मृत्युओं से रहित अस्तित्त्व रखने वाली, सनातन, अमर आत्मा को, **केवल संस्कारों के कारण ही,** असंख्य बार ज़न्मों और मृत्युओं का अनुभव करना पड़ता है।

जिस समय आत्मा को संस्कारों के कारण असंख्य जन्मों और मृत्युओं का यह अनुभव करना पड़ता है, तब उसको न केवल अन्न भुवन

का अनुभव करना पड़ता है, जो परमात्मा की एक छाया है और जो मिथ्या है, बल्कि उसके साथ-साथ आत्मा को स्थूल जगत के सुख और दुख, पुण्य और पाप का भी अनुभव करना पड़ता है।

आत्मा को, जो सुख और दुख, पुण्य और पाप से परे एवं स्वतन्त्र है, **केवल संस्कारों के कारण ही** दुख और सुख, पाप और पुण्य के अनुभव अनिवार्यरूप से करने पड़ते हैं।

अब इतना तो स्थापित हो गया कि जन्मों और मृत्युओं, सुख और दुख, पुण्य और पाप, के अनुभव केवल आत्मा के स्थूल शरीर के द्वारा प्राप्त अनुभव होते हैं, जबकि वह अन्न भुवन का अनुभव करती है; किन्तु आत्मा का स्थूल शरीर आत्मा की एक छाया है और अन्न भुवन परमात्मा की एक छाया है।

इस प्रकार आत्मा द्वारा अनुभव किये गये जन्मों और मृत्युओं, पुण्य और पाप, सुख और दुख के सभी अनुभव छाया के अनुभव मात्र हैं। इसलिये इस प्रकार अनुभव किया गया सबकुछ मिथ्या है।

आत्मा वास्तव में परमात्मा है

"आत्मा–परमात्मा" के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये हम **परमात्मा** की तुलना एक अनन्त महासागर से, एक सीमारहित महासागर से करते हैं। और **आत्मा** की तुलना इस महासागर में एक बूंद के रूप में करते हैं।

आत्मा कभी भी **परमात्मा** के बाहर नहीं हो सकती क्योंकि **परमात्मा** अनन्त और असीमित है। **आत्मा** सीमारहित की असीमितता के बाहर कैसे आ सकती है, अथवा उसके परे कैसे स्थान पा सकती है? इसलिये **आत्मा परमात्मा** में स्थित है।

इस मूल तथ्य को स्थापित करने के बाद कि **आत्मा परमात्मा में** स्थित है, हम एक क़दम आगे बढ़ते हैं और कहते हैं कि **आत्मा परमात्मा** है। यह **कैसे ?**

उदाहरण के लिये, हम एक असीमित महासागर की कल्पना करें। हम यह भी कल्पना करें कि हम इस असीमित महासागर के सीमारहित विस्तार से महासागर का एक बिन्दु-मात्र अलग करते हैं अथवा बाहर निकाल लेते हैं। तब इससे यह अर्थ निकलता है कि महासागर का यह बिन्दु, सीमारहित महासागर में रहते हुये, अलग होने

के पहले स्वयं महासागर है, और यह तटरहित महासागर में महासागर के बिन्दु के रूप में नहीं रहता, क्योंकि महासागर का प्रत्येक विन्दु, जब वह बूंद की परिमितताओं से सीमित नहीं होता, असीमित महासागर है।

केवल जिस समय महासागर का एक बिन्दु-मात्र असीमित महासागर से अलग कर लिया जाता है, अथवा एक बूंद के रूप में असीमित महासागर से निकाल लिया जाता है, तभी महासागर के इस बिन्दु-मात्र को तटरहित महासागर की एक बूंद के रूप में अपना अलग अस्तित्त्व प्राप्त होता है, और तभी महासागर का यह बिन्दु असीमित महासागर की एक बूंद के रूप में माना जाने लगता है।

दूसरे शब्दों में, अनन्त, असीमित और अपरिमित महासागर स्वयं अब उस अनन्त, असीमित और सीमारहित महासागर की केवल एक बूंद के रूप में माना जाता है। और उस अनन्त, अपरिमित तथा सीमारहित महासागर की तुलना में महासागर का यह अंश-मात्र, अथवा महासागर के अंश-मात्र की यह बूंद, अत्यन्त परिमित और अनन्त सीमाओं से अत्यन्त सीमित होती है। अर्थात्, अपारतया स्वतन्त्र बूंद अपने को अपार बन्धनों में पाती है।

इसी प्रकार, **आत्मा**, जिसकी तुलना हमने अनन्त महासागर के एक बिन्दु से की है, दिखाव में पृथक् अस्तित्त्व प्राप्त करती है, यद्यपि वह वास्तव में कभी भी सीमारहित की असीमितता, अनन्त परमात्मा, के बाहर नहीं हो सकती, जिस अनन्त परमात्मा की तुलना हमने अनन्त, अपरिमित तथा सीमारहित महासागर से की है।

किन्तु, जिस प्रकार महासागर के अंश-मात्र को महासागर की सतह पर एक बुलबुला के रूप में होने के द्वारा एक बूंद के रूप में अपनी सीमितता प्राप्त होती है, और बुलबुला महासागर के अंश-मात्र को अनन्त महासागर से प्रत्यक्षतया पृथक् अस्तित्त्व प्रदान करता है, उसी प्रकार **आत्मा**, जो **परमात्मा में** स्थित है और **परमात्मा है,** बुलबुला (अज्ञानता) की सीमाओं के माध्यम से, जिससे आत्मा अपने को ढांके रहती है, अनन्त **परमात्मा** से प्रत्यक्षतया पृथक् अस्तित्त्व का अनुभव करती है। जैसे ही अज्ञानता का बुलबुला फूटता है, वैसे ही आत्मा न केवल अपने को **परमात्मा** में पाती है वरन् अपने को परमात्मा के रूप में अनुभव करती है।

अज्ञान के बुलबुला से निर्मित, **आत्मा** द्वारा स्वरचित, इस सीमा के माध्यम से, **आत्मा** प्रत्यक्षतया **परमात्मा** से पृथक् अस्तित्व की परम्परा प्राप्त करती है। और, अनन्त **परमात्मा** से इस स्वरचित पृथक्ता के कारण, **आत्मा**, जो स्वयं अनन्त, अपार और सीमारहित है, अपनेआप को प्रत्यक्षरूप से अनन्त सीमाओं से अत्यन्त सीमित अनुभव करती है।

भाग २

मूल लहर और विकासशील चेतना की यात्रा

अब हम एक अचैतन्य आत्मा का विचार करें।

प्रारम्भ में आत्मा के संस्कार न थे और न उसको चेतना थी।

इसलिये इस स्थिति अथवा इस अवस्था में, आत्मा के स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, अथवा कारण शरीर न थे, **क्योंकि केवल स्थूल, सूक्ष्म और मनोसंस्कारों के अस्तित्व से ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का अस्तित्व हो सकता है,** और केवल इन शरीरों के अस्तित्व से ही अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन का अस्तित्व सम्भव हो सकता है।

इसलिये प्रारम्भ में आत्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की चेतना न थी और उसको खुद अपनी चेतना भी न थी, और तब आत्मा को स्वाभाविकतया अन्न भुवन, प्राण भुवन तथा मन भुवनों का अनुभव न था और उसे **परमात्मा** का अनुभव भी न था।

आत्मा की इस अनन्त, संस्काररहित, अचैतन्य शान्त अवस्था में एक लहर पैदा हुई जिसे हम **प्रथम लहर** (खुद को जानने की प्रथम लहर) कहते हैं।

प्रथम लहर परमात्मा में अन्तर्निहित थी।

जब हम परमात्मा की तुलना एक अनन्त, अपरिमित महासागर से करते हैं और जब हम कहते हैं कि परमात्मा में प्रथम लहर उठी, तो तुलना के शब्दों में यह भी कहा जा सकता था कि अनन्त, अपरिमित महासागर में प्रथम लहर अथवा **तरंग** *[The Whim]** उठी।

---

* [यह भी देखिये : मेहेरबाबा, "परात्पर परब्रह्म परमात्मा से उठी लहर", आध्यात्मिक पट पर मेहेरबाबा से निकली किरणें (सैन फ्रान्सिसको : सूफ़ीज़म रिओरिएन्टेड, इनकारपोरेटेड, १९५८), पृष्ठ ७–११ सम्पादक]

अनन्त में, परिमित और अपरिमित दोनों सम्मिलित हैं।

अब, क्या यह प्रथम लहर अपरिमित थी या परिमित थी, और क्या यह पहले परिमित थी और फिर अपरिमित थी अथवा इसका उल्टा थी ?

प्रथम लहर अत्यन्त परिमित थी, परन्तु यह प्रथम लहर अनन्त की थी।

यह अत्यन्त परिमित प्रथम लहर अनन्त **महासागर-परमात्मा** की थी, और अनन्त की इस अन्तर्निहित अत्यन्त परिमित प्रथम लहर का आविर्भाव अनन्त, असीमित महासागर के अन्तर्गत एक अत्यन्त परिमित बिन्दु तक सीमित था।

किन्तु, चूँकि अत्यन्त परिमित अन्तर्निहित प्रथम लहर के आविर्भाव का यह अत्यन्त परिमित बिन्दु, जो अत्यन्त सीमित भी था, अनन्त, असीमित महासागर में था, इसलिये प्रथम लहर के आविर्भाव का यह अत्यन्त परिमित बिन्दु भी असीमित था।

प्रथम लहर (जो अत्यन्त परिमित भी थी) के आविर्भाव के इस अत्यन्त परिमित बिन्दु के द्वारा, अनन्त की छाया (जो छाया, सत्यता की अवस्था में, अनन्त है) क्रमशः प्रकट हुई† और फैलती चली गई।

अन्तर्निहित प्रथम लहर के आविर्भाव का यह अत्यन्त परिमित बिन्दु "ॐ" **बिन्दु** अथवा **सृष्टि बिन्दु** कहलाता है और यह बिन्दु असीमित है।

प्रथम लहर की तरंगों के साथ ही साथ, अत्यन्त **स्थूल** प्रथम संस्कार का उदय हुआ, जिसने आत्मा को प्रत्यक्षरूप में अनन्त के अत्यन्त परम विपक्षी *[Opposite]* एवं अत्यन्त परिमित स्थूल प्रतिरूपवत् प्रस्तुत किया।

प्रथम लहर के इस अत्यन्त स्थूल प्रथम संस्कार के कारण, अनन्त आत्मा को प्रथम बार **अनुभव प्राप्त हुआ**। अनन्त आत्मा को जो यह प्रथम अनुभव हुआ वह यह था कि आत्मा *[Soul]* ने अपनी अनन्त, संस्काररहित, अचैतन्य अवस्था के साथ अपनी एकरूपता में एक विपरीतता का अनुभव किया।

विपरीतता के इस अनुभव ने अनन्त आत्मा की सनातन,

† इसका भावार्थ यह है कि अनन्त की छाया अत्यन्त परिमित बिन्दु से होकर निकली अथवा उससे रस कर बाहर आई।

अखण्ड्य सुस्थिरता में विकार पैदा कर दिया, और तत्क्षण एक प्रकार का विस्फ़ोट सा हुआ, जिसने अनन्त आत्मा के अखण्ड्य सन्तुलन और अचैतन्य शान्ति को एक ऐसी **ठमक अथवा भीषण धक्का** से भंग कर दिया जिससे अचैतन्य आत्मा की अचेतनता प्रथम वार ऐसी चेतना से भर गई कि आत्मा **परमात्मा** की अखण्ड्य अवस्था से प्रत्यक्ष रूप से पृथक् है। परन्तु चूंकि आत्मा अनन्त है, इसलिये उसकी प्रथम चेतना, जो उसको उसकी प्रत्यक्ष पृथक्ता के परम विपरीत एवं अत्यन्त स्थूल प्रथम संस्कार की ठमक अथवा धक्का से प्राप्त हुई थी, स्वाभाविकतया तथा अनिवार्य रूप से **परिमित** प्रथम चेतना थी।

आत्मा को प्राप्त हुई यह प्रथम चेतना आत्मा की खुद की मूल अनन्त अवस्था के परम द्वन्द्वों के अनुभव के अनुपात में स्पष्टतया अत्यन्त अत्यन्त-परिमित है।

तब इसका यह अर्थ है कि प्रारम्भ में, जबकि संस्काररहित अनन्त आत्मा पहले पहल संस्कारयुक्त हुई, आत्मा को अपने प्रथम संस्कार के रूप में एक बिल्कुल स्थूल संस्कार प्राप्त हुआ। और, जो प्रथम चेतना आत्मा को प्राप्त हुई वह अत्यन्त अत्यन्त-परिमित थी।

इसके साथ-साथ उस क्षण, अनन्त आत्मा की अचेतना को अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार की अत्यन्त अत्यन्त-परिमित प्रथम चेतना का यथार्थ अनुभव प्राप्त हुआ।

इस अनन्त एवं सनातन आत्मा को चेतना तो प्राप्त हुई, किन्तु संस्कार के द्वारा प्राप्त यह चेतना, आत्मा की **सनातन** अवस्था अथवा उसकी अनन्त सत्ता *[Self]* की चेतना न थी बल्कि वह अत्यन्त-स्थूल संस्कार द्वारा प्राप्त, अत्यन्त परिमित की चेतना थी।

अब, जैसाकि बाद में समझाया जायगा, यदि आत्मा को संस्कारों की चेतना है तब आत्मा को **अवश्य ही अनिवार्यरूप से इन संस्कारों का अनुभव करना चाहिये,** और संस्कारों का अनुभव करने के लिये, आत्मा की चेतना को उनका अनुभव उचित माध्यम के द्वारा करना आवश्यक है।

जैसे संस्कार होते हैं, वैसे ही संस्कारों के अनुभव होते हैं और उसी प्रकार से संस्कारों का अनुभव करने के लिये वैसे ही उचित माध्यम होना आवश्यक हैं। संक्षेप में, संस्कार अनुभवों को जन्म देते हैं, और संस्कारों का अनुभव करने के लिये उचित माध्यम का प्रयोग करने की आवश्यकता होती है।

इसलिये चूँकि अनन्त, सनातन और निराकार आत्मा को अब अत्यन्त, अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार की अत्यन्त, अत्यन्त-परिमित प्रथम चेतना प्राप्त है, इसलिये यह बिल्कुल स्पष्ट और अनिवार्य है कि आत्मा की इस अत्यन्त, अत्यन्त-परिमित प्रथम चेतना को अत्यन्त, अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार का अनुभव करने के लिये अत्यन्त, अत्यन्त-परिमित तथा अत्यन्त, अत्यन्त-स्थूल **प्रथम** माध्यम का उपयोग करना होगा।

इस स्थिति में सीमित मानवी समझ के लिये यहाँ यह उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि आत्मा की अत्यन्त, अत्यन्त-परिमित प्रथम चेतना ने, अत्यन्त, अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार का अनुभव करते समय, अपनेआप को एक अत्यन्त, अत्यन्त-परिमित तथा अत्यन्त, अत्यन्त-स्थूल समुचित माध्यम में केन्द्रित किया, और आत्मा (निराकार) को इस अत्यन्त, अत्यन्त-स्थूल तथा अत्यन्त, अत्यन्त-परिमित सीमित शरीर *[Form]* से अपने प्रथम माध्यम के रूप में साहचर्य करने के लिये एवं अपनी अनन्त, सनातन सत्ता *[Self]* से एकरूपता स्थापित करने के लिये अगम्यरूप से प्रवृत्त किया।

अखण्ड्य आत्मा की प्रथम चेतना, प्रथम माध्यम के द्वारा प्रथम संस्कार का अनुभव करती हुई, आत्मा में प्रथम शरीर के साथ साहचर्य करने तथा उसके साथ अपनी सनातन, अनन्त सत्ता की एकरूपता करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है, और वह प्रथम शरीर अत्यन्त-परिमित एवं अत्यन्त-स्थूल है, जो विपरीतता के बीज के रूप में था, और जो प्रथम लहर की तरङ्गों से स्वतः बो गया था और प्रथम बार, दुई की शक्ल में, अगोचररूप से अंकुरित तथा प्रकट हुआ था। जब आत्मा, अपनी नई प्राप्त हुई चेतना के द्वारा, अपना साहचर्य और अपनी एकरूपता परिमित, स्थूल शरीर अथवा माध्यम से करती है, तब आत्मा की चेतना अनन्त, सनातन, अखण्ड्य निराकार आत्मा को सचमुच ऐसा अनुभव कराती है कि वह वही परिमित, स्थूल शरीर है।

इस प्रकार, अचैतन्य आत्मा द्वारा प्राप्त की गई चेतना, परमात्मा से एकता एवं अभिन्नता के द्वारा **सत्यता** का अनुभव करने की बजाय, स्थूल शरीर के साथ अपनी अभिन्नता एवं द्वैत के द्वारा **माया** का अनुभव करती है, और स्थूल शरीर के साथ साहचर्य करती हुई तथा क्रमशः अधिक और अधिक चेतना प्राप्त अथवा विकसित करती हुई वह अनुभवों की शृङ्खला में विविध, असंख्य संस्कारों की वृद्धि करती है।

आत्मा द्वारा प्राप्त की गई चेतना विकास की प्रक्रिया के द्वारा किस प्रकार क्रमशः विकसित होती है, इस बात को और अधिक स्पष्ट-रूप से तथा यथातथ समझाने के लिये, हम चैतन्य आत्मा की उस अवस्था की परीक्षा करें जहाँ आत्मा की चेतना अपना साहचर्य पत्थर-योनि से अत्यन्त-सीमित और अत्यन्त-स्थूल माध्यम के रूप में करती है, और इस प्रकार आत्मा अपने को पत्थर ही मानने लगती है।

यथार्थ में आत्मा की चेतना, विविध योनियों के माध्यम से विविध अनुभव केवल असंख्य कालचक्रों और युगों तक करने के बाद, पत्थर-योनि का प्रयोग करती है, जिसकी अत्यन्त अत्यन्त-सीमित और अत्यन्त अत्यन्त-स्थूल गैस रूप सात मुख्य योनियाँ होती हैं, जिन्हें साधारण लोग न तो ठोस रूप से समझ सकते हैं और न उनकी कल्पना कर सकते हैं।

हम अपनी सुविधा के लिये ही, चैतन्य आत्मा की उस अवस्था से प्रारम्भ करते हैं जबकि वह पत्थर-योनि से साहचर्य तथा अपनी एक-रूपता करने लगती है।

पत्थर-योनि में भी विविध उपजातियाँ होती हैं, और आत्मा की चेतना को, आत्मा के संस्कारों की विविधता के अनुसार, एक के बाद एक, इन सब उपजातियों का उपयोग समुचित माध्यम के रूप में उन विविध और असंख्य संस्कारों का अनुभव करने के लिये करना पड़ता है जो पत्थर-योनि में एक के बाद एक संचित होते हैं।

यदि हम पत्थर को अत्यन्त-स्थूल संस्कारों के लिये एक माध्यम मानते हैं, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा, जो शाश्वतः परमात्मा में स्थित है, अब अत्यन्त-परिमित चेतना के साथ अत्यन्त-स्थूल संस्कारों का अनुभव पत्थर-योनि के माध्यम से करती है।

इस प्रकार से ही अनन्त, अखण्ड्य, सनातन आत्मा (निराकार) जो शाश्वतः परमात्मा में स्थित है, अपनी ही अत्यन्त-परिमित चेतना के द्वारा, अत्यन्त-परिमित स्थूल संस्कारों का अनुभव करती हुई, पत्थर की "सर्व-प्रथम" [*First-most*], अर्थात् प्रथम से प्रथम, उपजाति के अत्यन्त-परिमित स्थूल माध्यम का उपयोग करती है, और इस प्रकार आत्मा को अगोचररूप से, यद्यपि सहजतया, अपने को पत्थर मानना पड़ता है।

युगों और कालचक्रों के बाद अत्यन्त-परिमित स्थूल चेतना, पत्थर की सर्व-प्रथम उपजाति से आत्मा के अपनी एकरूपता करने के द्वारा

अत्यन्त-स्थूल परिमित संस्कारों के असंख्य और विविध अनुभव करने से, आत्मा में क्रमशः बहुत अधिक विकसित होती है। अन्ततः, जब अनुभव प्राप्त करने की एक हद आ जाती है, तब पत्थर की सर्व-प्रथम उपजाति से आत्मा की एकरूपता क्रमशः अलग हो जाती है और वह पत्थर-योनि छूट जाती है।

अब आत्मा एक अवधि तक बिना किसी माध्यम के बनी रहती है, यद्यपि अत्यन्त-परिमित चेतना, जो विकसित हो चुकी है, अभी छोड़ी हुई पत्थर-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के अत्यन्त-स्थूल परिमित संस्कारों के साथ-साथ बनी रहती है।

इस प्रकार आत्मा को, जो अब बिना किसी माध्यम अथवा रूप के है, अत्यन्त-परिमित संस्कारों की चेतना होती है किन्तु जब तक चेतना संस्कारों में केन्द्रित रहती है, तब तक आत्मा को उन संस्कारों का अनुभव करना अनिवार्य होता है।

इसलिये, त्यागी हुई पत्थर-योनि की सर्वप्रथम उपजाति के संस्कारों का अनुभव करने के लिये, त्यागी हुई पत्थर-योनि के संस्कारों में केन्द्रित आत्मा की चेतना पत्थर-योनि की सर्वप्रथम-अगली [*Most-Next*] उपजाति से साहचर्य करने लगती है। आत्मा पत्थर की इस उपजाति से अपनी एकरूपता करती है, और आत्मा की चेतना पत्थर-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति के नवीन माध्यम से साहचर्य करने के द्वारा, पत्थर-योनि की सर्व-प्रथम [*Most-First*] उपजाति के संस्कारों का अनुभव करने लगती है।

इस स्थल पर समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस समय आत्मा की चेतना एक शरीर अथवा माध्यम से अपनी एक-रूपता अलग करती है और इस प्रकार त्यागे हुये शरीर के केवल संस्कार अपने में बनाये रखती है, तो इन संस्कारों का अनुभव अन्य समुचित माध्यम के द्वारा किया जाता है जबकि आत्मा की चेतना अगले माध्यम अथवा शरीर से अपना साहचर्य करती है। किन्तु यह अगला माध्यम अथवा रूप सदैव योनि की अन्तिम उपजाति के एकीकृत संस्कारों से निर्मित एवं ढला होता है, जिस अन्तिम उपजाति से आत्मा ने साहचर्य किया था तथा अपनी अभिन्नता स्थापित की थी और जिन संस्कारों को आत्मा की चेतना शरीर से पृथक् होने पर भी अपने में बनाये रही थी।

इस प्रकार असंख्य संस्कारों के असंख्य विविध अनुभव, जिनका

अनुभव आत्मा की चेतना, एक के बाद एक, पत्थर-योनि की विविध और असंख्य उपजातियों के माध्यम से करती है, आत्मा की चेतना के अधिकतर विकास की ओर अग्रसर करते हैं।

युगों और कालचक्रों तक इस प्रकार अनुभव करने के बाद, अन्ततः एक स्थिति आती है जिसमें आत्मा की चेतना की प्रवृत्ति आत्मा को पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम [*Most–Last*] उपजाति से भी पृथक् करने के लिये होती है; और यद्यपि आत्मा पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से पृथक् हो जाती है अथवा उसे त्याग देती है, तथापि अब तक विकसित हुई अत्यन्त-परिमित चेतना त्यागी हुई पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के अत्यन्त-परिमित स्थूल संस्कारों के साथ बनी रहती है।

आत्मा को, जो अब बग़ैर किसी माध्यम अथवा शरीर के है, पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के अत्यन्त-परिमित स्थूल संस्कारों की चेतना होती है। आत्मा को इन संस्कारों का अनुभव अनिवार्यरूप से करना पड़ता है।

अब, सबसे-अन्तिम पत्थर-योनि के संस्कारों का अनुभव करने के लिये, आत्मा अन्य माध्यम से (धातु-योनि से) साहचर्य करती है तथा अपनी एकरूपता स्थापित करती है। धातु-योनि का यह माध्यम पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का पिण्ड मात्र है। दूसरे शब्दों में, धातु-योनि की सर्वप्रथम-उपजाति [*Most–first species*] पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों से निर्मित और ढली होती है।

इस प्रकार से ही अनन्त, सनातन निराकार आत्मा, जो शाश्वतः परमात्मा में स्थित है, विकसित चेतना के द्वारा पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के अत्यन्त-स्थूल परिमित संस्कारों का अनुभव करती है जिस दौरान में वह धातु-योनि की सर्व-प्रथम [*Most–First*] उपजाति के साथ अपना साहचर्य एवं अपनी एकरूपता करती है।

धातु–योनि की विविध उपजातियाँ होती हैं जिस प्रकार से पत्थर–योनि की होती हैं, और आत्मा की चेतना, विविध और असंख्य संचित संस्कारों का अनुभव करने के लिये, धातु–योनि की इन विविध असंख्य उपजातियों का उपयोग माध्यमों के रूप में करती है। इस प्रकार आत्मा की चेतना का विकास, विविध माध्यमों अथवा योनियों की

उपजातियों के द्वारा, विविध और असंख्य संस्कारों के विविध एवम् बहुगुने अनुभवों के अनुपात में गति प्राप्त एवम् संचित करता है।

इस प्रकार से ही आत्मा की चेतना के विकास-चक्र, निम्नतर और निम्नतर उपजातियों के त्यागी हुई योनियों के संस्कारों को अनुभव और खर्च करते हुये, उच्चतर और उच्चतर उपजातियों के रूपों के विकास के साथ-साथ और अधिक एवं महानतर चेतना का विकास करते जाते हैं।

आत्मा की चेतना पत्थर-योनि की अन्तिम-से-अन्तिम उपजाति के सभी संस्कारों को धातु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के माध्यम से अनुभव एवम् खर्च करती है। जब पत्थर-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के सब संस्कार खर्च हो जाते हैं, तब आत्मा की चेतना अपने को धातु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से पृथक् कर लेती है, और वह उस शरीर को त्याग देती है। परन्तु अब चेतना धातु-योनि* की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कार अपने में बनाये रखती है।

चैतन्य आत्मा धातु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के इन संस्कारों का अनुभव अब धातु-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति से अपना साहचर्य एवम् अनन्यता करने के द्वारा करती है। यह योनि धातु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड है, जिस उपजाति को चैतन्य आत्मा ने त्याग दिया है अथवा अपने से पृथक् कर दिया है। इस प्रकार धातु-योनियों की विविध उपजातियों की एक शृङ्खला का सृजन होता है और आत्मा (अथवा और अधिक ठीक अर्थ में, आत्मा की चेतना) धातु-योनि की प्रत्येक उपजाति से साहचर्य करती है तथा पृथक् होती है, और इस प्रकार विविध संस्कार खर्च करती तथा प्राप्त करती है। इन संस्कारों का अनुभव करती हुई, आत्मा, योनियों की उच्चतर

---

* [पाठक को यह न सोचना चाहिये कि वर्णन में बहुधा प्रदर्शित शब्द "*Mosts*", जैसे कि *Most-first*, *Most-Next*, *Most-finite*, दिखावटी अथवा व्यर्थ हैं क्योंकि किसी विशिष्ट योनि की प्रत्येक उपजाति—उदाहरणार्थ, पत्थर—उसी रूप की अत्यन्त-अगली [*Most-Next*] उपजाति पर जाने के पहले, किंचित् परिवर्तनों के साथ असंख्य बार दोहराई गई है, और इसका भेद प्रगट करना आवश्यक प्रतीत होता था। अत्यन्त-अन्तिम [*Most-Last*] का प्रयोग अत्यन्त हाल में सामने आये रूप के अर्थ के प्रयोग में लाया गया है, अर्थात् उपजाति का सर्वोच्च और नवीनतम विकासशील रूप, और उसको सबसे निचले पैमाने का रूप न समझना चाहिये।—सम्पादक]

और उच्चतर जातियों के विकास के साथ-साथ अधिक और अधिक चेतना का विकास करती है। युगों और कालचक्रों के बाद, आखिरकार आत्मा की चेतना धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपना साहचर्य करती और अनन्यता स्थापित करती है, और ऐसा वह धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के बिल्कुल पीछे वाली (*Most last but one*) उपजाति के संस्कारों का अनुभव करने के लिये करती है, जिस उपजाति को आत्मा ने अभी त्यागा है अथवा पृथक् कर दिया है।

परमात्मा में शाश्वतः स्थित यह आत्मा, अनन्त और निराकार होती हुई भी, अपने को धातुवत् पाती है।

धातु-योनि की विविध उपजातियों से अपनी अभिन्नता करती हुई आत्मा साथ-साथ, आत्मा के पत्थर-योनि तथा धातु-योनि के अनुभवों के अनुसार और उनके अनुपात में, स्थूल जगत का अनुभव करने लगती है।

धातु-योनि, जिसमें धातु की विविध उपजातियों की शृङ्खला सम्मिलित है, ऐसी प्राणरहित, जड़ और ठोस है जैसी कि पत्थर-योनि होती है जिसमें पत्थर की विविध उपजातियों की शृङ्खला सम्मिलित है।

आत्मा (अथवा अधिक सही अर्थ में, आत्मा की चेतना) पत्थर–और धातु-योनियों की उपजातियों से अपनी तद्रूपता करती हुई, अपने को पत्थर–अथवा–धातु-योनि से एकरूप पाती है और इस प्रकार अपनेआप को प्राणरहित, जड़ एवं ठोस अनुभव करती है, और इन प्राणरहित, जड़ एवं ठोस अवस्थाओं का अनुभव अन्न भुवन में पत्थर–एवम् धातु-योनियों के पूरे विकास के आद्योपान्त करती है।

आत्मा की ठोस, जड़ अवस्था वह अवस्था है जिसमें जीवन और प्राणशक्ति *[Energy]* चेतना के अधिकतर विकास के बावजूद, अब भी प्रसुप्त होते हैं। इसलिये इस ठोस अवस्था में शरीर (*Forms*) स्वेच्छा से अपनेआप इधर-उधर हिल-डुल नहीं सकते (अर्थात् वे स्वेच्छापूर्वक चेष्टा नहीं कर सकते), और इसलिये आत्मा की चेतना, इन ठोस योनियों से साहचर्य करती हुई जो जड़ एवं प्राणरहित हैं और जिनमें जीवन व प्राणशक्ति अब भी प्रसुप्त हैं, अन्न भुवन में लम्बरूप, सीधे खड़े आसन *(Positions)* स्थापित करने की बजाय लेटे हुये, समतल आसन स्थापित करने की ओर प्रवृत्त होती है।

धातु-योनियों की विविध, असंख्य उपजातियों के माध्यम से, विविध और असंख्य संस्कारों के विविध असंख्य स्थूल अनुभव युगों और कालचक्रों तक करने के बाद, आत्मा की चेतना अन्ततः अपने को धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से भी पृथक् कर लेती है। इस प्रकार धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से आत्मा की अनन्यता अलग हो जाती है और अब पुनः कुछ समय के लिये चैतन्य आत्मा की अनन्यता किसी योनि से नहीं रहती (अर्थात्, अब आत्मा रूपरहित है)।

चैतन्य आत्मा की इस अवस्था में, जबकि साहचर्य करने के लिये कोई योनि नहीं होती, आत्मा की चेतना केवल धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित रहती है, जो उपजाति अब त्याग दी गई है।

इस प्रकार चैतन्य आत्मा को इस अवस्था में—अर्थात् एकरूपता करने के लिये कोई शरीर प्राप्त न होने की अवस्था में—केवल धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों की चेतना रहती है।

चैतन्य आत्मा को, धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के इन संस्कारों को, आत्मा की चेतना द्वारा इन संस्कारों का अनुभव किसी उचित माध्यम से करते हुये, खर्च करना अनिवार्य है, और धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के इन संस्कारों को खर्च अथवा शून्य करने के लिये उपयुक्त माध्यम वनस्पति-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति है। वनस्पति-योनि की यह उपजाति केवल धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड है।

अब जबकि आत्मा की चेतना वनस्पति-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से साहचर्य करती है, तो इस प्रकार चैतन्य आत्मा उस शरीर से अपनी एकरूपता करने के लिये प्रवृत्त होती है और वास्तव में अपने को वनस्पति-योनि की वही उपजाति पाती है, और उसको अपनी इस सत्यता का बिल्कुल स्मरण नहीं रहता कि वह (आत्मा) अनन्त, सनातन एवम् निराकार है—शाश्वतः परमात्मा में स्थित है।

वनस्पति-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति की इस अवस्था में आत्मा की चेतना अन्न भुवन का अनुभव, क्रमशः पत्थर-योनियों, धातु-योनियों और वनस्पति-योनियों के संस्कारों के अनुसार तथा अनुपात में करती है जिन संस्कारों को उसने अनुभव किया था, और अनुभव करती है।

इस प्रकार अन्न भुवन का अनुभव करती हुई, आत्मा की यह

चेतना, जो वनस्पति-योनि से अभिन्नता किये है, अब अनुभव करती है कि वह वनस्पति है और आधे जड़ एवम् आधे चेतन गुणों से युक्त है। चैतन्य आत्मा अब इस वनस्पति-रूप के द्वारा अन्न भुवन में एक सीधा, खड़ा आसन ग्रहण करती है। यद्यपि यह शरीर स्वतन्त्ररूप से अपनेआप खड़ा नहीं हो सकता, तो भी यह एक दृढ़ सीधा खड़ा आसन स्थापित करने के लिये दूसरे साधनों का सहारा लेता है। फिर भी, इस शरीर में अब भी आत्मा की चेतना को स्वेच्छिक गति का अनुभव प्रदान करने की क्षमता नहीं होती।

वनस्पति-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के माध्यम से धातु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कार ख़र्च कर चुकने के बाद, आत्मा की चेतना वनस्पति-योनि की इस सर्व-प्रथम उपजाति को त्याग देती है (अर्थात्, आत्मा की चेतना अपने को वनस्पति-योनि की इस सर्व-प्रथम उपजाति से पृथक् कर लेती है)।

पुनः, चेतन आत्मा अनुभव करती है कि वह निराकार है, यद्यपि उसमें विकसित चेतना विद्यमान है। आत्मा की यह विकसित चेतना अब अभी त्यागी अथवा विच्छिन्न की गई वनस्पति-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित है।

वनस्पति-योनि की इस सर्व-प्रथम उपजाति के इन संस्कारों का अनुभव करने के लिये, आत्मा की चेतना, जो अब शरीररहित है, एक उपयुक्त माध्यम का उपयोग करती है, जो वनस्पति-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति है। वनस्पति-योनि की यह सर्वप्रथम-अगली उपजाति वनस्पति-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड ही है।

वनस्पति-योनि की सर्व-प्रथम अगली उपजाति के माध्यम से साहचर्य करने के द्वारा, आत्मा की चेतना अन्न भुवन में वनस्पति-योनि की अभी त्यागी गई उस अन्तिम उपजाति के संस्कारों का अनुभव करती है। जब ये संस्कार विविध अनुभवों के द्वारा ख़र्च हो जाते हैं, तो आत्मा की चेतना वनस्पति-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति से अपना साह-चर्य त्याग देती है और पुनः अनुभव करती है कि वह (आत्मा) शरीर से रहित है और उसकी चेतना केवल योनि की उस आख़ीर में त्यागी गई उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित है। पुनः, इन संस्कारों का अनुभव करने के लिये आत्मा की चेतना आत्मा को वनस्पति-योनि की अगली

उपजातियों से अनन्यता स्थापित करने के लिये प्रवृत्त करती है। एक शरीर से दूसरे शरीर में, संस्कारों, अनुभवों एवं योनि की उपजातियों की यह शृङ्खला ऐसी जुड़ी होती है कि वह स्पष्टतः अनन्त है; और आत्मा की चेतना को, अपना पूर्ण एवं भरपूर विकास करने के लिये, इस दुष्ट चक्र में फँसने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता, जब तक कि इस प्रकार प्राप्त हुई आत्मा की चेतना, आत्मा को बलपूर्वक यह अनुभव नहीं कराती कि आत्मा अनन्त, सनातन परमात्मा में शाश्वतः स्थित है, तथा आत्मा को अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवम् अनन्त आनन्द का अनुभव नहीं कराती।

जो बात महत्वपूर्ण और सावधानी से ध्यान में रखने योग्य है, वह यह है कि जैसे-जैसे आत्मा की चेतना का विकास-चक्र आगे और आगे को घूमता है, और अगले *[Further]* एवम् अधिकतर संस्कारों के अनुभवों के द्वारा और आगे तथा और अधिक चेतना का विकास करता है, वैसे ही वैसे चेतना का यह विकास, निम्नतर और निम्नतर उपजातियों के संस्कार खर्च करते हुये जो उपजातियाँ छूटती अथवा विच्छिन्न होती जाती हैं, अनिच्छित रूप से ऊँची और ऊँची उपजातियों के शरीरों की एक शृङ्खला का विकास करता है।

इस प्रकार किसी ख़ास योनि की, जैसे पत्थर-योनि अथवा धातु-योनि अथवा वनस्पति-योनि अथवा अन्य योनियों की, उपजातियों की शृङ्खला के आदि और अन्त के बीच की दरार, जिसका प्रारम्भ ख़ास प्रकार की योनि की निम्नतम अथवा अपरिपक्व सर्व-प्रथम उपजाति से होता है और अन्त उस ख़ास प्रकार की योनि की सर्वोच्च अथवा सर्वोत्कृष्ट-अन्तिम उपजाति में होता है, क्रमशः उच्चतर और उच्चतर प्रकार के रूपों के विकास के द्वारा भरती जाती है जो (शरीर) संस्कारों के लिये उपयुक्त होते हैं और आत्मा की चेतना को उच्चतर और उच्चतर चेतना की प्राप्ति में सहायक होते हैं। संक्षेप में, किसी ख़ास योनि के रूप की सर्व-प्रथम और सबसे-अन्तिम **उपजाति** के बीच में, उस ख़ास योनि के रूपों की विविध **उपजातियां** होती हैं, जिनका विकास आत्मा की विकसित होती हुई चेतना की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है।

अपने विषय पर आकर, जब आत्मा की चेतना वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपना साहचर्य करती है तब चेतन आत्मा वनस्पति-योनि की इस सबसे-अन्तिम उपजाति से अपनी तद्रूपता स्थापित

करती है और वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के बिल्कुल पीछे वाली (*Most last but one*) उपजाति के संस्कारों का अनुभव करती है, जो आख़ीर में त्यागी गई थी।

जब वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के बिल्कुल पीछे वाली इस उपजाति के सब संस्कार ख़र्च हो जाते हैं, तब चेतन आत्मा वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपनी अनन्यता नहीं रखती क्योंकि आत्मा की चेतना ने अपने को वनस्पति-योनि की उस सबसे-अन्तिम उपजाति से पृथक् कर लिया है। चेतन आत्मा युगों और कालचक्रों तक मन भुवन के द्वारा अखिल वनस्पति जगत के अनुभव, पृथ्वी पर और जल में, करने के बाद अन्ततः वनस्पति-योनि की इस सबसे-अन्तिम उपजाति को भी त्याग देती है।

यद्यपि चेतन आत्मा ने वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति को त्याग दिया है और अब आत्मा शरीररहित है, तथापि उसमें विकसित चेतना विद्यमान है, और इस चेतना के द्वारा चेतन आत्मा को (यद्यपि वह निराकार है) अभी त्यागी हुई वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का भान है।

ये संस्कार अनिवार्यरूप से ख़र्च अथवा शून्य होने चाहिये।

इन संस्कारों का अनुभव करने के लिये आत्मा की चेतना अब एक उपयुक्त माध्यम से साहचर्य करती है ताकि वह वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के इन संस्कारों का अनुभव कर सके। इसलिये, आत्मा की चेतना इस प्रकार आत्मा को कोड़ा-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से अपनी अभिन्नता करने के लिये प्रवृत्त करती है। यह स्मरण रहे कि कीड़ा-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति का यह रूप वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड होने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

जिस समय चेतन आत्मा इस प्रकार अपना तादात्म्य कीड़ा-योनि की इस सर्व-प्रथम उपजाति से करती है, तब आत्मा अनुभव करती है कि वह वास्तव में कीड़ा है और उसे कीड़ा होने की चेतना हो जाती है।

अब तक विकसित हुई सम्पूर्ण चेतना के रहते हुये भी, आत्मा को अब भी अपनी यथार्थता की, अपनी मूल, अनन्त, सनातन अवस्था की, शाश्वतः परमात्मा में होने की, चेतना नहीं है। यद्यपि आत्मा शाश्वतः परमात्मा में स्थित है और अनन्त एवम् निराकार है, तथापि

यह आंशिक-चैतन्य आत्मा अपने को अन्न भुवन में सचमुच कीड़ावत् अनुभव करती है। यह अज्ञानता है। यह अज्ञानता तब तक दृढ़तापूर्वक स्थिर रहती है जब तक कि आत्मा की चेतना पूर्णतया विकसित नहीं हो जाती, किन्तु उस समय भी जबकि आत्मा को पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है, वह फिर भी अज्ञानता से ढकी कही जाती है क्योंकि यह पूर्णतया विकसित चेतना आत्मा को तत्क्षण आत्मज्ञान प्रदान नहीं करती। इसके विपरीत, जब आत्मा की चेतना पूर्णतया विकसित हो जाती है तब आत्मा अपने को मनुष्य मानने लगती है।

जब आत्मा की चेतना कीड़ा-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से अपना साहचर्य करती है, तो वह वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कार अनुभव तथा खर्च करती है। जब वनस्पति-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के सब संस्कार उन विविध अनुभवों के द्वारा, जो आत्मा कीड़ा-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से तादात्म्य रखते हुये प्राप्त करती है, पूर्णतया खर्च अथवा शून्य हो जाते हैं, तब कीड़ा-योनि की यह सर्व-प्रथम उपजाति पृथक् अथवा विच्छिन्न हो जाती है और पुनः आत्मा शरीररहित हो जाती है यद्यपि उसको कीड़ा-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों की चेतना रहती है।

कीड़ा-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के इन संस्कारों का अनुभव एवम् शून्य होना आवश्यक है। इसलिये आत्मा की चेतना अन्य समुचित माध्यम से अपना साहचर्य करती है और आत्मा को कीड़ा-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति से तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त करती है। कीड़ा-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति का यह माध्यम कीड़ा-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड मात्र है।

कृमि-योनि की एक के बाद एक उपजातियाँ इस प्रकार ढलती और विच्छिन्न होती जाती हैं जबकि आत्मा की चेतना कृमि-रूपों के विविध उपजातियों के माध्यम से कृमि-रूपों के विविध संस्कारों का अनुभव करने के द्वारा तीव्रता से विकसित होती है।

जब चेतन आत्मा को कीड़ा होने की चेतना होती है और वह अपने को स्थूल जगत में कीड़ावत् अनुभव करती है, तब आत्मा की चेतना को प्रथम बार स्वेच्छिक गति का अनुभव होता है, और उसको यह अनुभव भी होता है कि वह एक चेतन प्राणी है। कृमि-चेतना से युक्त इस आत्मा को अधिक और उच्चतर चेतना प्राप्त करने के अपने

घोर प्रयास में अन्न भुवन में यह भी अनुभव होता है कि वह बिना रीढ़-वाला प्राणी है, और बाद की स्थिति में रीढ़वाली अन्य अवस्थाओं में, वह अपने को विविध उपजातियों के अंगरहित सरकने वाले कृमि-शरीर अनुभव करती है। कृमि-योनि की अन्य विविध उपजातियों में आत्मा की चेतना सरकने के द्वारा, दो पैरों के द्वारा और कभी कभी पैरों के अनेक जोड़ों के द्वारा, और कभी कभी पैरों के जोड़ों एवम् पङ्खों के द्वारा, स्वेच्छापूर्वक चलने फिरने के अगले विविध अनुभव प्राप्त करती है। कभी-कभी कृमि-चेतना से युक्त आत्मा कृमि-योनि की विविध उपजातियों में अपने को रोयेंदार सतह रखने वाली, कभी कभी चिकनी एवम् रेशमी सतह रखने वाली, और कभी कभी खुरदरी अथवा परतदार सतह (खाल) रखने वाली अनुभव करती है। कृमि–चेतना से युक्त आत्मा अधिक तीक्ष्णतया यह भी अनुभव करती है कि उसको अपनी जीविका तथा अपने जीवन की रक्षा के लिये भी संघर्ष करना है, और उसको ऐन्द्रिय ज्ञान तथा जीवन प्राप्त है।

कृमि-चेतना युक्त यह आत्मा, कृमि-योनि की विविध उपजातियों के विविध एवं असंख्य संस्कारों के उच्चतर एवं विविध असंख्य अनुभवों के द्वारा चेतना के अधिकतर विकास के साथ, यह भी अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करती है कि वह जल और थल दोनों में रहने वाला प्राणी है—यह कि न केवल वह स्वेच्छापूर्वक पृथ्वी पर चल सकता है बल्कि उसे जल में भी स्वतन्त्रता एवम् गति प्राप्त है।

चेतना के विकास को और स्पष्टरूप से समझने में अपनी ही सुविधा के लिये, हम कीट-योनि में कीड़ों [*Worms*] की विविध उपजातियाँ, मकोड़ों [*Insects*] की विविध उपजातियाँ, रेंगनेवाले जन्तुओं की विविध उपजातियाँ और जल व थल दोनों में रहने वाले जन्तुओं की विविध उपजातियाँ, सम्मिलित करते हैं,। संक्षेप में, कृमि-योनि में हम वे सब उपजातियाँ सम्मिलित करते हैं जो सरकने की ओर प्रवृत्त होती हैं अथवा जो अंग, पैर और पंख रखते हुये भी सरकती हैं, अथवा जो अन्यथा पक्षियों एवम् चौपायों से भिन्न होती हैं।

पत्थर–एवम् धातु-योनियाँ सीधे अथवा खड़े आसन से युक्त न थीं। वे लेटे आसनोंवाली योनियाँ थीं। उनका आसन [*Posture*] समतल और पटबल था। वनस्पति-योनि को सीधे और खड़े आसन की स्थिति प्राप्त थी। अब कृमि योनि पुनः पटबल प्रकार की योनि है जो

सीधा अथवा खड़ा आसन नहीं रखती बल्कि लम्बा लेटा आसन रखने की ओर उन्मुख है।

जब आत्मा की चेतना कृमि-योनि की विविध उपजातियों के सब संस्कारों का अनुभव कर चुकने के बाद, कृमि-योनि की अन्तिमतम उपजाति से अपना साहचर्य करती है, और जब चैतन्य आत्मा युगों और कालचक्रों तक अन्न भुवन में असंख्य विविध अनुभव करने के बाद अन्ततः कृमि-योनि की इस सबसे-अन्तिम उपजाति को त्यागती अथवा विच्छिन्न करती है, तब चेतन आत्मा पुनः अपने को योनियों के साथ साहचर्य अथवा एकरूपता से रहित पाती है। परन्तु अब आत्मा की चेतना अभी त्यागी हुई कृमि-योनि की सबसे अन्तिम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित है। इन संस्कारों का अनुभव के द्वारा खर्च होना अनिवार्य है, और अनुभव प्राप्त करने के लिये एक उपयुक्त माध्यम की आवश्यकता है।

इसलिये आत्मा की चेतना, कृमि-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति-के संस्कारों में केन्द्रित होने के कारण, एक समुचित माध्यम से साहचर्य करती है और आत्मा को कृमि-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों को अनुभव एवम् खर्च करने के हेतु मछली-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से अपनी एकरूपता करने के लिये प्रवृत्त करती है। मत्स्य-योनि की यह सर्व-प्रथम उपजाति कृमि-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड मात्र है।

जैसे ही कृमि-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कार अनुभव के द्वारा खर्च हो जाते हैं, मत्स्य-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति छूट जाती है अथवा पृथक् हो जाती है क्योंकि आत्मा की चेतना इस सर्व-प्रथम उपजाति से विच्छिन्न हो जाती है और चेतन आत्मा उस उपजाति से और आगे तादात्म्य नहीं रखती।

यद्यपि चेतन आत्मा अब एक बार फिर से कुछ समय के लिये निराकार होती है, तथापि आत्मा की चेतना मत्स्य-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित होती है।

मत्स्य-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के इन संस्कारों का अनुभव करने के लिये, आत्मा की चेतना एक उपयुक्त माध्यम से अपना साहचर्य करती है, और चेतन आत्मा को मत्स्य-योनि की सर्व-प्रथम-अगली उपजाति से अपनी अभिन्नता करने के लिये प्रवृत्त करती है। यह उपजाति मत्स्य-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड मात्र है।

युगों और कालचक्रों के बाद, और मत्स्य-योनियों की विविध एवम् असंख्य उपजातियों के असंख्य विविध संस्कार अनुभव तथा खर्च हो चुकने के बाद, आत्मा की चेतना मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से लगी निकटतम पिछली [*Most–last but one*] उपजाति के संस्कारों को अनुभव एवम् खर्च करने के लिये अन्ततः मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से साहचर्य करती है।

इस प्रकार मत्स्य-चेतना-युक्त आत्मा, मत्स्य-योनि की विविध उपजातियों से एकरूपता किये हुये, अन्न भुवन में अनुभव करती है कि वह जल के भीतर एक जीवित प्राणी है; जीवन, ऐन्द्रिय ज्ञान और स्वेच्छिक गति से सम्पन्न रीढ़वाला एक जन्तु है; सुफ़नों के रूप में परिवर्तित अंगों (यदि कोई हों) से युक्त एक चेतन प्राणी है; और उसको जीविका तथा जीवन की रक्षा के लिये संघर्ष करना है। मत्स्य-चेतना रखने वाली आत्मा सीधे, खड़े आसन का अनुभव नहीं करती बल्कि वह अपने को लम्बायमान प्राणी अनुभव करती है जो कभी भी स्थूल जगत में अपना सिर ऊँचा एवम् खड़ा नहीं कर सकती और न स्थूल जगत में एक सीधा खड़ा दृढ़ आसन रख सकती है।

जैसे ही आत्मा की चेतना मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से निकटतम पिछली उपजाति के सब संस्कारों को अनुभव तथा खर्च कर चुकती है, वैसे ही मत्स्य-चेतनायुक्त आत्मा अन्ततः मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपनी अभिन्नता त्याग देती है अथवा विच्छिन्न कर देती है। इस प्रकार चेतन आत्मा पुनः अपने को किसी भी शरीर से तादात्म्य न रखती हुई पाती है, किन्तु आत्मा की चेतना को मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का भान रहता है।

मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के इन संस्कारों को अनुभव एवम् ख़र्च करना अनिवार्य होता है, इसलिये आत्मा की चेतना अब अन्य उपयुक्त माध्मम से अपना साहचर्य करती है और इस प्रकार आत्मा को खग-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त करती है, जो मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का केवल मूर्तमान पिण्ड है।

खग-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति में आत्मा की चेतना मत्स्य-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों को अनुभव एवम् ख़र्च करती है।

जब सब संस्कार इस प्रकार शून्य हो जाते हैं तब आत्मा की चेतना अपने को खग-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से विच्छिन्न कर लेती है, और चेतन आत्मा खग-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति से अपनी तद्रूपता त्याग देती है अथवा पृथक् कर लेती है (अर्थात् खग-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति छूट जाती है)।

चेतन आत्मा एक बार फिर रूपरहित हो जाती है किन्तु यह चेतना तत्काल त्यागी हुई खग-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित रहती है।

इन संस्कारों को अनुभव तथा ख़र्च करना अनिवार्य है, इसलिये आत्मा की चेतना आपहीआप खग-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति से साहचर्य करती है और चेतन आत्मा को खग-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त करती है, जो उपजाति खग-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड मात्र है।

आगे और आगे, युगों और युगों, कालचक्रों और कालचक्रों तक, किसी ख़ास योनि की विविध उपजातियों से क्रमिक साहचर्यों एवम् विच्छिन्नताओं की यह शृङ्खला दृढ़तापूर्वक तथा उत्तरोत्तर आगे को बढ़ती जाती है, और चेतन आत्मा के अनुभव करने के लिये असंख्य विविध संस्कार उत्पन्न करती है। सीधे अथवा परोक्षरूप से, आत्मा की चेतना के ये साहचर्य एवम् विच्छिन्नतायें चेतना के विकास-चक्र को गतिमान रखने के लिये निपट आवश्यक होते हैं। स्थूल-योनियों का विकास चेतना के विकास के विश्वव्यापी कारखाने में केवल एक उपफल है।

खग-चेतनायुक्त आत्मा खग-योनि की एक उपजाति से, फिर दूसरी उपजाति से, और फिर खग-योनि की अगली उपजातियों से, नियमित क्रमानुसार, एक के बाद एक, से तादात्म्य करती है जब तक कि आत्मा की चेतना अन्न भुवन में विविध संस्कारों का अनुभव करती हुई खग-योनि की सभी उपजातियों से पारी-पारी से साहचर्य एवम् विच्छिन्नता नहीं कर लेती, और इस प्रकार चेतन आत्मा की विकसित चेतना आत्मा को खग-योनि की प्रत्येक उपजाति में अपने को पक्षी अनुभव करने के लिये प्रवृत नहीं करती है। यद्यपि आत्मा शाश्वतः निराकार है और परमात्मा में स्थित है, फिर भी खग-चेतनायुक्त आत्मा अटलतया अनुभव करती है कि वह स्थूल जगत में पृथ्वी पर, जल पर तथा वायु में

खग संस्कारों का अनुभव करती हुई पक्षी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वह अपने को हवा में उड़ने की क्षमता रखने वाला रीढ़दार परिन्दा अनुभव करती है, और दो पैरों की सहायता से वह खड़ा आसन धारण किये रहती है।

अन्ततः, युगों और कालचक्रों तक खग-योनि की विविध उप-जातियों के अनुभव करने के वाद, खग–चेतनायुक्त आत्मा खग-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति त्याग देती है अथवा छोड़ देती है जैसे ही आत्मा की चेतना खग-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपने को विच्छिन्न कर लेती है; और आत्मा की चेतना अपने को उसी क्षण खग–योनि की सबसे–अन्तिम उपजाति से विच्छिन्न करती है जबकि चेतना खग–योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति की निकटतम पिछली *[Most-last but one]* उपजाति के सब संस्कार खग–योनि की सबसे–अन्तिम उपजाति में अनुभव एवम् पूर्णतया खर्च कर लेती है।

पुनः, चेतन आत्मा कुछ समय के लिये अपने को निराकार अनुभव करती है, यद्यपि अधिकतर एवम् उच्चतर विकसित हुई चेतना उसमें सदैव विद्यमान रहती है। (एक बार आत्मा को चेतना प्राप्त हो जाने पर, यह चेतना अधिक और अधिक विकसित होती जाती है और इसका ह्रास अथवा अधःपतन कभी नहीं हो सकता)। निराकार आत्मा की यह चेतना अब अभी त्यागी गई खग–योमि की सबसे–अन्तिम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित हो जाती है। आत्मा की चेतना को ये संस्कार अनिवार्यरूप से ख़र्च अथवा शून्य करने चाहिये। इसलिये चेतना एक उपयुक्त माध्यम से अपना साहचर्य करती है और इस प्रकार चेतन आत्मा को पशु–योनि की सर्व–प्रथम उपजाति से अपनी अभिन्नता करने के लिये प्रवृत्त करती है। पशु–योनि की इस सर्व–प्रथम उपजाति के माध्यम से आत्मा की चेतना खग–योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों को अनुभव करती है, जो उपजाति त्याग दी गई थी अथवा जिससे चेतना विच्छिन्न हो गई थी। पशु–योनि की यह सर्व–प्रथम उपजाति त्यागी हुई खग–योनि की सबसे–अन्तिम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड मात्र है।

पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के शरीर के माध्यम से खग-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों के असंख्य और विविध अनुभव कर लेने के बाद, आत्मा की चेतना खग-योनि की सबसे-अन्तिम

उपजाति के संस्कार पूर्णतया खर्च कर चुकती है और तब आपहीआप अपने को पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति की एकरूपता से पृथक् कर लेती है। इस रीति से चेतन आत्मा उस उपजाति का शरीर पृथक् कर देती है, अथवा उस उपजाति का शरीर छूटा या मृत कहा जाता है।

पुनः, उच्चतर विकसित चेतना से युक्त चेतन आत्मा अपने को शरीर से रहित पाती है, यद्यपि आत्मा की चेतना पशु–योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के (अभी त्यागे अथवा पृथक् किये गये) शरीर के संस्कारों में केन्द्रित है।

आत्मा की चेतना को पशु–योनि की सर्व–प्रथम उपजाति के (अभी पृथक् किये गये) शरीर के इन संस्कारों को अनुभव एवम् खर्च करना आवश्यक है, जिससे चेतन आत्मा को किसी योनि के किन्हीं संस्कारों का भान न रहे, किन्तु उसको केवल अपनी ही अनन्त, सनातन अवस्था की **सत्यता** की चेतना रहे, जो शरीरों अथवा संस्कारों से रहित है, और वह ज्ञान के द्वारा परमात्मा का अनुभव करे। जिस चेतना से आत्मा को अपनी सत्ता *(Self)* की यथार्थता का अनुभव होगा, वह चेतना अपनेआपके लिये प्राप्त करने के हेतु, आत्मा के घोर परिश्रम करने के आद्योपान्त, चेतन आत्मा एक प्रत्यक्ष अनन्त शृङ्खला में आगे और आगे बढ़ती जाती है जिसमें वह अपनी चेतना सहित उन सब संस्कारों को अनुभव एवम् खर्च करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करती रहती है जो आत्मा की चेतना को केन्द्रित करते हैं, और जो इस चेतना को शाश्वतः परमात्मा में स्थित आत्मा *(Self)* की सत्यता से हटाकर स्थूल जगत की माया की दुई की चेतना की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार आत्मा की चेतना, आत्मा की सत्यता की चेतना प्राप्त करने के प्रयास में, निरन्तर अज्ञान के पर्दे से ढकी रहती है।

इसलिये, इस प्रयोजन से कि आत्मा की चेतना पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का अनुभव करे और इस प्रकार उन्हें खर्च करे, आत्मा की चेतना अब आपहीआप एक समुचित माध्यम से साहचर्य करती है जो पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का अनुभव करा सकेगा और उस अनुभव में सहायक होगा। आत्मा की चेतना का यह साहचर्य चेतन आत्मा को पशु-योनि की निकटतम-अगली *[Most-next]* उपजाति से अपना तादात्म्य करने के लिये बलपूर्वक प्रवृत्त करता है। पशु-योनि की यह निकटतम-अगली उपजाति पशु-योनि

की सर्वं-प्रथम उपजाति के संस्कारों के एकीकृत रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

जैसे ही पशु-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति के माध्यम से संस्कारों का अनुभव हो चुकता है और वे खर्च हो जाते हैं, वैसे ही चेतन आत्मा इस उपजाति को त्याग देती है। पुनः आत्मा अनुभव करती है कि उसका तादात्म्य स्थूल जगत के किसी स्थूल शरीर से नहीं है।

जब पशु-चेतनायुक्त आत्मा योनि से रहित होती है तब आत्मा की चेतना अभी त्यागी अथवा विच्छिन्न की गई पशु-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित रहती है।

इन संस्कारों का भी अनिवार्यतः अनुभव होना चाहिये जिससे वे शून्य हो सकें, और इसलिये आत्मा की चेतना आपहीआप अपना साहचर्य अन्य माध्यम से करती है और यह साहचर्य चेतन आत्मा को पशु-योनि की अगली से निकटतम-अगली उपजाति के साथ अपना तादात्म्य करने के लिये बलपूर्वक प्रवृत्त करता है।

पशु-योनि की विविध उपजातियों से युगों और कालचक्रों तक विविध एवम् असंख्य साहचर्य तथा विच्छिन्नतायें कर चुकने के बाद, आत्मा की चेतना अन्ततः अपना साहचर्य उस माध्यम से करती है जो चेतन आत्मा को पशु-योनि की अन्तिम उपजातियों की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त करता है।

पशु-चेतनायुक्त आत्मा के अनुभवों के पूरे दौरान में, आत्मा ने (अपनी चेतना के द्वारा) अन्न भुवन के अन्तर्गत जल में, पृथ्वी पर और पृथ्वी की सतह के नीचे, पशुओं की विविध उपजातियों से अपना तादात्म्य किया, और एक चेतन प्राणी के अनुभवों का साक्षात्कार किया—सामान्यतः जीवन, ऐन्द्रिय ज्ञान और स्वेच्छिक गति से सम्पन्न एक चतुष्पदीय गठन वाले प्राणी के रूप में, जिसे पूरे समय कभी शाकाहारी प्राणी के रूप में और कभी मांसाहारी प्राणी के रूप में जीविका एवम् प्राणरक्षा के लिये संघर्ष करना पड़ा था। पशु-योनि को खड़े अथवा सीधे आसन की स्थिति प्राप्त नहीं होती और उसकी प्रवृत्ति अधोमुख सिर से नीचे की ओर देखने की होती है। तथापि बन्दर अत्यन्त विकसित प्रकार के पशु हैं और वे मनुष्यों के समान सीधे खड़े होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं।

अन्ततः, युगों और कालचक्रों के बाद, जब पशु-योनि की सबसे-

अन्तिम उपजाति के माध्यम से पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से निकटतम पिछली (*Most-last but one*) उपजाति के सब संस्कारों का अनुभव हो जाता है और वे खर्च हो जाते हैं, तब आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपने को पृथक् कर लेती है और चेतन आत्मा अब आगे अपनी एकरूपता पशु-योनि की इस सबसे-अन्तिम उपजाति से नहीं रखती। इस योनि से आत्मा की चेतना अपना सम्बन्ध तोड़ देती है और उसे त्याग अथवा छोड़ देती है। फिर भी, यद्यपि पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति विच्छिन्न हो गई है तथापि पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कार छूट जाते हैं अथवा क़ायम रहते हैं, और आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित होती है। एक बार फिर चेतन आत्मा शरीररहित हो जाती है।

इन संस्कारों का अनुभव अनिवार्यतः होना चाहिये, और इन्हें शून्य होना चाहिये, इसलिये आत्मा की चेतना अब अपना साहचर्य अन्य उपयुक्त माध्यम से करती है और आत्मा अपनी ही चेतना के द्वारा सर्व-प्रथम मनुष्य-योनि से अपनी एकरूपता करने के लिये बलात् प्रवृत्त होती है। यह मनुष्य-योनि पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों की एकीकृत आकृति अथवा साँचा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

सर्व-प्रथम मनुष्य-योनि के माध्यम से आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों के अनुभव प्राप्त एवं ख़र्च करती है।

जब आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का अनुभव कर लेती है और उन्हें शून्य कर चुकती है, तब आत्मा की चेतना अपने को सर्व-प्रथम मनुष्य-योनि से पृथक् कर लेती है और चेतन आत्मा आपहीआप शरीर का साहचर्य त्याग देती है। इसे सर्व-प्रथम मनुष्य-देह की **मौत** कहते हैं। किन्तु आत्मा की चेतना अब सर्व-प्रथम मानव-देह के संस्कारों में केन्द्रित होती है और अब कुछ समय के लिये आत्मा रूपरहित हो जाती है।

इस प्रयोजन से कि सर्व-प्रथम मानव-योनि के संस्कारों का अनुभव किया जा सके और उन्हें ख़र्च किया जा सके, आत्मा की चेतना अन्य समुचित माध्यम से अपना साहचर्य करती है, और तब चेतन आत्मा निकटतम–अगले मनुष्य–शरीर से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त होती है, जो अगला मानव-शरीर अभी त्यागे अथवा अलग किये गये

खग संस्कारों का अनुभव करती हुई पक्षी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वह अपने को हवा में उड़ने की क्षमता रखने वाला रीढ़दार परिन्दा अनुभव करती है, और दो पैरों की सहायता से वह खड़ा आसन धारण किये रहती है।

अन्ततः, युगों और कालचक्रों तक खग-योनि की विविध उप-जातियों के अनुभव करने के बाद, खग–चेतनायुक्त आत्मा खग-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति त्याग देती है अथवा छोड़ देती है जैसे ही आत्मा की चेतना खग-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपने को विच्छिन्न कर लेती है; और आत्मा की चेतना अपने को उसी क्षण खग–योनि की सबसे–अन्तिम उपजाति से विच्छिन्न करती है जबकि चेतना खग–योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति की निकटतम पिछली *[Most-last but one]* उपजाति के सब संस्कार खग–योनि की सबसे–अन्तिम उपजाति में अनुभव एवम् पूर्णतया खर्च कर लेती है।

पुनः, चेतन आत्मा कुछ समय के लिये अपने को निराकार अनुभव करती है, यद्यपि अधिकतर एवम् उच्चतर विकसित हुई चेतना उसमें सदैव विद्यमान रहती है। (एक बार आत्मा को चेतना प्राप्त हो जाने पर, यह चेतना अधिक और अधिक विकसित होती जाती है और इसका ह्रास अथवा अधःपतन कभी नहीं हो सकता)। निराकार आत्मा की यह चेतना अब अभी त्यागी गई खग–योमि की सवसे–अन्तिम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित हो जाती है। आत्मा की चेतना को ये संस्कार अनिवार्यरूप से ख़र्च अथवा शून्य करने चाहिये। इसलिये चेतना एक उपयुक्त माध्यम से अपना साहचर्य करती है और इस प्रकार चेतन आत्मा को पशु–योनि की सर्व–प्रथम उपजाति से अपनी अभिन्नता करने के लिये प्रवृत्त करती है। पशु–योनि की इस सर्व–प्रथम उपजाति के माध्यम से आत्मा की चेतना खग–योनि की सवसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों को अनुभव करती है, जो उपजाति त्याग दी गई थी अथवा जिससे चेतना विच्छिन्न हो गई थी। पशु–योनि की यह सर्व–प्रथम उपजाति त्यागी हुई खग–योनि की सबसे–अन्तिम उपजाति के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड मात्र है।

पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के शरीर के माध्यम से खग-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों के असंख्य और विविध अनुभव कर लेने के बाद, आत्मा की चेतना खग-योनि की सबसे-अन्तिम

उपजाति के संस्कार पूर्णतया खर्च कर चुकती है और तब आपहीआप अपने को पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति की एकरूपता से पृथक् कर लेती है। इस रीति से चेतन आत्मा उस उपजाति का शरीर पृथक् कर देती है, अथवा उस उपजाति का शरीर छूटा या मृत कहा जाता है।

पुनः, उच्चतर विकसित चेतना से युक्त चेतन आत्मा अपने को शरीर से रहित पाती है, यद्यपि आत्मा की चेतना पशु–योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के (अभी त्यागे अथवा पृथक् किये गये) शरीर के संस्कारों में केन्द्रित है।

आत्मा की चेतना को पशु–योनि की सर्व–प्रथम उपजाति के (अभी पृथक् किये गये) शरीर के इन संस्कारों को अनुभव एवम् खर्च करना आवश्यक है, जिससे चेतन आत्मा को किसी योनि के किन्हीं संस्कारों का भान न रहे, किन्तु उसको केवल अपनी ही अनन्त, सनातन अवस्था की **सत्यता** की चेतना रहे, जो शरीरों अथवा संस्कारों से रहित है, और वह ज्ञान के द्वारा परमात्मा का अनुभव करे। जिस चेतना से आत्मा को अपनी सत्ता *(Self)* की यथार्थता का अनुभव होगा, वह चेतना अपनेआपके लिये प्राप्त करने के हेतु, आत्मा के घोर परिश्रम करने के आद्योपान्त, चेतन आत्मा एक प्रत्यक्ष अनन्त शृङ्खला में आगे और आगे बढ़ती जाती है जिसमें वह अपनी चेतना सहित उन सब संस्कारों को अनुभव एवम् खर्च करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करती रहती है जो आत्मा की चेतना को केन्द्रित करते हैं, और जो इस चेतना को शाश्वतः परमात्मा में स्थित आत्मा *(Self)* की सत्यता से हटाकर स्थूल जगत की माया की दुई की चेतना की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार आत्मा की चेतना, आत्मा की सत्यता की चेतना प्राप्त करने के प्रयास में, निरन्तर अज्ञान के पर्दे से ढकी रहती है।

इसलिये, इस प्रयोजन से कि आत्मा की चेतना पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का अनुभव करे और इस प्रकार उन्हें खर्च करे, आत्मा की चेतना अब आपहीआप एक समुचित माध्यम से साहचर्य करती है जो पशु-योनि की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों का अनुभव करा सकेगा और उस अनुभव में सहायक होगा। आत्मा की चेतना का यह साहचर्य चेतन आत्मा को पशु-योनि की निकटतम-अगली *[Most-next]* उपजाति से अपना तादात्म्य करने के लिये बलपूर्वक प्रवृत्त करता है। पशु-योनि की यह निकटतम-अगली उपजाति पशु-योनि

की सर्व-प्रथम उपजाति के संस्कारों के एकीकृत रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

जैसे ही पशु-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति के माध्यम से संस्कारों का अनुभव हो चुकता है और वे खर्च हो जाते हैं, वैसे ही चेतन आत्मा इस उपजाति को त्याग देती है। पुनः आत्मा अनुभव करती है कि उसका तादात्म्य स्थूल जगत के किसी स्थूल शरीर से नहीं है।

जब पशु-चेतनायुक्त आत्मा योनि से रहित होती है तब आत्मा की चेतना अभी त्यागी अथवा विच्छिन्न की गई पशु-योनि की सर्वप्रथम-अगली उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित रहती है।

इन संस्कारों का भी अनिवार्यतः अनुभव होना चाहिये जिससे वे शून्य हो सकें, और इसलिये आत्मा की चेतना आपहीआप अपना साहचर्य अन्य माध्यम से करती है और यह साहचर्य चेतन आत्मा को पशु-योनि की अगली से निकटतम-अगली उपजाति के साथ अपना तादात्म्य करने के लिये बलपूर्वक प्रवृत्त करता है।

पशु-योनि की विविध उपजातियों से युगों और कालचक्रों तक विविध एवम् असंख्य साहचर्य तथा विच्छिन्नताएँ कर चुकने के बाद, आत्मा की चेतना अन्ततः अपना साहचर्य उस माध्यम से करती है जो चेतन आत्मा को पशु-योनि की अन्तिम उपजातियों की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त करता है।

पशु-चेतनायुक्त आत्मा के अनुभवों के पूरे दौरान में, आत्मा ने (अपनी चेतना के द्वारा) अन्न भुवन के अन्तर्गत जल में, पृथ्वी पर और पृथ्वी की सतह के नीचे, पशुओं की विविध उपजातियों से अपना तादात्म्य किया, और एक चेतन प्राणी के अनुभवों का साक्षात्कार किया—सामान्यतः जीवन, ऐन्द्रिय ज्ञान और स्वेच्छिक गति से सम्पन्न एक चतुष्पदीय गठन वाले प्राणी के रूप में, जिसे पूरे समय कभी शाकाहारी प्राणी के रूप में और कभी मांसाहारी प्राणी के रूप में जीविका एवम् प्राणरक्षा के लिये संघर्ष करना पड़ा था। पशु-योनि को खड़े अथवा सीधे आसन की स्थिति प्राप्त नहीं होती और उसकी प्रवृत्ति अधोमुख सिर से नीचे की ओर देखने की होती है। तथापि बन्दर अत्यन्त विकसित प्रकार के पशु हैं और वे मनुष्यों के समान सीधे खड़े होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं।

अन्ततः, युगों और कालचक्रों के बाद, जब पशु-योनि की सबसे-

अन्तिम उपजाति के माध्यम से पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से निकटतम पिछली (*Most-last but one*) उपजाति के सब संस्कारों का अनुभव हो जाता है और वे खर्च हो जाते हैं, तब आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति से अपने को पृथक् कर लेती है और चेतन आत्मा अब आगे अपनी एकरूपता पशु-योनि की इस सबसे-अन्तिम उपजाति से नहीं रखती। इस योनि से आत्मा की चेतना अपना सम्बन्ध तोड़ देती है और उसे त्याग अथवा छोड़ देती है। फिर भी, यद्यपि पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति विच्छिन्न हो गई है तथापि पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कार छूट जाते हैं अथवा क़ायम रहते हैं, और आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों में केन्द्रित होती है। एक बार फिर चेतन आत्मा शरीररहित हो जाती है।

इन संस्कारों का अनुभव अनिवार्यतः होना चाहिये, और इन्हें शून्य होना चाहिये, इसलिये आत्मा की चेतना अब अपना साहचर्य अन्य उपयुक्त माध्यम से करती है और आत्मा अपनी ही चेतना के द्वारा सर्व-प्रथम मनुष्य-योनि से अपनी एकरूपता करने के लिये बलात् प्रवृत्त होती है। यह मनुष्य-योनि पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों की एकीकृत आकृति अथवा साँचा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

सर्व-प्रथम मनुष्य-योनि के माध्यम से आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों के अनुभव प्राप्त एवं खर्च करती है।

जब आत्मा की चेतना पशु-योनि की सबसे-अन्तिम उपजाति के संस्कारों का अनुभव कर लेती है और उन्हें शून्य कर चुकती है, तब आत्मा की चेतना अपने को सर्व-प्रथम मनुष्य-योनि से पृथक् कर लेती है और चेतन आत्मा आपहीआप शरीर का साहचर्य त्याग देती है। इसे सर्व-प्रथम मनुष्य-देह की **मौत** कहते हैं। किन्तु आत्मा की चेतना अब सर्व-प्रथम मानव-देह के संस्कारों में केन्द्रित होती है और अब कुछ समय के लिये आत्मा रूपरहित हो जाती है।

इस प्रयोजन से कि सर्व-प्रथम मानव-योनि के संस्कारों का अनुभव किया जा सके और उन्हें खर्च किया जा सके, आत्मा की चेतना अन्य समुचित माध्यम से अपना साहचर्य करती है, और तब चेतन आत्मा निकटतम–अगले मनुष्य–शरीर से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त होती है, जो अगला मानव-शरीर अभी त्यागे अथवा अलग किये गये

सर्व-प्रथम मनुष्य-देह के संस्कारों की एकीकृत आकृति अथवा साँचा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अगली देह, और फिर उसके बाद की देहों से, चेतन आत्मा का यह तादात्म्य करना मनुष्य का **जन्म** कहलाता है।

जिस क्षण आत्मा की चेतना सर्व-प्रथम मानव-देह से साहचर्य करती है उसी क्षण **चेतना का विकास भरपूर** *[Full]* **और पूर्ण** *[Complete]* **हो जाता है।*** चूँकि आत्मा की चेतना‡ मनुष्य-योनि में पूर्णतया विकसित हो जाती है, इसलिये योनि का विकास भी पूरा हो जाता है, और चेतन आत्मा के सर्व-प्रथम मानव-शरीर से तादात्म्य कर लेने पर अब किन्हीं नवीन उच्चतर योनियों का विकास नहीं होता। संक्षेप में, मानव-योनि में आत्मा की चेतना पूर्ण और भरपूर हो जाती है। चेतना के विकास की प्रक्रिया ठप्प हो जाती है। मनुष्य-योनि चेतना के विकास के दौरान में विकसित हुई सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट योनि है। इसलिये मनुष्य में चेतना पूर्णतया विकसित होती है और युगों एवम् कालचक्रों के बाद रचा तथा साँचे में ढाला गया शरीर अत्यन्त पूर्ण शरीर अथवा माध्यम होता है। इसलिये आत्मा की चेतना इस पूर्ण माध्यम का उपयोग सब संस्कारों का अनुभव करने तथा उनको **पूर्णतया** खर्च करने के लिये करती है जिससे पूर्णतया चैतन्य आत्मा प्रत्येक संस्कार से शून्य हो जाती है, और इस प्रकार वह परमात्मा में अपनी यथार्थ, शाश्वत एवम् अनन्त अवस्था का साक्षात्कार करने में समर्थ होती है।

---

* [मेहेरबाबा इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि ऐसे विषय अब आगे के लिये अनिश्चित न पड़े रहने चाहिये, यद्यपि वह मानते हैं कि विकास और पुनर्जन्म में विश्वास अथवा अविश्वास किसी भी प्रकार से मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति को न तीव्र करता है और न उसमें रोड़े अटकाता है। वह हमको विकास एवम् पुनर्जन्म का आध्यात्मिक महत्व निम्नलिखित शब्दों में बतलाते हैं : "विकासशील संघर्ष से ही आत्मा पूर्ण चेतना विकसित करने में समर्थ होती है जैसी पूर्ण चेतना मनुष्य-योनि में होती है, और उद्देश्य प्राप्त हो जाने के बाद, विकासशील यात्रा के उपफलों (नक्श-ए-अमल अथवा संस्कारों) को, चेतना अक्षत बनाये रखते हुये, शून्य करना होता है। इसलिये पुनर्जन्म की प्रक्रिया इस प्रयोजनार्थ होती है कि आत्मा दुख और सुख की भट्टी से गुज़रने के द्वारा संस्कारों को नष्ट करने में समर्थ हो सके।" सम्पादक]

‡ पूरक में पूरक नोट १ भी पढ़िये। गणना से अंकित सब प्रसंग पूरक में दिये गये हैं।

भाग ३

विभिन्न जगतों के विशेष लक्षण

मनुष्य-योनि में चेतना का पूर्ण विकास प्राप्त करने के लिये, विकास प्रक्रिया को सात बड़ी छलाँगें लेनी पड़ी थीं, जैसे, पाषाण से धातु, धातु से वनस्पति, वनस्पति से कृमि, कृमि से मत्स्य, मत्स्य से खग, खग से पशु, और अन्ततः पशु से मनुष्य। इनमें से प्रत्येक भिन्न भिन्न विशेषतायें रखती हैं।

पाषाण जगत और धातु जगत की विशेषतायें

पाषाण-योनियों और धातु-योनियों में, आत्मा अन्न भुवन के अपने मूल अनुभव प्राप्त करती है। पाषाण जगत के समान, धातु जगत जड़ और ठोस होता है। दोनों जगतों के विस्तार के अन्तर्गत प्रचुर विविध उपजातियाँ होती हैं। पाषाणों और धातुओं की ठोस अवस्थाओं में, जीवन और प्राणशक्ति प्रसुप्त होते हैं। इसलिये वे जड़ मानी जाती हैं। पाषाण-योनियाँ और धातु-योनियाँ अपनेआप इधर-उधर नहीं चल सकतीं, अर्थात् उनको स्वेच्छिक गति प्राप्त नहीं होती। इस कारण से चेतना, जो अपना साहचर्य इन योनियों से करती है, अपना प्रतिपादन एक पड़ी हुई समतल स्थिति के द्वारा (सीधी खड़ी अथवा लम्बरूप खड़े आसन के द्वारा स्थापित करने की बजाय) स्थूल जगत में स्थापित करती है।

वनस्पति जगत की विशेषतायें

वनस्पति जगत में, चेतना अपने को आधी चेतन और आधी जड़ अनुभव करती है। वनस्पति-योनि की बढ़ी हुई चेतना एक सीधे खड़े अथवा लम्बरूप आसन की स्थिति के द्वारा अन्न भुवन में अपने अस्तित्व

का दृढ़ स्थापन करती है। वनस्पति-योनियों को सीधे खड़े आसन की स्थिति बनाये रखने के लिये पृथ्वी अथवा चट्टान जैसी कुछ अन्य वस्तुओं की सहायता लेनी पड़ती है। वे न तो अपनेआप खड़ी हो सकती हैं और न स्वेच्छापूर्वक एक जगह से दूसरी जगह जा सकती हैं क्योंकि उनकी जड़ एक स्थान में जमी रहती है।

कृमि जगत की विशेषतायें

कृमि-चेतना में आत्मा स्वेच्छिक गति के अनुभव प्राप्त करती है। वह अपने को चेतन (*animate*) अनुभव करती है। अधिक तथा और आगे चेतना प्राप्त करने के अपने घोर प्रयास में, कृमि-चेतनायुक्त आत्मा अपने को अन्न भुवन में पहले एक रीढ़रहित जन्तु और बाद में एक रीढ़वाला जन्तु अनुभव करती है, और कीड़ों की विविध उपजातियों में सरकती रहती है। वह दो पैरों से, कभी पैरों के अनेक जोड़ों से, और कभी दो पैरों तथा दो पंखों से रेंगती हुई स्वेच्छापूर्वक चलती-फिरती है। कीड़े रोयेंदार, चिकनी, रेशमी, खुरदरी अथवा परतदार सतहों से युक्त हो सकते हैं। कीड़ा को अस्तित्व और जीवन की रक्षा के लिये संघर्ष से होकर गुज़रना पड़ता है और वह ऐन्द्रिय ज्ञान एवम् जीवन से सम्पन्न होता है। कभी वह जल तथा थल में रहनेवाला जन्तु होता है, अर्थात् वह स्वेच्छापूर्वक पृथ्वी पर चल-फिर सकने के साथ-साथ, जल में भी चल-फिर सकता है। इस व्याख्या के अभिप्राय के लिये, कृमि-योनि के अन्तर्गत अपनी उपजाति के सब कीड़े, मकोड़े, रेंगने वाले जन्तु तथा जल और थल में रहने वाले जन्तु आते हैं। जब उनके पैर और पंख होते हैं, तब भी उनकी प्रवृत्ति रेंगने की ओर होती है और वे पक्षियों से तथा चौपायों से भिन्न होते हैं। कृमि योनि पड़ी स्थिति की होती हैं, उसको सीधा अथवा खड़ा आसन प्राप्त नहीं होता और वह लम्बी औंधी पड़ी होती है।

मत्स्य जगत की विशेषतायें

मत्स्य-चेतनायुक्त आत्मा मछली की विविध उपजातियों से अपनी एकरूपता करती है और अन्न भुवन का अनुभव पानी के अन्दर एक जीवित प्राणी के रूप में (जीवन और ऐन्द्रिय ज्ञान तथा स्वेच्छिक गति

से सम्पन्न एक रीढ़ वाले जन्तु के रूप में) करती है, और उसके सुफ़ने होते हैं। वह जीविका तथा जीवन रक्षा के लिये संघर्ष से गुज़रती है। मत्स्य-चेतनायुक्त आत्मा अन्न भुवन में अपने अस्तित्व का स्थापन सीधे खड़े आसन की स्थिति के द्वारा नहीं करती, किन्तु वह अपने को लम्बी पड़ी जैसी अनुभव करती है, जो कभी भी अपना सिर ऊँचा और खड़ा नहीं करती।

खग जगत की विशेषतायें

खग-योनि नवीन अनुभवों से चेतना में वृद्धि करती है क्योंकि, रीढ़वाला परिन्दा होने के कारण, वह वायु में उड़ने में, तथा अपने दो पैरों की सहायता से अन्न भुवन में खड़ा आसन रखने में, समर्थ होती है।

पशु जगत की विशेषतायें

पशु-योनि में चेतना का विस्तार और अधिक हो जाता है, क्योंकि वह पशु जगत में अस्तित्व रखनेवाली उच्चतर विविध उपजातियों के माध्यम से नवीन अनुभव प्रदान कर सकती है। चौपाये जन्तु जीवन, ऐन्द्रिय ज्ञान, और स्वेच्छापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं, और उन्हें अपने अस्तित्व एवम् जीवन-रक्षा के लिये संघर्ष का सामना करना पड़ता है। वे कभी शाकाहारी होते हैं और कभी मांसाहारी। पशु चेतना अन्न भुवन में अपने अस्तित्व का स्थापन सीधे अथवा खड़े आसन की स्थिति के द्वारा नहीं करती, बल्कि उसकी प्रवृत्ति अधोमुख सिर से नीचे की ओर देखने की होती है। तथापि बन्दर अत्यन्त विकसित प्रकार के पशु हैं, और वे मनुष्यों के समान सीधे खड़े होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं।

मानव जगत की विशेषतायें

मनुष्य-योनि में आत्मा की विकासशील चेतना को पूर्ण विकास प्राप्त हो जाता है। चेतना के विकास की प्रक्रिया का अन्त मानव योनि में हो जाता है। इस स्थल पर चेतना भरपूर और पूर्ण हो जाती है।

जब मानव प्राणी जन्म लेता है, तब वह केवल लम्बा लेट सकता है और वह इस अवस्था का अनुभव काफी समय तक करता रहता है। परन्तु वह जल्दी ही पहले सीधे बैठने की और फिर सीधे खड़े होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है। आत्मा की पूर्णतया विकसित मानवी चेतना अन्ततः अन्न भुवन में अपने अस्तित्व का दृढ़ स्थापन सीधे खड़े आसन की स्थिति के द्वारा करती है।‡

---

‡ उच्चगामी आत्मा

"मैं खनिज के रूप में मरा और पौधा बन गया,
मैं पौधे के रूप में मरा और पशु बन गया,
मैं पशु के रूप में मरा और मनुष्य बना।
मैं क्यों डरूँ ? मरने से मेरा कब ह्रास हुआ ?
तथापि, एक बार फिर, मैं मनुष्यरूप में मरूँगा, और
भाग्यशाली फ़रिश्तों के साथ ऊँचे उड़ूँगा; परन्तु मुझे
फ़रिश्तापन से भी ऊँचे जाना होगा; ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब नश्वर है।
जब मैं अपनी देव आत्मा का त्याग कर दूंगा,
मैं वह बन जाऊँगा जिसकी कल्पना मन ने कभी नहीं की।
ओह, मेरा अस्तित्व न रहे ! क्योंकि अनास्तित्व
मुखरित स्वर में घोषित करता है,
'हम लौटकर उसी के पास जायँगे' !"

—रूमी

भाग ४

पुनर्जन्म और चेतना का संस्काररहित समतुलत्व

आत्मा अपनी चेतना के विकास के दौरान में, **चेतनतया** अपनी तद्रूपता विविध सीमित स्थूल रूपों से करती हुई, साथ-साथ, यद्यपि **अचेतनरूप से,** अपना तादात्म्य अपने सीमित सूक्ष्म शरीर और अपने सीमित कारण शरीर से भी कर रही थी, जो अपना साहचर्य आत्मा के साथ ठीक मूल लहर की चेतना के विकास के पूरे दौर में ठोस, सजातीय अचेतन सम्बन्ध बनाये रखे थे।

यद्यपि आत्मा, अपने को बारम्बार तथा चेतनतया परिमित स्थूल योनियों से पृथक् करती थी जो, अधिकतर एवं उच्चतर चेतना का विकास करने के दौरान में प्राप्त हुये संस्कारों का अनुभव करने के हेतु, माध्यम के रूप में कार्य करती थीं, तथापि वह (आत्मा) कभी भी अपनेआप को, चेतनतया अथवा अचेतनतया, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से, अपने परिमित सूक्ष्म शरीर से तथा अपने परिमित कारण शरीर से पृथक् न कर पाती थी।

इसके विपरीत, जब आत्मा सीमित स्थूल योनियों के किसी एक माध्यम से अपना तादात्म्य हटाती थी, तब आत्मा का अपने सीमित सूक्ष्म रूप से अचैतन्य साहचर्य आत्मा को (जो अब स्थूल माध्यम से रहित थी) सीमित प्राण शक्ति से (आगे ठेलने की शक्ति) प्रदान करता था, इसलिये कि, वह आत्मा की चेतना को अपनी तद्रूपता अगली सीमित स्थूल योनि के अगले माध्यम से करने की ओर प्रवृत्त करे, और जिससे कि वह अन्तिम त्यागे गये सीमित स्थूल रूप वाली योनि के संस्कारों का अनुभव कर सके, जो संस्कार इस आत्मा के सीमित कारण शरीर के द्वारा स्थित और प्रतिबिम्बित होते थे।

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि, आत्मा की उच्चतर एवं अधिकतर

चेतना के विकास के साथ-साथ, आत्मा के परिमित सूक्ष्म शरीर का विकास भी आत्मा को अधिकतर परिमित प्राण शक्ति से वलिष्ट करने के लिये होता जाता है, जिससे उस प्राणशक्ति के वल से वह अधिक और अधिक स्थूल-चेतनायुक्त आत्मा की चेतना को ऊँचे और ऊँचे प्रकार के सीमित स्थूल रूपों से, जो पिछले (*Last*) निम्नतर सीमित स्थूल रूप के संस्कारों के द्वारा विकसित हुये थे, अपनी एकरूपता करने के लिये प्रवृत्त कर सके।

इसी प्रकार से, आत्मा के सीमित कारण शरीर का विकास भी साथ-साथ होता जाता है जिससे वह उन निरन्तर वढ़ते हुये असंख्य विविध संस्कारों को स्थान दे सके, धारण कर सके और प्रतिविम्बित कर सके, जो आत्मा की अधिकतर और अधिकतर चेतना के विकास के द्वारा प्राप्त और सञ्चित किये गये थे।

इसी प्रकार से, जब आत्मा वनस्पति-योनियों की विविध उप-जातियों से अपनी एकरूपता करने की ओर प्रवृत्त होती है, तब आत्मा का विकसित परिमित सूक्ष्म शरीर तथा विकसित परिमित कारण शरीर आत्मा के अपने अधिक विकसित परिमित सूक्ष्म एवं कारण शरीर के साथ साहचर्य करने के अधिकतर तथा दृष्टिगोचर चिन्ह प्रगट करने लगते हैं और ये साहचर्य चिन्ह वनस्पति-योनियों में विविध और द्रुत गति से होते हुये परिवर्तन-चक्रों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं; और इस शक्ल में भी दृष्टिगोचर होते हैं कि वनस्पति-योनियाँ आत्मरक्षा और योग्यतम के उत्तर-जीवन [*Survival of the fittest*] की विचित्र, विविध तथा अर्थपूर्ण प्रवृत्तियों के प्रथम लक्षण प्रदर्शित करती हैं।

कृमि-, खग-एवं मत्स्य-योनियों में, आत्मा के परिमित कारण शरीर की यह प्रवृत्ति क्रमशः और दृढ़तापूर्वक सहज प्रवृत्ति [*Instinct*] के रूप में परिवर्तित होती है, यहाँ तक कि पशु-योनि में यह सहज प्रवृत्ति आत्मा के परिमित कारण शरीर के एक परिमित पहलू के रूप में पूर्णतया अभिव्यक्त होती है। क्रमशः यह सहज प्रवृत्ति और आगे एवं पूर्णतया बुद्धि [*Intellect*] के रूप में बदल जाती है, और यह बुद्धि अन्न भुवन का अनुभव करती हुई स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की मनुष्य-योनि में मन के आविर्भाव का सर्वोच्च परिमित पहलू है।

इसी प्रकार से ही केवल मनुष्य-योनि में सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर पूर्णतया विकसित होते हैं, इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि

मनुष्य-योनि से चेतनतया साहचर्य करती हुई आत्मा मानव शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर से पूर्णतया सुसज्जित होती है, और उसके साथ-साथ वह स्थूल जगत की पूर्ण चेतना रखती है।

यद्यपि आत्मा ने मानव-योनि में चेतना प्राप्त कर ली है, और इस प्रकार वह अन्न भुवन का अनुभव करती है, तथापि स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा को सूक्ष्म शरीर की चेतना नहीं होती इसलिये वह प्राण भुवन का अनुभव नहीं कर सकती। उसे कारण शरीर की भी चेतना नहीं होती इसलिये वह मन भुवन का अनुभव नहीं कर सकती।

यद्यपि आत्मा को केवल स्थूल चेतना प्राप्त है और उसको प्राण एवम् मन का भान नहीं है, तथापि वह अन्न भूमिका पर सूक्ष्म और कारण शरीरों के माध्यम से कार्य करती है, यद्यपि उनके द्वारा उसका यह कार्य परोक्षरूप से होता है। यद्यपि स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा को अपने सूक्ष्म और कारण शरीरों की तथा क्रमशः उनके प्राण एवम् मन भुवनों की चेतना नहीं होती, और इसलिये वह प्राण भुवन की प्राण शक्ति तथा मन भुवन के मन का अनुभव नहीं करती, फिर भी वह प्राण शक्ति के विविध स्थूल पहलुओं के द्वारा, जैसे अणुशक्ति, का **उपयोग** कर सकती है, और वह मन का **उपयोग** मन के विविध स्थूल पहलुओं के द्वारा कर सकती है जैसे इच्छायें, आवेश और विचार। इनमें से, **इच्छायें** मन का प्रबल अङ्ग होती हैं।

इसलिये यह आत्मा, जो अब सर्व-प्रथम मनुष्य शरीर की पूर्ण स्थूल-चेतना रखती है और अब भी सूक्ष्म तथा कारण शरीरों की चेतना नहीं रखती, पृथक् की गई सबसे-अन्तिम पशु-देह के संस्कारों का अनुभव अन्न भुवन में करती है।

जब सबसे-अन्तिम पशु योनि के सब संस्कार शून्य हो जाते हैं, तब स्वभावतः सर्व-प्रथम मानव शरीर आत्मा से पृथक् हो जाता है। आत्मा का यह अनुभव सर्वत्र मनुष्य की मौत कहा जाता है।

जैसा पहले समझाया जा चुका है, यद्यपि यह आत्मा सर्व-प्रथम मनुष्य शरीर से पृथक् हो गई है, फिर भी यह अपने सूक्ष्म शरीरों अथवा कारण शरीरों से **कभी** भी विच्छिन्न नहीं होती।

यह भी पहले स्पष्ट किया गया था कि यद्यपि यह आत्मा अपनी सर्व-प्रथम मानव स्थूल योनि से पृथक् हो चुकी है, फिर भी आत्मा विच्छिन्न हुई सर्व-प्रथम मनुष्य-देह के संस्कारों को सूक्ष्म एवम् कारण

शरीरों के द्वारा बनाये रखती है तथा उनका अनुभव करती है, और आत्मा त्यागे हुये पिछले मनुष्य-देह के संस्कारों का अनुभव करने के लिये पुनः अपना साहचर्य सर्व-प्रथम अगले [*Next-most*] मनुष्य-शरीर से करती है। यथार्थ में, जैसाकि पहले समझाया जा चुका है, सर्वप्रथम-अगली मनुष्य-योनि आत्मा से पृथक् हुये पिछले शरीर के बने रहे पिछले संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड मात्र है। इस प्रकार सर्वप्रथम-अगले मानव-शरीर के साथ आत्मा के साहचर्य को सर्वत्र मनुष्य का जन्म कहते हैं।

मनुष्य की मृत्यु एवम् जन्म के बीच का प्रत्यक्ष अन्तर वह अवधि है जिसमें स्थूल-चेतनायुक्त आत्मा, अपने पूर्णतया विकसित सूक्ष्म और कारण शरीरों के साथ अपना साहचर्य करने में, अभी हाल में त्यागे गये मनुष्य-शरीर के सञ्चित विपरीत संस्कारों के प्रबल प्रतिरूप का अनुभव करती है। मृत्यु एवम् जन्म के बीच के प्रत्यक्ष अन्तर में, आत्मा की यह अवस्था, आमतौर पर नर्क या स्वर्ग कहलाती है, और मनुष्य-योनि में चेतन आत्मा,—जो अब पूर्णतया चैतन्य है,—की चेतना के पारी-पारी से होने वाले साहचर्य एवम् पृथक्ता की इस प्रक्रिया को **"पुनर्जन्म प्रक्रिया"** कहते हैं।

यदि द्वन्द्वों (जैसे पुण्य और पाप, भला और बुरा, पुरुष और स्त्री, इत्यादि) के संस्कारों का प्रबल प्रतिरूप, जैसाकि आत्मा को अनुभव होता है, जो अब केवल प्राण और मन से सम्बद्ध है, पुण्य अथवा भलाई का है (अर्थात् विपरीत संस्कारों का भावात्मक *'Positive'* पहलू है), तब आत्मा **स्वर्ग** में स्थित कही जाती है। यदि वह प्रतिरूप पाप अथवा बुराई का है (अर्थात् विपरीत संस्कारों का नकारात्मक पहलू है), तब आत्मा **नर्क** में स्थित कही जाती है।

स्वर्ग और नर्क की अवस्थायें केवल आत्मा की चेतना के प्रचण्ड अनुभवों की अवस्थायें हैं, जिस समय आत्मा मनुष्य शरीर से पृथक् रहकर विपरीत संस्कारों के किसी एक प्रबल प्रतिरूप का अनुभव करती है। स्वयं आत्मा स्वर्ग अथवा नर्क नहीं जाती, जैसाकि आमतौर पर लोग विश्वास करते हैं, क्योंकि वह शाश्वतः अनन्त है और शाश्वतः परमात्मा में स्थित है। आत्मा की चेतना ही संस्कारों का अनुभव करती है।

जैसे ही संस्कारों के प्रबल प्रतिरूप का अनुभव हो चुकता है और वह शून्य हो जाता है, और ठीक जिस समय त्यागे हुये पिछले

मनुष्य-शरीर के संस्कारों के द्वन्द्वों के बीच सन्तुलन स्थिर होने के करीब होता है, उसी क्षण आत्मा आपहीआप निकटतम-अगले मानव-शरीर से साहचर्य करती है, जो उन द्वन्द्वों के संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड होता है जो सन्तुलन की अवस्था में होने वाले थे।

इस प्रकार आत्मा की स्थूल चेतना, स्वर्ग अथवा नर्क का अनुभव करने के बाद, पिछले जन्म के बचे हुये विपरीत संस्कारों को अनुभव एवम् शून्य करने के लिये, अगली मनुष्य-योनि से साहचर्य करती है (अथवा दूसरा जन्म लेती है)। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, आत्मा का यह अगला मानव-शरीर पिछले शरीर के बचे हुये विपरीत संस्कारों का मूर्तमान पिण्ड होता है।

इस रीति से ही मानव-शरीरों अथवा मानव प्राणियों के जन्मों और मृत्युओं की प्रत्यक्षतया अनन्त श्रृङ्खला बनती और नष्ट होती रहती है। यह आत्मा के मानव शरीरों में पुनर्जन्म का अनुक्रम है, जब आत्मा स्थूल चेतना की पूरी विकास श्रृङ्खला के द्वारा पूर्ण स्थूल चेतना प्राप्त कर चुकती है। आत्मा की अचेतन अवस्था से लेकर (जिसकी तुलना मनुष्य की गहरी निद्रा की अवस्था से की जाती है), उसके, अन्न भुवन का अनुभव करने के दौरान में, पूर्ण स्थूल चेतना प्राप्त कर लेने के समय तक (जिसकी तुलना मनुष्य की जागृत अवस्था में बिल्कुल खुली आँखों से की जाती है), आत्मा **'एक'** है—अखण्ड्य, अनन्त, निराकार है—और शाश्वतः परमात्मा में स्थित है।

विकास की पूरी प्रक्रिया के आद्योपान्त, पुनर्जन्म प्रथम लहर का एक निपट स्वयंभू परिणाम था, जो लहर अचैतन्य आत्मा में, आत्मा की अपनी सनातन एवम् अनन्त सत्ता की चेतना प्राप्त करने के लिये, प्रकट हुई थी।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, अब हम समझ सकते हैं कि **आत्मा** की चेतना के विकास-चक्र ने, निम्नतर प्रकारों की पृथक् हुई योनियों के संस्कार शून्य करने के दौरान में, उच्चतर और उच्चतर प्रकारों की **योनियों** का विकास करने के साथ-साथ, अधिकतर एवम् उच्चतर **चेतना** का विकास किया था।

इस प्रकार आत्मा की चेतना का विकास प्रत्यक्षतया आत्मा को अन्न भुवन की योनियों की उच्चतर और उच्चतर स्थूल उपजातियों से तादात्म्य करने तथा उनके विविध असंख्य संस्कार संचित करने के लिये प्रवृत्त करता है।

स्पष्ट-आकारयुक्त एवम् प्रधान ठोस स्थूल योनियाँ *Gross forms* (सर्व-प्रथम सात प्रधान, अत्यन्त अमूर्त गैसरूप एवम् तरल योनियों के बाद) जिनसे आत्मा की चेतना ने साहचर्य किया था (उच्चतर और उच्चतर चेतना की प्रत्येक छलाँग के साथ), सात छलाँगों द्वारा अलग होती हैं—**पत्थर** से धातु, **धातु** से वनस्पति, **वनस्पति** से कृमि, **कृमि** से मछली, **मछली** से पक्षी, **पक्षी** से पशु, और अन्ततः **पशु** से **मनुष्य**।

प्रथम लहर के अत्यन्त-परिमित प्रथम संस्कार ने **अचैतन्य** आत्मा को अत्यन्त-परिमित **प्रथम चेतना** प्रदान की। क्रमशः, विविध संस्कारों ने आत्मा के लिये उच्चतर परिमित चेतना प्राप्त की, और अन्ततः चेतना का विकास पूरा हो गया जिस समय कि आत्मा ने सर्व-प्रथम मनुष्य-योनि से अपना तादात्म्य किया।

मनुष्य-योनि में आत्मा को भरपूर एवम् पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है।

इसलिये आत्मा को, अब मनुष्य-योनि में भरपूर एवम् पूर्ण चेतना प्राप्त कर चुकने पर, चेतना का विकास करने के लिये किन्हीं अधिक अथवा किन्हीं अन्य उच्चतर योनियों की आवश्यकता नहीं होती।

यह चेतना भरपूर और पूर्ण होती है।

यद्यपि यह आत्मा भरपूर और पूर्ण चेतना प्राप्त कर चुकी है, फिर भी उसको अब भी अपनी सत्ता [*Self*] के एक, अखण्ड्य, सनातन, एवम् अनन्त स्वरूप की बिल्कुल चेतना नहीं है, और न उसको अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति एवम् अनन्त आनन्द का अनुभव होता है। किन्तु उसको मनुष्य-योनि और उसके विविध पहलुओं से अपनी एकरूपता की केवल पूर्ण चेतना प्राप्त होती है, और वह पूर्णरूपेण अत्र भुवन का अनुभव करती है।

पूर्ण चेतनायुक्त आत्मा को अब भी अपनी मूल अनन्त अवस्था की चेतना मनुष्य-योनि के स्थूल संस्कारों के अवांछित (यद्यपि अनिवार्य) बोझ के कारण नहीं होती, जिस मानवदेह से आत्मा की चेतना पृथक् हो जाती है जबकि वह शरीर मृत हो जाता है। जो मनुष्य-शरीर अब मृत हो चुका है, उसके ये संस्कार प्राप्त हुई पूर्ण चेतना से अब भी चिपटे रहते हैं; और, सदैव की भाँति, आत्मा की चेतना अपने को अभी त्यागे गये मनुष्य-शरीर के इन स्थूल संस्कारों में केन्द्रित रखती है।

चेतना के ऊपर से इन संस्कारों का बोझ हटाने के प्रयास में, आत्मा की स्थूल चेतना आत्मा को असंख्य विपरीत अनुभवों के द्वारा, जो कितने ही पुनर्जन्मों तक प्राप्त किये जाते हैं, इन संस्कारों को अनुभव तथा शून्य करने के लिये प्रवृत्त करती है। पुनर्जन्म की इस प्रक्रिया में आत्मा की चेतना, अपने को संस्कारों के बोझ से मुक्त करने का प्रयत्न करने के दौरान में, पुनर्जन्म के प्रत्येक क्रम में और भी अधिक फँस जाती है। जिस समय विपरीत संस्कारों के अनुभवों का पूर्ण सन्तुलन होने के करीब होता है, ठीक उसी समय यह सन्तुलन आत्मा की चेतना से भङ्ग हो जाता है जो अपना साहचर्य अगली नई मनुष्य-योनि से करती है। इस साहचर्य के न होने से संस्कारों का प्रभाव क्रमशः विपरीत अनुभवों के बराबर सन्तुलन के द्वारा अन्यथा सम हो गया होता और इस प्रकार उससे आत्मा की चेतना द्वन्द्वों के सब संस्कारों से मुक्त हो गई होती।

इस स्थल पर एक "पूर्ण तराजू" की उपमा उपयुक्त होगी। आत्मा द्वारा विकास की प्रक्रिया के दौरान में प्राप्त की गई चेतना पूर्ण तराजू की डाँड़ी के सदृश है, और तराजू के दोनों पलड़े पुण्य और पाप, इत्यादि जैसे संस्कारों के द्वन्द्वों के असमान भारों से भरे हैं।

इस प्रकार चेतना, डाँड़ी का कार्य करती हुई, सन्तुलन प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, किन्तु यह असम्भव है जब तक कि द्वन्द्वों के असमान संस्कार अनुभव किये जाने के लिये शेष बने हुये विद्यमान रहते हैं। अतएव यही कारण है कि आत्मा की स्थूल चेतना द्वन्द्वों के संस्कारों का पूर्ण सन्तुलन प्राप्त करने के लिये **प्रबल** विपरीत संस्कारों का अनुभव करने की निरन्तर चेष्टा करती है।

किन्तु दुखद बात यह है कि जैसे ही आत्मा की स्थूल चेतना, **प्रबल विपरीत** संस्कारों का अनुभव क्रमशः करने के द्वारा, सन्तुलन के शून्य बिन्दु पर पहुँचने के लिये प्रवृत्त होती है, वैसे ही ऐसा होता है कि आत्मा की चेतना प्रबल विपरीत संस्कारों का अनुभव करने में अनिवार्यतः अत्यधिक लीन हो जाती है, और इस सीमा तक उनका अनुभव करती है अथवा उनको शून्य करती है कि ये प्रबल विपरीत संस्कार अब इस स्तर तक कम हो जाते हैं (अर्थात्, अनुभव के द्वारा) कि, वे संस्कार जिनका भार मूल प्रबल विपरीत संस्कारों के भार से कम हो गया था, अब प्रबल हो जाते हैं; और सन्तुलन अथवा साम्यावस्था में एक बड़ी

गड़बड़ी हो जाती है; और इसलिये डाँड़ीवत् कार्य करती हुई चेतना, अपने मूल अनुभव की विपरीत दिशा में झूम जाती है।

इस सन्धिबेला में ही आत्मा की चेतना दूसरी मनुष्य-देह के द्वारा नवीन प्रबल विपरीत संस्कारों के अनुभव की ओर मुड़ती है। मानव प्राणी, आत्मा की चेतना की तकाज़ा करती हुई आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये, एक माध्यम के रूप में जन्म लेता है अथवा देह धारण करता है, जो चेतना अब अधिकतर प्रबल विपरीत संस्कारों को शून्य करने अथवा खर्च करने अथवा अनुभव करने का प्रयत्न करती है।

यह निपट स्वाभाविक है कि अब इस मानवी आत्मा द्वारा अभिव्यक्त किये गये प्रबल गुण प्रबल विपरीत संस्कारों के अनुसार होंगे, जिन संस्कारों की यह नई मानव-योनि मूर्तमान पिण्ड मात्र है।

इस प्रकार, पुनर्जन्म की प्रक्रिया में, पूर्ण स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा को, जो पूर्णतया विकसित सूक्ष्म और कारण शरीरों के बल से सम्पन्न होती है, यद्यपि उसको इनका भान नहीं होता, अनन्त अनुभवों की शृङ्खला में द्वन्द्वों के संस्कारों के—ऐसे संस्कार जो बिल्कुल विपरीत होते हैं—असंख्य विविध और अगणित भिन्न भिन्न अनुभवों का अनुभव अनिवार्यरूप से करना पड़ता है।

स्थूल शरीर के साथ अपना साहचर्य रखने के द्वारा, आत्मा अपने पिछले सञ्चित विपरीत संस्कारों को शून्य करने का प्रयत्न करती है, किन्तु ऐसा करने में वह कदाचित् ही सफल होती है। इसके विपरीत, वह बहुधा द्वन्द्वों के नये संस्कार सञ्चित कर लेती है। जब स्थूल शरीर उन संस्कारों को शून्य करने के क़रीब होता है जिनके कारण उसका अस्तित्व हुआ था, तब वह छूट जाता है। बचे हुये विपरीत संस्कार आत्मा को, पुण्य अथवा पाप की प्रबलता के अनुसार, स्वर्ग अथवा नर्क में पहुँचाते हैं। आत्मा के शरीर से पृथक् हुये अस्तित्व में भी, सब विपरीत संस्कार तीव्र हुये संस्कारों का आत्मिक अनुभव करने के द्वारा शून्य होने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु यहाँ भी, स्वर्ग अथवा नर्क की अवस्था में, संस्कार-शून्यता का सन्तुलन आमतौर पर सन्निकट होता है किन्तु हाथ में नहीं आता, और बचे हुये प्रबल विपरीत संस्कार आत्मा की चेतना को एक नवीन स्थूल माध्यम से साहचर्य करने के लिये कोंचते हैं। पूर्ण सन्तुलन का अभाव मृत्यु में तथा जन्म में भी रहता है। वह केवल स्थूल जगत में प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये बचे हुये

संस्कार स्थूल जगत में जीवनों की अनन्त शृङ्खला क़ायम रखते हैं, जब तक कि चेतना संस्काररहित सन्तुलन में स्थापित हो जाने में सफल नहीं होती।

प्रत्येक स्थिति में और पुनर्जन्म की प्रत्येक अवस्था में, पूर्णतया मानव-चेतनायुक्त आत्मा की चेतना तादात्म्य किये गये तथा पृथक् किये गये मनुष्य-योनियों के अधिक और अधिक केन्द्रीकृत संस्कारों में दृढ़तापूर्वक केन्द्रित हो जाती है। इन केन्द्रीकृत संस्कारों से कोई छुटकारा* होना प्रतीत नहीं होता। इन संस्कारों का अनुभव करना तथा इन्हें शून्य करना आवश्यक होता है, और संस्कारों का जितना अधिक अनुभव किया जाता है उतने ही अधिक संस्कार केन्द्रीकृत होते हैं।

---

* इस बात का ज्ञान रखते हुये कि "सृष्टि" कोई आकस्मिक घटना नहीं है और इसके दृष्टिगोचर स्वरूप की अपेक्षा इसमें गहनतर अर्थ भरा है, सभी युगों के ऋषियों और मुनियों ने पुनः पुनः दुनियाँ का ध्यान इस सत्यता की ओर खींचा है कि भले ही मनुष्य इस पृथ्वी ग्रह पर अपने जीवन की एक खास अवधि के लिये अपना तादात्म्य अनन्यतः इन्द्रिय-जीवन से किये रहे, उसका श्रेष्ठ "अतीत" प्रारब्ध ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त करना है।

मौलाना रूमी ने अपनी पुस्तक "मसनबी" में एक दृष्टान्त दिया है जो इस बात को स्पष्ट करता है : चीता के एक बच्चे का पालन-पोषण भेड़ों के मध्य हुआ। जैसे जैसे चीता का वह बच्चा बढ़ता गया, उसमें भेड़ों के सब लक्षण आते गये और वह भेड़ों की तरह घास चरने तथा मिमियाने लगा, जिससे वह कभी भी अपने को भेड़ों से भिन्न न सोचता था। एक दिन, एक चीता जङ्गल से आकर उसके पास पहुँचा और उससे कहने लगा, "क्या तुम्हें मालूम है कि तुम मेरे समान ही एक चीता हो, और भेड़ नहीं हो?" उसके बाद वह चीता उस भटके हुये चीता को फ़ुसलाकर एक निकटवर्ती नाले के पास ले गया और उससे पानी में अपनी परछाईं देखने के लिये कहा, और इस प्रकार वह उसको उसकी यथार्थ प्रकृति का ज्ञान कराने में सफल हुआ।

इस कहानी का यह उपदेश है कि मनुष्य भी अपना तादात्म्य इन्द्रिय-जगत से होने देता है, और उससे बचने का कोई उपाय उसको प्रतीत नहीं होता। किन्तु उससे छूटने का एक उपाय है, क्योंकि अन्ततः एक मानस-शिरोमणि [*Master Mind*] प्रकट होता है जो उसको ज्योति प्रदान करता है। तब उसका उद्धार हो जाता है, और कुछ समय में वह अपने को अपने अन्तिम लक्ष्य—ईश्वर-साक्षात्कार—के आमने-सामने पाता है।

पूर्णतया मानवी-चेतनायुक्त आत्मा की चेतना के लिये संस्कारों की इस एकाग्रता को "क्षीण" करने का एकमात्र हल यह है कि वह इस रीति से, तथा इतनी अधिक तीव्रता के साथ, इन संस्कारों को प्रचुरतया एवम् अधिकतर शीघ्रतापूर्वक अनुभव करे कि प्रत्येक अनुभव किया गया संस्कार, और इस अनुभव से पैदा हुआ संस्कार, किसी प्रकार एक विपरीत संस्कार के द्वारा सन्तुलित हो जाय।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया के आद्योपान्त द्वन्द्वों के संस्कारों के सन्तुलन और प्रतिसन्तुलन का यह खेल जारी रहता है, और इसी खेल पर पुनर्जन्म की प्रक्रिया क़ायम रहती है। इस खेल पर मानवी-चेतनायुक्त आत्मा की अज्ञानता के बन्धनों से, अन्तिम मुक्ति तथा आत्म चेतना का अन्तिम साक्षात्कार निर्भर होते हैं। –

इस प्रकार, पुनर्जन्म की प्रक्रिया में, पूर्णतया स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा को अनिवार्यतः द्वन्द्वों के संस्कारों के—ऐसे संस्कारों के जो एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत होते हैं—असंख्य एवम् नानाविध अनुभवों का अनुभव करना पड़ता है, और यह अनुभव आत्मा को अविचल अनुभवों की एक प्रत्यक्ष अनन्त शृङ्खला में करना पड़ता है।

इसलिये, जिस समय स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा, जो अब पूर्णतया चैतन्य है, स्थूल जगत में 'द्वन्द्वों' के अनुभव से गुज़रती है, उस अवधि में आत्मा की चेतना को अपना तादात्म्य (अथवा पुनर्जन्म) असंख्य बार पुरुष के रूप में, फिर स्त्री के रूप में, और फिर इसके उलट-पलट रूपों में, भिन्न-भिन्न जातियों, धर्मों, राष्ट्रीयताओं, रंगों, तथा विभिन्न स्थानों में; कभी धनी के रूप में, और फिर कंगाल के रूप में; कभी स्वस्थ्य रूप में, और कभी रोगी के रूप में, इत्यादि करना पड़ता है, जबकि वह हर समय विपरीत संस्कारों का पुनर्निरीक्षण करती रहती है, विपरीत संस्कार पैदा करती है, तथा साथ-साथ उन्हें विपरीत अनुभवों के द्वारा शून्य करती रहती है।

इन्हीं नानाविध विपरीत संस्कारों तथा उनके क्रमशः विपरीत अनुभवों के द्वारा ही, स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा स्थूल जगत में सम्भवतः एक दिन, करोड़ों जन्मों एवम् मृत्युओं के बाद, और जन्मों एवम् मृत्युओं के इन विपरीत अनुभवों के द्वारा, शेष बचे अथवा

केन्द्रीकृत हुये विपरीत संस्कारों† को सन्तुलित करने में अथवा क्षीण करने में समर्थ होगी ।

मानव-शरीरों की असंख्य मृत्युओं और उनके फलस्वरूप होने वाले जन्मों के इस चक्र के अन्तिम परिणामस्वरूप ही स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की पूर्णतया विकसित चेतना इस चेतना का इतनी गहराई तक **प्रतिवर्धन करने** [*Involve* ऊर्ध्वगमन] के लिये उत्प्रेरित होती है जहाँ इस आत्मा की पूर्णतया प्रतिवर्धित [*Involved*] चेतना को **आत्मा** [*Self*] की अनन्त, सनातन अवस्था की सत्यता का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है ।

चेतना के प्रतिवर्धन की यह प्रक्रिया क्रमशः होती है जैसे जैसे द्वन्द्वों के स्थूल संस्कार क्रमशः अधिक क्षीण तथा कम केन्द्रीकृत होते जाते हैं ।

इस स्थिति में स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की चेतना क्रमशः स्थूल जगत से विच्छिन्न होती जाती है, जैसे जैसे चेतना का प्रतिवर्धन होता है, और वह क्रमशः अन्न भुवन के संस्कारों का अनुभव करने से पृथक् हो जाती है ।

स्थूल चेतना का यह प्रतिवर्धन केवल तभी सम्भव होता है जबकि विपरीत संस्कार क्रमशः, एक बहुत-बहुत लम्बी प्रक्रिया के बाद, अटल पुनर्जन्म की प्रक्रिया के द्वारा क्षीण हो जाते हैं, जो पुनर्जन्म की प्रक्रिया द्वन्द्वों के स्थूल संस्कारों की तथा द्वन्द्वों के स्थूल अनुभवों की सीमा तक ले जाती है ।

---

† सरापा आरज़ू होने ने बन्दा कर दिया हमको
वगरना हम ख़ुदा थे गर दिले बे मुद्दुआ होते ।
—मीर तक़ी

"इस तथ्य ने कि मैं सिर से पैर तक इच्छाओं के बोझ से लदा हूँ, मुझको गुलाम बना दिया है; यदि मेरा हृदय और मेरा मन इच्छारहित होते तो मैं वास्तव में परमात्मा होता ।"

भाग ५

भूमिकायें

मुक्तकारी चेतना का प्रतिवर्धन

जिस समय आत्मा की चेतना स्थूल जगत से सुलझने के लिये परिपक्व[२] होती है, तब वह आध्यात्मिक मार्ग में प्रवेश करती है और अन्तर की ओर मुड़ती है। उसके स्थूल संस्कार अब कम गहरे हो जाते हैं। वे क्षीणतर अथवा अधिक सूक्ष्म हो जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप आत्मा अब **सूक्ष्म-चेतनायुक्त** *(Subtle-Conscious)* हो जाती है। चेतना के प्रतिवर्धन में यह पहली सीढ़ी है, जो संस्कारों के बोझ से मुक्त होने के लिये प्रयास कर रही है। मनुष्य योनि में जन्मों और मृत्युओं के असंख्य चक्रों को स्थूल अनुभव की उस परिपक्वता के लिये सहायता करनी पड़ती है, जो परिपक्वता अन्ततः आत्मा की चेतना को मुक्तकारी प्रतिवर्धन के पथ पर आगे को ठेलती है, जिस पर संस्कार क्षीणतर और क्षीणतर होते जाते हैं और अन्ततः लुप्त हो जाते हैं। स्थूल संस्कार सूक्ष्म संस्कार बन जाते हैं; सूक्ष्म संस्कार मनो संस्कार बन जाते हैं; और मनो संस्कार अन्ततः पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं, जिससे चेतना 'सत्य' को प्रतिबिम्बित करने के लिये स्वतन्त्र हो जाती है।

प्रतिवर्धन की प्रक्रिया सामान्यतः क्रम-क्रम से होती है। मनुष्य को शरीर तथा संस्कारों की परम्परा पशुओं से प्राप्त होती है, इसलिये स्थूल संस्कार बहुत बलशाली होते हैं। अत्यन्त दुर्लभ दशाओं में, स्थूल संस्कार एकाएक नष्ट हो सकते हैं, और आत्मा की मुक्त हुई चेतना परमात्मा का अनुभव करती है, किन्तु अधिक सामान्यतः स्थूल संस्कार क्षीणतर और क्षीणतर होते जाते हैं (इस प्रकार वे सूक्ष्म एवं मनो संस्कारों में परिवर्तित हो जाते हैं), और फिर पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। सामान्यतः आत्मा, जो घर की ओर अपनी यात्रा पर चल पड़ी है, स्थूल जगत में वापिस नहीं आती जिसमें वह जङ्गल में जैसी खो गई

थी । इसका यह अर्थ नहीं है कि सूक्ष्म-चेतनायुक्त आत्मा स्थूल रूप नहीं लेती और न अपने स्थूल शरीर के साथ स्थूल जगत में रहती है । इसका अर्थ यह होता है कि आत्मा की चेतना और आगे स्थूल रूप से अथवा स्थूल जगत से फँसी नहीं रहती, और यह कि वह मुख्यरूप से सूक्ष्म जगत में लीन रहती है । सामान्य नियमानुसार आत्मा पहले अन्न भुवन से अपना सम्बन्ध तोड़ती है, फिर प्राण भुवन से तोड़ती है और अन्त में मन भुवन से तोड़ती है, और अपने को इन सबसे परे अनुभव करती है । इस मार्ग को पार करने में वह छः भूमिकायें पार करती है, जिनमें से प्रथम तीन भूमिकायें प्राण भुवन से सम्बन्ध रखती हैं, चौथी भूमिका प्राण भुवन और मन भुवन की सीमान्त रेखा पर होती है, और पाँचवीं तथा छठवीं भूमिकायें मन भुवन से सम्बन्ध रखती हैं । आत्मा, जो शाश्वतः परमात्मा में निवास करती है, सब भूमिकाओं के परे है ।

पहली और दूसरी भूमिकायें

जैसे जैसे स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की स्थूल चेतना का क्रमशः प्रतिवर्धन होता है, यह प्रतिवर्धित होती हुई स्थूल चेतना प्राण भुवन की पहली भूमिका[३] का आंशिक अनुभव आत्मा के पूर्णतया विकसित सूक्ष्म शरीर के माध्यम से करती है ।

इस स्थिति में स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा की प्रतिवर्धित स्थूल चेतना को प्राण भुवन की पहली भूमिका की प्रथम झलकें मिलती हैं और वह इन झलकों अथवा संस्कारों का कुछ अनुभव स्थूल शरीर के द्वारा और कुछ सूक्ष्म शरीर के द्वारा करती है । इस स्थल पर स्थूल और सूक्ष्म दोनों इन्द्रियों का प्रयोग साथ-साथ होता है ।

यही स्थिति है जबकि यह कहा जाता है कि मानवी आत्मा मानो सीमाविभाजन की रेखा पर खड़ी होती है, जैसाकि रेखाचित्र‡, में दिखाया गया है, जो अन्न भुवन को प्राण भुवन से विभाजित करती है । इस मानवी आत्मा की चेतना को विचित्र चीज़ों के अनुभव होते हैं । अपने स्थूल नेत्रों से वह प्राण भूमिका की झलकें देखता है, अपने स्थूल कानों से वह प्राण भूमिका का अलौकिक संगीत सुनता है, अपनी स्थूल नासिका से वह सूक्ष्म सुगन्धियों का आनन्द लेता है, इत्यादि । संक्षेप में, स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा, जो अंशतः प्राण भुवन की प्रथम भूमिका

---

‡ पृष्ठ के सामने (यह चार्ट पृष्ठ ४८-४९ के बीच देखिये)

पर है, स्थूल इन्द्रियों से सूक्ष्म संस्कारों का अनुभव करती है ।

क्रमशः, स्थूल चेतना के और अधिक प्रतिवर्धित होने पर, स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा प्राण भुवन की पहली भूमिका का अनुभव पूर्णतया करती है । अब स्थूल-चेतनायुक्त मानवी आत्मा स्थूल-चेतनामय नहीं रहती बल्कि वह सूक्ष्म-चेतनामय हो जाती है । इस सूक्ष्म-चेतनामय मानवी आत्मा को क्रमशः प्राण भुवन की दूसरी भूमिका[४] की चेतना प्राप्त हो जाती है । यह प्राण भुवन अनन्त प्राणशक्ति का, ईश्वर की अनन्त शक्ति का, प्रदेश है, जो शक्ति सीमित में रूपान्तरित होने पर, यहाँ प्राण भुवन की अनन्त प्राणशक्ति के रूप में प्रकट होती है ।

जब मनुष्य योनि में आत्मा को सूक्ष्म चेतना प्राप्त होती है, तो उसको शरीर (स्थूल) और मन *(Mental body)* का भान नहीं रहता; किन्तु वह शरीर के द्वारा तथा मन (कारण शरीर) के द्वारा कार्य करती है; सीधे नहीं, बल्कि सूक्ष्म भूमिका पर ।

इसलिये यद्यपि सूक्ष्म-चेतनायुक्त मानवी आत्मा को शरीर एवम् मन का भान नहीं होता और इसलिये वह अन्न भुवन तथा मन भुवन का अनुभव नहीं करती, तथापि वह स्थूल शरीर का प्रयोग स्थूल के विविध पहलुओं के द्वारा कर सकती है, जैसे खाना, पीना, सोना, देखना, स्पर्श का अनुभव करना, सुनना, इत्यादि, और वह मन (कारण शरीर) का उपयोग मन के विविध पहलुओं के द्वारा कर सकती है, जैसे इच्छायें, विचार और भावनायें ।

प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा दूसरी भूमिका पर, चेतना के उच्चतर प्रतिवर्धन के साथ, प्राण भुवन की अनन्त प्राण शक्ति की चेतना क्रमशः प्राप्त करती है और वह मायावी लीलायें करने अथवा निम्न कोटि के छोटे-छोटे चमत्कार करने में समर्थ होती है । उदाहरण के लिये, एक इच्छामात्र से वह सूखे वृक्ष को हरा कर सकती है और इसका उल्टा भी, वह रेलगाड़ियाँ और मोटरें रोक सकती है, सूखे कुआँ को ताजे पानी से भर सकती है, इत्यादि । यह प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा दूसरी भूमिका पर अपने सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा प्राण भुवन का अनुभव करती है । अब उस मनुष्य को अन्न भुवन की बिल्कुल चेतना नहीं होती, यद्यपि सभी बाहरी दिखावों में वह एक साधारण मनुष्यवत् रहता है और कार्य करता है—खाना, सोना, दुख और सुख का अनुभव करना, इत्यादि—तथापि वास्तव में उसकी

प्रतिवर्धनशील चेतना अन्न भुवन का नहीं बल्कि प्राण भुवन का अनुभव करती है और केवल देखने, सूंघने एवम् सुनने के नवीन सूक्ष्म संस्कार पैदा करती है।

तीसरी भूमिका

प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की प्राण चेतना का और आगे प्रतिवर्धन होने पर आत्मा को प्राण भुवन की तीसरी भूमिका का अनुभव[५] होता है। यहाँ प्राण-चेतना को प्राण भुवन की अनन्त प्राण-शक्ति की और अधिक चेतना प्राप्त होती है और आत्मा को और अधिक परिमित शक्ति का अनुभव होता है। यहाँ वह भारी चमत्कार करने में समर्थ होती है जैसे अन्धों को दृष्टि प्रदान करना, अंगहीन लोगों को अंग प्रदान करना। यहाँ यह प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा, प्राण भुवन की विभिन्न भूमिकाओं एवं जगतों का अनुभव करने में भी समर्थ होती है, जिस प्रकार एक स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा, अपनी इच्छानुसार, अपने को प्राप्त स्थूल साधनों का प्रयोग करती हुई एशिया से आस्ट्रेलिया अथवा अमरीका की यात्रा करने में समर्थ होती है।[६]

प्राण भुवन की दूसरी और तीसरी भूमिकायें दो बड़ी भूमिकायें हैं जो केवल प्राण भुवन के प्रदेश में होती हैं। पहली भूमिका कुछ अंशों में प्राण भुवन के प्रदेश में होती है। इसी प्रकार चौथी भूमिका कुछ अंशों में प्राण भुवन की होती है और कुछ अंशों में मन भुवन की होती है। यह चौथी भूमिका **मन भुवन** की देहली कहलाती है।

चौथी भूमिका

प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा की चेतना में क्रमशः और अधिक प्रतिवर्धन होने पर, आत्मा की चेतना आत्मा को प्राण भुवन की चौथी भूमिका का अनुभव करने के लिये प्रवृत्त करती है। चौथी भूमिका में आत्मा को **अनन्त प्राणशक्ति** की पूर्ण चेतना होती है। यह वही अनन्त प्राणशक्ति है जो ईश्वर की उस अनन्त शक्ति का छायादार अङ्ग है। यहाँ आत्मा पूर्ण शक्ति से सम्पन्न होती है और वह मुर्दों को ज़िन्दा करने में तथा जीवन से सम्पन्न नई योनियाँ व दुनियायें रचने में‡ समर्थ होती

‡ कुतुब अवस्था की विज्ञान-चेतनायुक्त आत्मायें अथवा सद्गुरु ऐसी घटना का नियंत्रण करते हैं और वे इस बात की देख-रेख रखते हैं कि ऐसी भोंड़ी दुर्भाग्य-पूर्ण घटनायें कभी न होने पावें, जब तक वे पहले से निर्दिष्ट न हों।

है। चौथी भूमिका पर कोई गूढ़ शक्तियाँ नहीं होतीं, वे दिव्य शक्तियाँ हैं।

जैसाकि पृष्ठ ४९ के सामने वाले रेखाचित्र में दिखाया गया है, प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा चौथी भूमिका पर, अनन्त शक्ति के भण्डार की कुन्जी अपने हाथ में लिये हुये, मन भुवन के द्वार पर दिखाई पड़ती है, और उसका सामना प्रचण्ड इच्छाओं एवं विकारों के पूरे तूफ़ान से होता है जो मन भुवन के मन के पहलू हैं। इस स्थिति में आत्मा मानो सबसे अन्धेरी रात की अवस्था का अनुभव करती है। वह अपने को दैत्य और सागर के बीच में फँसा हुआ पाती है। इस अनन्त प्राणशक्ति को इच्छानुसार सँभालने और इस्तेमाल करने के लिये प्रचण्ड इच्छाओं द्वारा पैदा की गई प्रबल उत्तेजना, इस सन्धि बेला में एक विश्वासघाती शत्रु सिद्ध होती है जबकि इस प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की चेतना का प्रतिवर्धन सकल इच्छाओं के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करने की दिशा में अटलतया तेज़ गति से अग्रसर हो रहा है।

यदि ये इच्छायें अपने शिरोबिन्दु पर पहुँचकर चौथी भूमिका की आत्मा को पराजित कर लेती हैं, और यदि शक्तियों का दुरुपयोग किया जाता है, तब इस अनन्त प्राणशक्ति को मुक्त करने का अनुभव चतुर्थ भूमिका पर स्थित आत्मा को इस बेला में अनिवार्यरूप से प्राण-घातक सिद्ध होता है। इसका परिणाम यह होता है कि आत्मा द्वारा प्राप्त की गई सब चेतना प्रचण्डता के साथ खण्ड-खण्ड हो जाती है, और आत्मा में केवल अत्यन्त परिमित चेतना रह जाती है और वह पुनः पत्थर-योनि से अपना तादात्म्य करती है। तब इस आत्मा को पुनः पूर्ण चेतना प्राप्त करने के लिये पत्थर-योनि से लेकर आगे विकास की पूरी प्रक्रिया को पार करना पड़ता है।

चौथी भूमिका की आत्मा को अर्ध-सूक्ष्म और अर्ध-मानस संस्कार प्राप्त होते हैं। वह अत्यन्त ललचाने वाले प्रलोभनों के अधीन होती है, क्योंकि वह प्रचण्ड एवम् प्रबल, अच्छी अथवा बुरी, इच्छायें रखती है। अपने अधिकार में प्रचण्ड शक्ति रखने के कारण, वह उसका अच्छा अथवा बुरा प्रयोग करने के लिये प्रेरित होती है। यदि वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग कामवासना की तुष्टि के लिये अथवा नाम और ख्याति की उत्कट अभिलाषा की पूर्ति के लिये अथवा किसी अन्य नीच उद्देश्य के लिये करती है, तो आत्मा की इस चेतना का अकस्मात् पतन हो जाता है, जिसके कारण वह चेतना की पाषाण अवस्था में पुनः पहुँच जाती है।

किन्तु यदि, अपने प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके, वह मनुष्य अपनी प्रचण्ड शक्तियों का सदुपयोग करता है, या अपनी शक्तियों का कोई प्रयोग नहीं करता, तो वह पाँचवीं भूमिका में चला जाता है, जहाँ वह सुरक्षित रहता है और उसके अधःपतन की कोई सम्भावना नहीं होती। किन्तु, यदि वह शक्तियों का सदुपयोग करता है, तो कभी-कभी वह कुतुब अवस्था की विज्ञान-चेतनामय आत्माओं अथवा सद्गुरुओं द्वारा (किन्तु जीवनमुक्तों अथवा मजज़ूबों द्वारा नहीं) ऊपर छठवीं भूमिका में खींच लिया जाता हैं।

अन्न भुवन में शक्ति का सदुपयोग भौतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्यों की ओर संचालित किया जा सकता हैं। उदाहरण के लिये, दूसरों के भौतिक हित के लिये धन खर्च किया जा सकता है, जैसे धर्मार्थ चिकित्सालयों के लिये, भूखों मरते तथा विपदाग्रस्त लोगों की सहायता के लिये, इत्यादि, **अथवा** उनके **आध्यात्मिक** कल्याण के लिये, जैसे उनके लिये आध्यात्मिक शिक्षा तथा आध्यात्मिक सम्भावनायें जुटाना। परन्तु चौथी भूमिका में, शक्तियों का सदुपयोग अनिवार्यतः केवल दूसरों के आध्यात्मिक कल्याण के लिये ही उनको लगाने में निहित होता है। इन शक्तियों का उपयोग किसी की भौतिक समृद्धि करने में कभी नहीं किया जा सकता। वह निश्चितरूप से उनका दुरुपयोग होगा। हम चौथी भूमिका की शक्तियों के सदुपयोग का नीचे लिखा उदाहरण ले सकते हैं :— मान लो कि कोई आध्यात्मिक तीर्थयात्री एक रेगिस्तान से होकर जा रहा है और वह तीव्र पिपासा के कारण मरने ही वाला है। ऐसी अवस्था में चौथी भूमिका की आत्मा उसके सामने स्थूल शरीर में प्रकट हो सकती है और उसको एक पात्र भर जल देकर उसकी सहायता कर सकती है और फिर अन्तर्धान हो सकती है। ऐसे उपयोग को सदुपयोग कहा जा सकता है।

शक्तियों का उपयोग व्यक्तिगत अथवा सामूहिक भलाई के लिये किया जा सकता है। **किन्तु सदुपयोग से भी आत्मा की अगली उन्नति बन्धन में पड़ जाती है और रुक जाती है।** यही कारण है कि चौथी भूमिका को पार करना अत्यन्त कठिन होता है और **वह सबसे बड़े खतरों से भरी होती है।** चौथी भूमिका पर स्थित व्यक्ति को अपने को प्राप्त प्रचण्ड शक्तियों का उपयोग अपनी प्रबल इच्छाओं की पूर्ति के लिये करने से बचना अत्यन्त कठिन मालूम होता है।

चौथी भूमिका मन भुवन का द्वार है। इस भूमिका पर, अन्य किसी भी सूक्ष्म भूमिका से अधिक, आध्यात्मिक पथ का यात्री विशेषतया इतना अधिक भावग्राही [*Susceptible*] होता है कि उसके एकदम बिल्कुल नीचे गिर जाने की सम्भावना होती है। चौथी भूमिका की आत्मा के सामने उपस्थित संकट गम्भीर तथा जोखिमभरा होता है, क्योंकि चौथी भूमिका पर स्थित व्यक्ति को अपने मन को पूर्णतया वश में करने के पहले प्रचण्ड अलौकिक अथवा गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने मन को पूर्णतया नियन्त्रित नहीं रख सकता क्योंकि, जब तक कि वह ऊँचा उठकर मन भुवन की पाँचवीं भूमिका में नहीं पहुँच जाता, वह अपने मन का सीधा अनुभव अथवा उपयोग नहीं कर सकता। स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा के समान, चौथी भूमिका की प्राण-चेतनामय आत्मा भी अपने मन का उपयोग परोक्षरूप से करती है। अब इस चौथी भूमिका पर मन पूर्णतया जीवन-सम्पन्न होता है। वह, अपने सब पूर्णतया विकसित विचारों, भावों और इच्छाओं के पहलुओं में कार्य करता है, जो अपनी प्रचण्डता के शिखर पर होते हैं। एक ओर, आत्मा अपने ही विप्लवी मन के ऊपर प्रभुता प्राप्त करने और छुट्टा छूटी हुई इच्छाओं की विंध्वंसकारी शक्तियों को अपने अधीन करने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर, भूमिकाओं की अपार प्राणशक्ति पूर्णतया उसके हाथ में होती है और वह सतत् किसी प्रकार प्रगट अथवा प्रयुक्त होने की चेष्टा करती है।

यदि आत्मा अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने के प्रबल प्रलोभनों के सामने झुक जाती है, तो एक अकल्पनीय विस्तार का भीषण आध्यात्मिक विस्फोट होता है। उस विस्फोट से मुक्त हुई विस्फोटक शक्तियाँ चेतना को पूर्णतया छिन्न-भिन्न कर देती हैं, और वे चेतना का प्रलयंकारी अधःपतन करके उसको चौथी भूमिका की प्राण चेतना के शिखर से गिराकर मौलिक पाषाण चेतना की निम्नतम तहों पर पहुँचा देती हैं जिनका अनुभव आत्मा ने विकास के बिल्कुल प्रारम्भ में किया था। छिन्न-भिन्नता के इस आध्यात्मिक प्रलय की तुलना विद्युत-धारा की असंशोधनीय रुकावट के कारण बल्ब के गलने से की जा सकती है। अधःपतित आत्मा के सामने अब इसके सिवाय और कोई विकल्प नहीं रहता कि वह विकासमुखी चेतना की लम्बी एवं श्रमपूर्ण चढ़ाई को पुनः असंख्य योनियों में युगों तक आवागमन तथा पुनर्जन्म से गुजरती हुई,

पार करे और फिर क्रमशः एवम् धैर्यपूर्वक भूमिकाओं से होकर ऊपर चढ़े ।

चेतना की यह छिन्न-भिन्नता केवल चौथी भूमिका की चेतना की स्थिति में होती है और वह भी बिरले ही—केवल उस समय होती है जबकि चौथी भूमिका की शक्तियों का दुरुपयोग किया जाता है। सामान्यतः सच बात यह है कि एक बार चेतना प्राप्त हो जाने पर उसका ह्रास कभी नहीं हो सकता, किन्तु चौथी भूमिका की चेतना की अवस्था इस नियम का एकमात्र अपवाद है ।

यदि आत्मा अपने हाथ में आई शक्तियों का दुरुपयोग नहीं करती बल्कि इच्छाओं के वश में हुये बग़ैर उनका सदुपयोग भलाई के लिये करती है, तब चेतना के और अधिक प्रतिवर्धन के साथ प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा की चेतना कभी-कभी मन भुवन की छठवीं भूमिका का अनुभव सीधे-सीध करती है और मन भुवन की पाँचवीं भूमिका के अनुभवों को अछूता छोड़कर लाँघ जाती है ।‡

किन्तु, यदि चेतना की चौथी भूमिका पर स्थित आत्मा की यह चेतना चौथी भूमिका की शक्तियों का न तो प्रयोग करती है और न दुरुपयोग करती है, तब क्रमशः, चेतना के अधिकतर प्रतिवर्धन (*Involution*, ऊर्ध्वगमन) के साथ, चौथी भूमिका पर स्थित प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा चौथी भूमिका की देहली पार करती है और मन भुवन में पाँचवीं भूमिका पर प्रवेश करती है ।

पाँचवीं और छठवीं भूमिकायें

चौथी भूमिका पर स्थित प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की चेतना का और अधिक प्रतिवर्धन होने पर, प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा की चेतना अपनी एकरूपता मन भूमिकाओं के मन से और मन भुवन के अनुभवों से करती है ।

मन भूमिकाओं के इस '**मन**' के दो विभाग होते हैं । पहले विभाग में मन की अवस्था छान-बीन करने वाली अथवा **विमर्शकारी** होती है । इस अवस्था में मन **विचारों** के रूप में कार्य करता है—ऊँचे

‡ पांचवीं और छठवीं भूमिकाओं को धारण करने वाले मन भुवन में प्रवेश करने की तुलना प्रवेश-द्वार—चौथी भूमिका की चेतना—को पार करने के बाद कमरे में प्रवेश करने से की जा सकती है ।

विचार, नीचे विचार; अच्छे विचार, बुरे विचार; भौतिक विचार, आध्यात्मिक विचार, इत्यादि।

दूसरे विभाग में मन की अवस्था प्रभावात्मक अथवा संवेदनात्मक होती है। इस अवस्था में **मन संवेदनों** [*Feelings*] के रूप में कार्य करता है—कष्टों के संवेदन, भावनाओं [*Emotions*] के संवेदन; इच्छाओं के संवेदन, उत्कण्ठाओं के संवेदन; पीड़ाओं के संवेदन, वियोग के संवेदन, इत्यादि।

जब मन भुवन के **मन** के स्पष्ट द्वैत कार्य होते हैं तब यह आवश्यक है कि मन के क्षेत्र में (अर्थात् मन भुवन में) अनुभव भी अनिवार्यत: स्पष्टरूप से दो प्रकार के होने चाहिये।

इस प्रकार मन भुवन में दो प्रदेश हैं—**विचारों** की चेतना की पाँचवीं भूमिका का प्रदेश तथा **संवेदनों** की चेतना की छठवीं भूमिका का प्रदेश।*

इसलिये पाँचवीं भूमिका पर स्थित७ मन-चेतनामय मानवी आत्मा की चेतना केवल मन के पहले विभाग से अपनी तद्रूपता करती है और उसको मन की उस अवस्था का भान होता है जो छान-बीन करने वाला अथवा प्रतिबिम्बन करने वाला मन है। इस प्रकार पाँचवीं भूमिका की यह मनो-चेतनायुक्त मानवी आत्मा विचारों को पैदा करने वाली तथा उनके ऊपर प्रभुत्व रखने वाली होती है और वह स्थूल-एवं सूक्ष्म प्राण-चेतनायुक्त सब आत्माओं के **केवल विचारों को** नियन्त्रित करने में समर्थ होती है। इसका बहुधा यह ग़लत अर्थ लगाया जाता है कि वह सभी स्थूल-एवं सूक्ष्म प्राण-चेतनायुक्त आत्माओं के **मनों को नियन्त्रित करती है**। (वह समग्र मन को नियन्त्रित नहीं करती वरन् मन की उस अवस्था को नियन्त्रित करती है जो केवल **विचारों** के रूप में कार्य करती है।)

* पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं की प्रतिवर्धित होती हुई चेतना के मध्य के अन्तर की तुलना कमरे—मन भुवन—में प्रवेश करते हुये मनुष्य के दृष्टिकोण के बीच के अन्तर से की जा सकती है। कमरे में प्रवेश करने पर, यदि वह व्यक्ति अपने ठीक सामने को देखता है तो वह ईश्वर को सहजतया आमने-सामने 'देखता' है, और इस प्रकार सीधे-सीध छठवीं भूमिका की चेतना प्राप्त करता है; किन्तु यदि उसकी दृष्टि कमरे के किसी एक कोने में केन्द्रित हो जाती है, तब पहले उसको केवल पाँचवीं भूमिका की चेतना प्राप्त होती है।

चेतना की पाँचवीं भूमिका पर स्थित मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा, अन्वेषक अथवा प्रतिबिम्बक 'मन' के रूप में अपनी तद्‌रूपता करने के दौरान में, केवल विचार उत्पन्न करती है, 'मन' की दूसरी अवस्था से अपनी तद्‌रूपता नहीं करती और इसलिये वह संवेदनों, भावों एवं इच्छाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में असमर्थ होती है।

तथापि, चेतना के और अधिक प्रतिवर्धन होने के साथ, पाँचवीं भूमिका की मन-चेतनामय मानवी आत्मा छठवीं भूमिका में मन भुवन के मन की दूसरी अवस्था की चेतना प्राप्त करती है और इस प्रकार दूसरी अवस्था में उस मन के रूप में—प्रभावात्मक अथवा संवेदनात्मक **मन** के रूप में—अपनी तद्‌रूपता करने के लिये प्रवृत्त होती है। इस प्रकार मनो-चैतन्य मानवी आत्मा की चेतना ने मन भुवन की छठवीं भूमिका की चेतना का समावेश कर लिया है।

छठवीं भूमिका की चेतना की मनो-चैतन्य मानवी आत्मा **संवेदनों** की पूर्ण चेतना के द्वारा मन भुवन का अनुभव करती है और इस प्रकार वह विचारों से निपट शून्य होती है, किन्तु उसको वास्तव में ऐसी अनुभूति होती है कि उसे ईश्वर को आमने-सामने निरन्तर, प्रत्येक वस्तु में एवम् सर्वत्र, देखने की अनुभूति की चेतना प्राप्त है। वह ईश्वर को निरन्तर "देखती"‡ है किन्तु वह खुद को ईश्वर में ईश्वरवत् नहीं देख पाती। इसलिये वह अपनी ईश्वर को देखने-की-अनुभूति का ताल-मेल ईश्वर से अपनी एकरूपता के साथ नहीं कर पाती; और इस प्रकार वह ईश्वर से मिलने के लिये, जिसे वह आमने-सामने "देखती" है, लालायित होती है, तड़पती है, पीड़ित होती है। 'मन' की दूसरी अवस्था—संवेदन—के साथ यह एकरूपता दैवी प्रेम का प्रबल पहलू है जिससे अन्ततः ईश्वर से मिलन प्राप्त हो जाता है।

मन भुवन की पाँचवीं भूमिका विचार की पूर्ण चेतना की अवस्था है, इसलिये विचारों के नियंत्रण एवम् सृजन के ऊपर केवल प्रभुता स्थापित होती है, जबकि संवेदनाओं अथवा मनोविकारों और इच्छाओं के ऊपर न तो प्रभुत्व और न नियन्त्रण स्थापित होता है।

---

‡ भ्रमवश इस देखने का अर्थ हमारे साधारण नेत्रों से किसी वस्तु को देखने की हमारी साधारण रीति से न जोड़ना चाहिये। ईश्वर को आमने-सामने "देखने" का अर्थ है ईश्वर को मन भूमिका की एकमेव ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करना, और यह ज्ञानेन्द्रिय "देखने" की है। यहाँ आध्यात्मिक पथ के यात्री को ईश्वर की नैसर्गिक पहिचान होती है।

मन भुवन की छठवीं भूमिका संवेदन की पूर्ण चेतना की अवस्था है, और इस प्रकार संवेदनों के नियन्त्रण एवं सृजन के ऊपर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है और संवेदनों के प्रदेश में एक भी विचार के प्रवेश करने के लिये कोई गुन्जाइश नहीं रह जाती। छठवीं भूमिका की चेतना विचार-रहित होती है और वह स्थूल-एवम् प्राण-चेतनायुक्त आत्माओं की भावनाओं को नियन्त्रित करती है। इस नियन्त्रण का बहुधा ग़लत अर्थ लगाकर इसे सब स्थूल-एवम् प्राण-चेतनायुक्त आत्माओं के हृदयों के ऊपर प्रभुत्व समझा जाता है। (छठवीं भूमिका की चेतना से सम्पन्न आत्मा तथा-कथित हृदय को नियन्त्रित अथवा नियमित नहीं करती वरन् वह मन भूमिका में मन की उस अवस्था को नियन्त्रित एवम् शासित करती है जो मनोविकार एवम् इच्छाओं की भावनायें पैदा करती है।)

ईश्वर से प्रेम तथा उससे ऐक्य प्राप्त करने की लालसा का यथार्थ एवम् पूर्ण प्रदर्शन छठवीं भूमिका में होता है; जबकि मन भुवन की छठवीं भूमिका भी पार हो जाती है, माया का लोप हो जाता है और ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

मनुष्य योनि में जबकि आत्मा को मनो-चेतना‡ प्राप्त होती है, उसको स्थूल शरीर एवम् सूक्ष्म शरीर का भान नहीं होता; किन्तु वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के द्वारा निश्चय ही कार्य करती है, सीधे-सीधे नहीं वरन् मन भूमिका पर। इसलिये यद्यपि मनो-चैतन्य मानवी आत्मा को शरीर और प्राण का भान नहीं होता और इसलिये उसको अन्न भुवन एवम् प्राण भुवन का अनुभव नहीं होता, तथापि वह अचेतनतया स्थूल का उपयोग स्थूल के विविध पहलुओं के द्वारा कर सकती है और इस प्रकार वह स्थूल-चेतनायुक्त साधारण मानव की भाँति खाती, पीती, देखती, सुनती और महसूस करती दिखाई पड़ती है, यद्यपि उसको "देखने" की अपनी मनो ज्ञानेन्द्रिय से केवल मन भुवन का भान इस पूरी अवधि में रहता है। इसी रीति से, वह अचेतनतया प्राण का उपयोग प्राणशक्ति के विविध स्थूल पहलुओं के माध्यम से अणु शक्तियों के रूप में कर सकती है, जबकि उसको हर समय अपनी मनो ज्ञानेन्द्रिय से केवल "देखने" की चेतना रहती है। मन भुवन के अन्तर्गत

---

‡ [यह भी पढ़िये : मेहेरबाबा, "मनो-चेतना", सबकुछ और कुछनहीं (*Beacon Hill, N. S. W.*, आस्ट्रेलिया : मेहेर हाउस पब्लिकेशन्स, *1963*), पृष्ठ *63-65*। —सम्पादक]

मनो-चैतन्य मानवी आत्मा को अब केवल एक ज्ञानेन्द्रिय प्राप्त रहती है और वह है "देखने" की।

इसलिये पाँचवीं भूमिका पर स्थित यह मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा मन भुवन की पहली अवस्था का अनुभव कारण शरीर अथवा मन के द्वारा करती है और मन की पहली अवस्था की चेतना प्राप्त करती है। यहाँ यह आत्मा मन की पहली अवस्था के ऊपर (अर्थात् स्थूल-चेतनायुक्त एवम् प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्माओं के विचारों के ऊपर) नियन्त्रण रखने में समर्थ होती है, किन्तु अब वह कोई भी चमत्कार करने में निपट असमर्थ रहती है क्योंकि उसको प्राण भुवन की अनन्त प्राणशक्ति की तथा अपनी शक्तियों की बिल्कुल चेतना नहीं होती। फिर भी, चूंकि यह मनो-चेतना मानवी आत्मा प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्माओं के मन की पहली अवस्था के ऊपर नियन्त्रण रखती है, इसलिये प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की चमत्कार करने की उत्तेजना उसी अनुसार रुकती, नियन्त्रित होती अथवा बढ़ती है जैसीकि मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा के मन की इच्छा एवम् अभिलाषा होती है, जो मन-चेतनायुक्त आत्मा दूसरे मनों के विचारों की उत्पत्ति करने तथा उनको नियन्त्रित रखने में समर्थ होती है और वह खुद स्थिर होती है तथा उसकी चेतना में पुनः कभी भी किंचित्मात्र अधःपतन नहीं हो सकता।

क्रमशः, जैसे जैसे मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की चेतना का प्रतिवर्धन गहरा और गहरा होता जाता है, वह मन की दूसरी अवस्था (अर्थात् संवेदन) के ऊपर अपने प्रभुत्व का अनुभव करती है और अब उसको मन की अथवा कारण शरीर की पूरी चेतना प्राप्त हो जाती है, और वह समग्र कारण शरीर का अनुभव छठवीं भूमिका८ पर करती है। यह अनुभव ईश्वर को आमने-सामने "देखने" का है—ईश्वर को सर्वत्र और सर्वस्व में देखने का है।

ठीक पहली भूमिका से लेकर ऊपर छठवीं भूमिका के आद्योपान्त चेतना का ऊर्ध्वगमन वैसे ही वैसे क्रमशः एवम् दृढ़तापूर्वक अग्रसर हुआ जैसे जैसे आत्मा की चेतना को क्षीणतर और क्षीणतर होते हुये बहुमुखी एवम् नानाविध विपरीत संस्कारों के अनुभव कम और कम तीव्र होते गये। इसलिये, जिस समय आत्मा का प्रतिवर्धन अपनी प्रगति में अग्रसर हो रहा था, विविध विपरीत संस्कार क्रमशः न्यूनतर एवम् क्षीणतर होते गये यहाँ तक कि छठवीं भूमिका पर स्थित आत्मा की प्रतिवर्धित चेतना

को कारण शरीर का पूरा भान हो गया और वह पूर्णतया मन भुवन का अनुभव करती है और उसमें द्वन्द्वों के अवशेष संस्कारों के एक क्षीण अन्तिम चिन्ह के अतिरिक्त व्यावहारिकतया और कोई संस्कार बिल्कुल शेष नहीं रहे। अर्थात्, प्रतिबंधित चेतना मन के साथ पूर्णतया अपनी तद्‌रूपता करती है, और आत्मा यह अनुभव करने के लिये प्रवृत्त होती है कि वह मन है; और इस आत्मा को, मन के रूप में, ऐसा अन्तिम एवम् समूचा *(Total)* संस्कार होता है कि वह ईश्वर को आमने-सामने हर वस्तु में "देखती है" किन्तु वह खुद अपने को ईश्वर में नहीं देख पाती।

छठवीं भूमिका की यह मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा, जो प्रायः सभी संस्कारों से शून्य है‡ और जिसे केवल मन की चेतना है, अब ईश्वर को अपने आमने-सामने पाती है और ईश्वर को हर वस्तु में देखती है किन्तु खुद अपने को ईश्वर में नहीं देखती क्योंकि, उसको अब भी मन की चेतना होने के कारण, वह अपने को मन ही मानती है। यह मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा मन से अपना साहचर्य करती है, और उसको भान होता है कि वह स्वयं मन है, और वह अपनेआप को ऐसा अनुभव करती है कि वह अब भी ईश्वर से भिन्न अन्य कोई चीज़ है। छठवीं भूमिका पर स्थित यह मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा ईश्वर को यथार्थतः अपने आमने-सामने उससे अधिक स्पष्टतया एवम् प्रगाढ़तया "देखती" है जितना कि स्थूल-अथवा प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा अन्न भुवन अथवा प्राण भुवन की वस्तुओं को देखती है।

इस स्थिति में आत्मा की चेतना, जिसने विविध, असंख्य एवम् विपरीत संस्कारों का अनुभव किया था, अब द्वन्द्वों के द्वैध संस्कारों के अन्तिम अवशेष का अनुभव करती है। छठवीं भूमिका की इस मन-चेतनायुक्त आत्मा को अब भी दुई की चेतना होती है, जिसमें वह अपनी एकरूपता मन से करती है और अपने को परमात्मा[१] से भिन्न मानती है।

---

‡ पीड़ा देते हुये दाँत के समान, जो क्रमशः ढीला होता जाता है किन्तु बहुत समय तक नहीं उखड़ता, मिथ्या अहं प्रथम आध्यात्मिक यात्रा की अन्तिम स्थिति तक बना रहता है, यद्यपि वह उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है जैसे जैसे आत्मा पथ पर अग्रसर होती है, और सातवीं भूमिका के अन्तिम फ़ना में सदैव के लिये उसका लोप हो जाता है और उसका स्थान असीमित यथार्थ अहं ले लेता है।

सातवीं भूमिका

दुई का यह अनुभव आगे और आगे चलता ही जाता है, जब तक कि मनो-चैतन्य मानवी आत्मा की चेतना का अन्तिम प्रतिवर्धन आत्मा को मन से विच्छिन्न होने की स्थिति तक नहीं पहुँचा देता (मन की चेतना ने ईश्वर को प्रत्यक्षरूप में उपस्थित किया था), और आत्मा का साहचर्य खुद उसकी ही सत्ता—अर्थात् आत्मा—से करा देता है।

इस प्रकार अब ऐसा कहा जाता है कि आत्मा की चेतना आखिरकार सातवीं भूमिका की चेतना का अनुभव करती है। यहाँ सातवीं भूमिका पर आत्मज्ञानी मानवी आत्मा को अपने ईश्वर होने की चेतना होती है और वह अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवम् अनन्त आनन्द का अनुभव करती है।

मनो-चैतन्य मानवी आत्मा के लिये, अपने खुद के प्रयत्नों‡ से छठवीं भूमिका को पार करना और सातवीं भूमिका का अनुभव करना बिल्कुल असम्भव है१०। इस स्थिति पर सद्गुरु की कृपा निपट आवश्यक होती है जो मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा को मन की चेतना से पृथक् होने में सहायता करे और उसको अनन्त अवस्था से उसके ऐक्य का साक्षात्कार करावे, जिससे वह चेतनतया अनन्त आनन्द का अनुभव कर सके और यह अनुभव कर सके कि वह (आत्मा) शाश्वतः आनन्द में थी।

इस प्रकार से ही सातवीं भूमिका की आत्मज्ञानी मानवी आत्मा को अब आत्मा के अनन्त एवं शाश्वत स्वरूप की पूर्ण चेतना है और अब उसको प्राणशक्ति एवम् मन के मूल की चेतना भी है, जो उसकी ही अनन्त शक्ति एवं अनन्त ज्ञान के पहलुओं की छायामात्र थी।

यह आत्म-चेतनायुक्त मानवी आत्मा, जो अब आत्मसाक्षात्कार-प्राप्त अथवा ईश्वर साक्षात्कार-प्राप्त है, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवम् अनन्त आनन्द का अनुभव करने के साथ-साथ उनको प्रसारित भी करती है। कभी-कभी, किन्हीं स्थितियों में, ऐसी आत्मज्ञानी मानवी आत्मायें इस अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं आनन्द का उपयोग सीधे-सीधे एवम् चेतनतया दूसरी आत्माओं को उनके संस्कारों से तथा शरीर, प्राण और

‡ तथापि, चेतना की छठवीं भूमिका में स्थित आत्मायें अपने शरीरों को त्यागते समय परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर लेती हैं।

मन, एवम् अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन के साथ उनके साहचर्यों से मुक्त करने के लिये भी करती हैं।

आत्म-चेतना प्राप्त करने के अपने घोर प्रयास में व्यक्तिगत सनातन आत्मा ने, जिसे परमात्मा के अन्तर्गत अपनी अनन्त अवस्था की चेतना न थी, असंख्य विविध संस्कारों का सञ्चय एवम् अनुभव किया, और वह पूरे दौरान में परिमित एवम् नश्वर अस्तित्वों के साथ साहचर्य करती हुई अन्न, प्राण एवम् मन भुवनों के विस्तारों को खोलती गई और उसके साथ-साथ वह अन्न भुवन की स्थूल चेतना का विकास करती गई तथा प्राण एवम् मन भुवनों की प्राण एवम् मन भूमिकाओं की चेतना का **प्रतिवर्धन** करती गई।

आत्मा की चेतना का प्रतिवर्धन सद्गुरु की कृपा से अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा, जिससे आत्मा को परमात्मा में अपनी अनन्त अवस्था का आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो गया।‡

इस प्रकार से ही जब आत्मा की चेतना को आत्म-चेतना प्राप्त हो गई और उसने अनन्त शक्ति, ज्ञान एवम् आनन्द का अनुभव किया, तब आत्मा को इस सत्यता का ज्ञान हुआ कि वह शाश्वतः अस्तित्व में है; और आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये किये गये घोर प्रयास के पूरे दौरान में, शरीर, प्राण एवम् मन तथा अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन के संस्कार, अनुभव एवम् साहचर्य केवल खोखले स्वप्न थे; तथा शरीरों, जीवों एवम् मानव प्राणियों से तादात्म्य और तीनों भुवनों एवम् छः भूमिकाओं के, तथा उनके सभी साजो-सामान के, सभी अनुभव सापेक्ष अस्तित्व रखनेवाले थे जो तभी तक पोषित एवम् स्थित रहे जब तक कि आत्मा की चेतना अपरिपक्व थी। परिपक्वता केवल सातवीं भूमिका में चेतना के पूर्णतया प्रतिवर्धित हो जाने पर प्राप्त हुई। इससे आत्मा को आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हुआ, अथवा आत्मा को ईश्वर-साक्षात्कार की पूर्ण चेतना प्राप्त हो गई। दूसरे शब्दों में, आत्मा

---

‡ सौ बार तेरा दामन हाथों मेरे आया
जब आँख खुली देखा अपना ही गरीबाँ है।

—असगर

"मुझे सैकड़ों बार महसूस हुआ कि मैं तेरा दामन दृढ़तापूर्वक अपने हाथों से पकड़े था; परन्तु जब मेरी आँखें खुलीं तो मुझे अचरज मालूम हुआ कि मैं अपना ही दामन पकड़े था।"

को परमात्मा में अपनी अनन्त अवस्था का चैतन्य साक्षात्कार हो गया ।†

मन के अन्तिमरूप से नाश हो जाने एवम् मनो संस्कारों के मोटे पर्दा के जर्जर हो जाने पर ही चेतना सभी संस्कारी बन्धनों से पूर्णतया स्वतन्त्र रहकर कार्य कर सकती है । इसका अर्थ है अथाह गहराई को पार करना जो छठवीं भूमिका को सातवीं से अलग करती है । सातवीं भूमिका ऊँचे से ऊँचे परमात्मा का **निराकार निवासस्थान** है ।* सबसे ऊँचे अथवा अनन्त ईश्वर के सत्य स्वरूप का साक्षात्कार कल्पना के पूरे प्रदेश को लाँघकर उस पार जाने से ही हो सकता है । केवल इस सातवीं भूमिका पर ही आत्मा को आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के हेतु उठी मूल लहर की सिद्धि प्राप्त होती है जिसमें वह अपनी सत्ता को निर्विकार, सनातन, अखण्ड्य एवम् निराकार परमात्मा से अभिन्न, और साथ ही अनन्त ज्ञान, अनन्त यथार्थता (सत्य), अनन्त शक्ति एवम् अनन्त आनन्द से सम्पन्न अनुभव करती है ।

---

† ईश्वरसाक्षात्कार-प्राप्त मनुष्य सर्वशक्तिमान, घन (+) ज्ञान एवम् चेतना है । वह पूर्ण जागृत अवस्था में होता है । वह ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय होता है । वह प्रेम, प्रेमी और प्रियतम होता है । वह जानता है कि वह प्रत्येक इन्सान अथवा जीवात्मा में है, और प्रत्येक जीवात्मा उसमें है । ईश्वरसाक्षात्कार-प्राप्त मनुष्य जानता है कि वह अस्तित्व का सर्वस्व है, और वह सदैव सत्य का अनन्त महासागर था और वही बना रहेगा । किन्तु साधारण मनुष्य को यह "ज्ञान" नहीं होता कि वह कहाँ से आया है और कहाँ जायगा ।

* (पाठक के लिये फ़रीदउद्दीन अत्तार कृत मन्तिक-उत-तायर का उल्लेख किया जाता है, जो एक सूफ़ी वर्णन है और आमतौर पर "पक्षियों का सम्मेलन" कहलाता है, जिससे भूमिकाओं से होकर यात्रा करने का आनन्ददायी वर्णन प्राप्त होता है । —सम्पादक)

भाग ६

दैवी चेतना की अवस्थाओं का सारांश

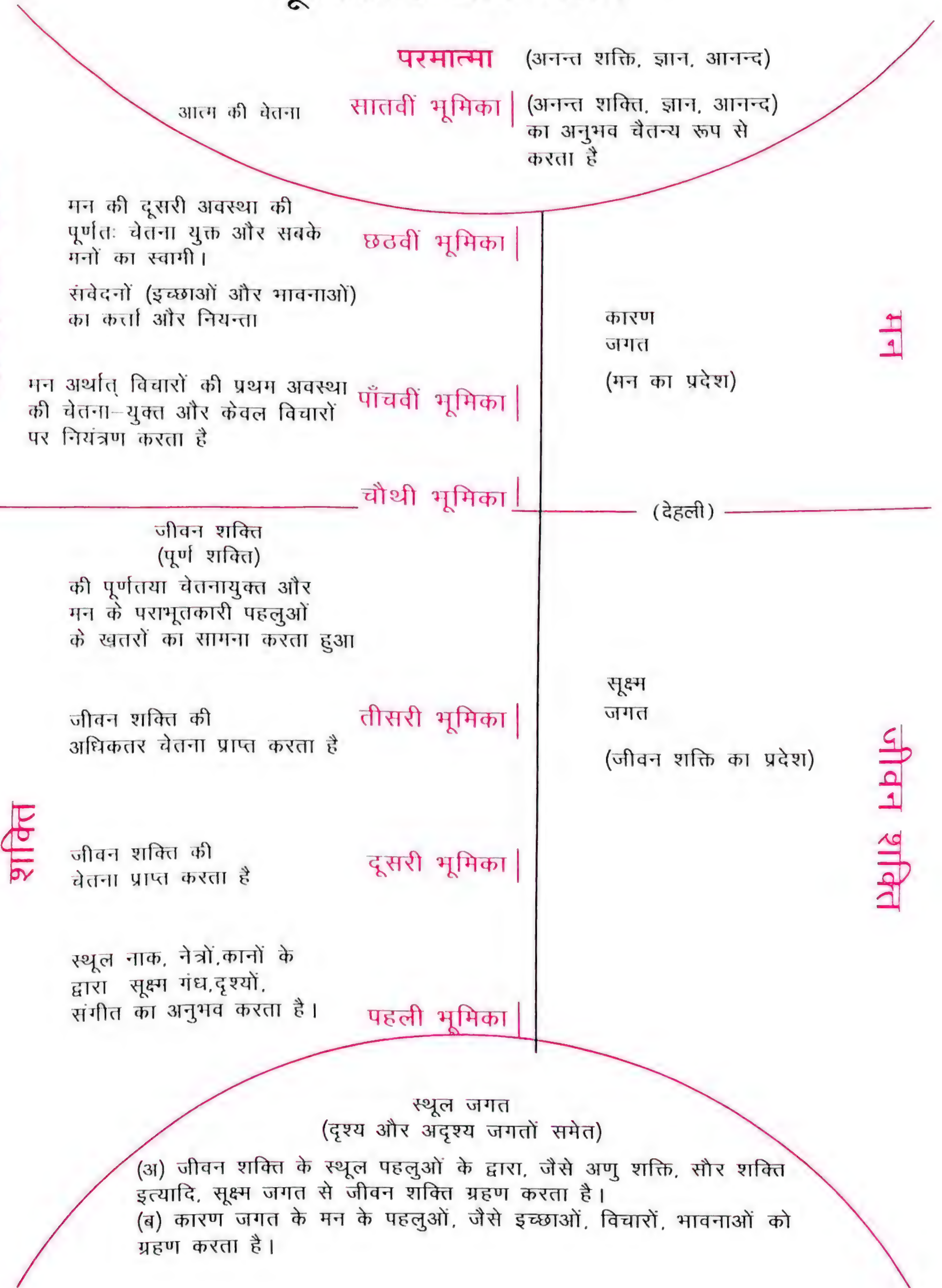
मनुष्य-योनि धारण करने और पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेने के बाद—वह पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेनें के बाद जिसकी लालसा आत्मा परमात्मा का अनुभव करने के लिये करती थी—आत्मा को अब भी परमात्मा का अनुभव नहीं होता; क्योंकि पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेने के बाद भी, जब तक यह चेतना स्थूल संस्कारों में केन्द्रित बनी रहती है, आत्मा को बलात् स्थूल शरीर का भान होता है और इसलिये उसको अनिवार्यंतः अन्न भुवम का अनुभव होता है ।

मनुष्य-योनि प्राप्त हुये बग़ैर, आत्मा को प्राण एवं मन की तथा अपनी सत्ता की चेतना प्राप्त करना असम्भव है । इसी प्रकार, प्राण भुवन, मन भुवन एवं परमात्मा का अनुभव करना असम्भव है । चेतना के विकास के लिये और शरीर के विकास के लिये तथा अन्न भुवन के अनुभव के लिये, स्थूल संस्कार रखना निपट आवश्यक होता है, और जब तक स्थूल संस्कार रहते हैं, तब तक आत्मा को सूक्ष्म एवम् कारण शरीरों की चेतना नहीं होती ।

मनुष्य-योनि में, पूर्ण चेतना के विकास के कारण तथा मानव प्राणी के रूप में एक पूर्ण शरीर के विकास के कारण और अन्न भुवन का पूरा अनुभव हो चुकने के कारण, अब स्थूल संस्कारों की और अधिक आवश्यकता नहीं रहती । स्थूल संस्कार सूक्ष्म संस्कार बन जाते हैं, सूक्ष्म संस्कार मनो संस्कार बन सकते हैं, और मनो-संस्कार का लोप हो सकता है । इसलिये मानव देह में आत्मा को सूक्ष्म एवम् कारण शरीरों की तथा स्वयं आत्मा की चेतना प्राप्त हो सकती है, और प्राण भुवन एवम् मन भुवन का तथा परमात्मा का अनुभव हो सकता है । किन्तु दुखद बात यह है कि मनुष्य-योनि में पूर्ण चेतना प्राप्त करने के बाद तत्क्षण, आत्मा को प्राण एवम् मन की तथा स्वयं आत्मा की चेतना प्राप्त नहीं

चार्ट:1

भूमिकायें और जगत



होती, और उसी प्रकार उसे प्राण भुवन एवम् मन भुवन का तथा **परमात्मा** का अनुभव प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि स्थूल संस्कार न तो सूक्ष्म संस्कार अथवा मनो संस्कार बनते हैं और न वे मनुष्य-योनि में आत्मा के पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेने के बाद तत्काल लुप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि अन्तिम पशु-योनि से निर्मित प्रथम मानव-शरीर, जब छूटता है, अपने पीछे प्रथम मानव-शरीर के संस्कारों की बपौती छोड़ जाता है, और फिर बाद में जन्म लेने वाला प्रत्येक मनुष्य-शरीर अन्तिम मनुष्य-शरीर के संस्कारों से निर्मित होता है। इसलिये आत्मा, पूर्ण चेतना रखती हुई भी, असंख्य मनुष्य-शरीर धारण करती है जब तक कि स्थूल संस्कार विद्यमान रहते हैं।

अन्ततः, दो बातों में से एक घटित होती है :— आत्मा के स्थूल संस्कार एकाएक पूर्णतया लुप्त हो सकते हैं, और आत्मा शरीर की चेतना खो सकती है एवम् आत्म-चेतना प्राप्त कर सकती है और इस प्रकार वह अन्न भुवन का अनुभव खोकर परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर सकती है। अथवा, दूसरी अधिकतर सम्भव सम्भावना यह है कि अन्ततः स्थूल संस्कार क्षीण होंगे और सूक्ष्म संस्कार बन जायेंगे, सूक्ष्म संस्कार और अधिक क्षीण होंगे और मनो संस्कार बन जायेंगे, और आखिरकार मनो संस्कार इस सीमा तक क्षीण होंगे कि वे नष्ट हो जायेंगे। इस दशा में आत्मा पहले शरीर की चेतना एवम् अन्न भुवन के अनुभव खोती है, और प्राण की चेतना तथा प्राण भुवन का अनुभव प्राप्त करती है। फिर आत्मा प्राण की चेतना खोती तथा मन की चेतना प्राप्त करती है और प्राण भुवन का अनुभव खोती तथा मन भुवन का अनुभव प्राप्त करती है। अन्ततः, आत्मा मन की चेतना खोती है, और उसके द्वारा स्वयं आत्मा की चेतना प्राप्त करके मन भुवन का अनुभव खोती है और परमात्मा का अनुभव प्राप्त करती है।

जब आत्मा आत्म-चेतना प्राप्त कर चुकती है और परमात्मा का अनुभव करती है, तब आत्मा **तीन अवस्थाओं** में से एक का उत्तराधिकार पाती हैं (दो या चार अवस्थायें नहीं वरन् निश्चितरूप से तीन अवस्थायें) :

प्रथम अवस्था अ : ऊँचे से ऊँचे के इस अनुभव के पश्चात् शीघ्र ही, आत्मा सामान्यतः अपने सब छाया शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) त्याग

देती है और शाश्वत: समग्र रूपेण वैयक्तीकृत *[Individualized]* अनुभव का उपभोग करती है—ईश्वर की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवम् अनन्त आनन्द का अनुभव—**उसके गुणों का उपयोग किये बगैर करती है।**

प्रथम अवस्था ब : आत्मा के ये तीनों शरीर कुछ समय बाद तक बने रह सकते हैं, यद्यपि उसको इन शरीरों की बिल्कुल चेतना नहीं रहती। इन शरीरों को बनाये रखने के अलावा, आत्मा की अवस्था यथार्थ में वैसी ही होती है जैसी कि "अ"।

दूसरी अवस्था : आत्मा तीनों शरीर बनाये रखती है और, आत्म-चेतना के साथ-साथ, उसको अपनी तीनों छायाओं (शरीर, प्राण एवम् मन) की चेतना भी रहती है और साथ-साथ वह ईश्वर की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवम् अनन्त आनन्द का अनुभव करती है। वह अन्न भुवन, प्राण भुवन एवम् मन भुवन का अनुभव भी ईश्वर की छायाओं के रूप में करती है, परन्तु वह ईश्वर की अनन्त शक्ति, ज्ञान एवम् आनन्द का उपयोग दूसरी आत्माओं के लिये नहीं करती जो मन-चेतनामय, प्राण-चेतनामय तथा स्थूल-चेतनामय होती हैं और इसलिये **वह स्वाधीन होती है।**

तीसरी अवस्था : यह बिल्कुल दूसरी अवस्था के समान होती है सिवाय इसके कि आत्मा अपनी अनन्त शक्ति, ज्ञान एवम् आनन्द का **उपयोग** स्थूल-चेतनायुक्त आत्माओं को प्राण-चेतनामय बनाने में करती है; और प्राण-चेतनामय आत्माओं को मन-चेतनामय बनाने में करती है; और मन-चेतनायुक्त आत्माओं को आत्म-चेतनामय बनाने में करती है; और वह **एक प्रयास में ही** स्थूल-चेतनायुक्त आत्माओं को आत्म-चेतनामय बना देती है।

मनुष्य योनि में प्राण और मन का पूर्ण विकास तथा चेतना का प्रतिवर्धन

केवल मनुष्य-योनि में ही प्राण और मन का पूर्ण विकास होता है। इसलिये, उस समय भी जबकि आत्मा को स्थूल-चेतना प्राप्त होती है और प्राण एवं मन की चेतना नहीं होती, वह प्राण एवं मन के द्वारा कार्य करती है, सीधे-सीध नहीं वरन् अन्न भूमिका पर। इसलिये यद्यपि स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा को प्राण और मन की चेतना नहीं होती

और इसलिये उसको प्राणशक्ति एवम् मन का **प्रत्यक्ष अनुभव** नहीं होता, तथापि वह प्राणशक्ति का प्रयोग प्राणशक्ति के विविध पहलुओं (अर्थात् अणुशक्ति) के द्वारा कर सकती है और मन का उपयोग मन के विविध पहलुओं के द्वारा कर सकती है—जैसे विचार, इच्छायें और भावनायें।

मनुष्य-योनि में जब आत्मा को प्राण चेतना प्राप्त रहती है, उसको शरीर और मन का भान नहीं होता, फिर भी वह **शरीर और मन** के द्वारा कार्य करती है, सीधे-सीध नहीं वरन् प्राण भूमिका पर। इसलिये यद्यपि प्राण-चेतनामय मानवी **आत्मा** को **शरीर** एवं **मन** का भान नहीं होता और इसलिये उसको अन्न भुवन तथा मन भुवन का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तथापि वह शरीर का उपयोग शरीर के विविध अङ्गों के द्वारा कर सकती है, जैसे खाना, पीना, सोना, देखना, संवेदन प्राप्त करना, सुनना, इत्यादि, और वह मन का उपयोग मन के विविध अङ्गों के द्वारा कर सकती है, जैसे विचार, इच्छायें और भावनायें।

मनुष्य-योनि में जबकि आत्मा मनो-चेतनामय होती है, उसको **शरीर** एवम् **प्राण** की चेतना नहीं होती किन्तु फिर भी वह शरीर और प्राण के द्वारा कार्य करती है, सीधे-सीध नहीं वरन् मन भूमिका पर। इसलिये यद्यपि मन-चेतनामय मानवी **आत्मा** को **शरीर** एवम् **प्राण** का भान नहीं होता और इसलिये उसको अन्न भुवन तथा प्राण भुवन का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तथापि वह शरीर का उपयोग शरीर के विविध पहलुओं के द्वारा कर सकती है—जैसे खाना, सोना, देखना, संवेदन प्राप्त करना, सुनना, इत्यादि, और वह प्राणशक्ति का उपयोग प्राणशक्ति के विविध पहलुओं के द्वारा कर सकती है, जैसे अणुशक्ति, इत्यादि।

इसकी उपमा देने के लिये, हम उदाहरण स्वरूप एक स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा को पृथ्वी पर (जिसे हम अन्न भूमिका के लिये एक स्तर मानते हैं) स्थित एक आत्मावत् मान लें जो सूर्य से अत्यन्त दूर है, जिस सूर्य को हम उदाहरण स्वरूप, केवल अपनी उपमा के अभिप्राय के लिये ही, प्राण भुवन की प्राणशक्ति का मूल एवम् मन भुवन के मन का मूल मानते हैं। (इस उपमा के सूर्य को और पृथ्वी को भ्रान्तिपूर्वक सूर्यमण्डल के सूर्य एवम् पृथ्वी न मानना चाहिये)।

यह सूर्य, जिसे हमने अब अपना तुलना का स्तर मान लिया है, प्राणशक्ति एवम् मन की अपनी किरणें निरन्तर और साथ-साथ पृथ्वी

पर फेंकता है (जिसे हमने अन्न भूमिका का स्तर मान लिया है); और पृथ्वी पर स्थित स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा—जिसे केवल स्थूल भूमिका का भान है—सूर्य की किरणों से प्राण भुवन की प्राणशक्ति की किरणें अचेतनतया अपने में ग्रहण करती है और इस प्रकार इस प्राणशक्ति के पहलुओं का भरपूर प्रयोग अन्न भुवन में अणुशक्ति के रूप में करती है। पृथ्वी पर स्थित यह स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा अन्न भुवन में अचेतनतया मन के पहलुओं का उपयोग भी करती है, जैसे विचार, इच्छायें एवम् भाव, और जिन्हें वह इस सूर्य की किरणों से भी ग्रहण करती है।

अपनी उपमा को जारी रखने के अभिप्राय से, अब हम प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा को वायु में स्थित, और इसलिये पृथ्वी पर स्थित स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा की अपेक्षा सूर्य से निकटतर, आत्मावत् मानेंगे। वायु में स्थित इस प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा को केवल प्राण भुवन का भान होता है—वह इस सूर्य से, जो प्राणशक्ति का मूल है, चेतनतया परिपूर्ण प्राणशक्ति ग्रहण करती है और इस प्रचण्ड प्राणशक्ति का उपयोग चेतनतया उसके उदीयमान [*Nascent*] रूप में करती है। इस प्रकार यह प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा प्रचण्ड शक्ति सँभालने में समर्थ होती है और वह मुर्दों को ज़िन्दा करने में अथवा अन्धों को आँखें देने में अथवा अङ्गहीनों को अङ्ग देने में पूर्णतया समर्थ होती है। यह प्रथम तीन भूमिकाओं का प्रदेश है, और प्राणशक्ति को किसी भी मात्रा में मुक्त करने की इस आत्मा की क्षमता प्राण-चेतना की उस मात्रा के अनुसार प्राप्त होती है जो आत्मा को दूसरी और तीसरी भूमिकाओं में प्राप्त हुई थी।

जबकि यह प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा, प्राणशक्ति के अपने प्रदेश में, चेतनतया प्राणशक्ति का प्रयोग उसकी उदीयमान अवस्था में करती है, तब उसको मन भुवन का भान नहीं होता। इसलिये वह अचेतनतया मन के पहलुओं का प्रयोग करती है, जैसे विचार, इच्छायें और भावनायें। इस प्रकार, यद्यपि वह प्राणशक्ति की अपनी चेतना के द्वारा प्रचण्ड शक्ति को सँभालने में समर्थ होती है, तथापि वह ऐसी भावग्राही भी होती है कि वह चेतनतया मन के पहलुओं का उपयोग करने के दौरान में मन के फन्दे में फँस सकती है। इस कारण से यह प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा, महती शक्तिशाली होती हुई भी, चेतनतया

अपनी शक्ति का प्रयोग चमत्कारी शक्तियों के रूप में करने के समय बहुधा नीचे गिरकर चेतना के निचले धरातल पर पहुँच जाती है।

और भी सही रूप में, प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा प्राप्त की हुई प्राण चेतना की मात्रा के अनुसार या तो पहली अथवा दूसरी अथवा तीसरी भूमिका में होती है; अथवा, हम कह सकते हैं कि सूक्ष्म लोक के प्रदेश में पहली, दूसरी और तीसरी भूमिकायें होती हैं। अब चौथी भूमिका चेतना की वह अवस्था है जो प्राण भुवन के प्रदेश एवम् मन भुवन के प्रदेश के बीच सीमाविभाजन की रेखा खींचती है। दूसरे शब्दों में, चौथी भूमिका पर स्थित प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा (मन भुवन की) देहली पर खड़ी हुई मानवी आत्मा के समान है, जो देहली प्राण भुवन और मन भुवन की सीमा स्थिर करती है।

इसलिये चौथी भूमिका की चेतना की स्थिति में प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा को प्रथम, द्वितीय और तृतीय भूमिकाओं की पूर्ण चेतना होती है और वह प्राण भुवन का पूर्ण अनुभव करती है, और इसलिये उसको प्राण भुवन की प्रचण्ड शक्ति का पूरा भान होता है। इस प्रकार, मन भुवन के द्वार पर खड़ी हुई यह मानवी आत्मा, जिसके हाथ में अपने शिखर पर पहुँची हुई प्राणशक्ति है, अब मन के प्रदेश के—मन भुवन के—निकटतम है, जो मन भुवन है, और इस प्रकार उसमें विचार, इच्छायें एवम् भाव जैसे मन के पहलुओं की प्रबल शक्तियों के वशीभूत होने के लिये अत्यधिक भावग्राहिता होती है। और यद्यपि चौथी भूमिका पर स्थित यह प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा प्राण भुवन की उच्चतम शक्ति का चेतनामय प्रयोग करती है, तथापि उसको अब भी मन का भान नहीं होता। इसलिये वह अचेतनतया मन के पहलुओं का प्रयोग करती है, जो अब अत्यन्त प्रबल होते हैं और इस प्रकार इस आत्मा के लिये अत्यन्त प्रलोभनकारी होते हैं, जिसे अब सर्वोच्च सीमा पर पहुँचे हुये मन के पहलुओं (विचारों, इच्छाओं और भावों) के पूरे तूफ़ान का सामना करना पड़ता है और उसे सहन करना पड़ता है।

चौथी भूमिका पर स्थित मानवी आत्मा के लिये यह स्थिति अत्यन्त खतरनाक होती है, क्योंकि यह अत्यन्त विश्वासघाती होती है। यहाँ आत्मा को जो सर्वोच्च प्राणशक्ति से सुसज्जित होती है, जिसका प्रयोग सर्वोच्च हित अथवा सर्वोच्च अहित के लिये किया जा सकता है, अपने शिरोबिन्दु पर पहुँची हुई दो शक्तियों का एक प्रकार का सन्तुलन

रखना पड़ता है—अर्थात्, प्राण भुवन की उच्च प्राणशक्ति का शिखर और मन भुवन के मन के पहलुओं की प्रबल चरमसीमा। यदि चौथी भूमिका पर स्थित यह मानवी आत्मा, अचेतनतया मन के पहलुओं का प्रयोग करती हुई, इन पहलुओं (विचारों, इच्छाओं एवं भावों) के प्रबल प्रलोभनों के वशीभूत हो जाती है, तब वह अपनी प्रबल इच्छाओं की तृप्ति के लिये ही चरम प्राणशक्ति का अत्यन्त अहितकर प्रयोग शक्तिशाली चमत्कारों के रूप में किये बग़ैर नहीं रह सकती, जैसे मुर्दे ज़िन्दा करना, अन्धों को आँखें देना, रोगियों एवम् अङ्गहीनों को चङ्गा करना। वह अखिल रूप जगत की रचना, उसकी पूरी सृष्टि के सहित कर सकने में समर्थ होती है। इस प्रकार चरम प्राणशक्ति से प्राप्त हुई वह शक्ति अत्यन्त महान होती है जिसका भान इस प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा को होता है।

इस प्रकार, अपने शिखर पर पहुँचे हुये मन के पहलुओं के माध्यम से, तथा उनके प्रबल प्रलोभनों के द्वारा किया गया चरम प्राण-शक्ति का यह दुरुपयोग दो मूलभूत अलौकिक शक्तियों में—अतुल महाबल के रूप में चरम प्राणशक्ति, और दुर्निवार्य (*Irresistible*) इच्छा के रूप में मन की चरम शक्ति—एक प्रकार की भीषण, असाध्य रुकावट पैदा करता है जिसके फलस्वरूप चौथी भूमिका की प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा की उन्नत चेतना में एक अकल्पनीय भीषण संघर्ष एवम् विस्फोट होता है। इस प्रकार इस आत्मा की चेतना में पूर्ण अव्यवस्था पैदा हो जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि इस मानवी आत्मा की उन्नत चेतना पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो जाती है। तब यह प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा अनिवार्यतः पतित होकर चेतना के नीचे से नीचे धरातल पर पहुँच जाती है, जो अत्यन्त अपक्व रूप की अत्यन्त परिमित प्रकार की चेतना होती है। इसलिये इस मानवी आत्मा को पत्थर योनि धारण करनी पड़ती है और पुनः विकास की प्रक्रिया पार करनी पड़ती है।

एक स्थूल-चेतनायुक्त वैज्ञानिक का उदाहरण

अब हम इस स्थिति को एक दृष्टान्त के द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं कि स्थूल भूमिका पर भी कभी कभी एक साधारण

मनुष्य के प्रति क्या घटित होता है जिसके हाथ में प्रचण्ड शक्ति है और जो बहुधा अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करने की प्रगाढ़ इच्छा के वशीभूत हो जाता है।

तब हम चौथी भूमिका की एक प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्मा की (जैसी कि ऊपर बताई जा चुकी है) तुलना स्थूल जगत के एक प्रख्यात महान वैज्ञानिक से करते हैं। उस वैज्ञानिक को शक्ति-विज्ञान के क्षेत्रों में अत्यधिक अनुसन्धान के द्वारा तथा निपट प्रयास के बल से स्थूल भूमिका की पूर्ण चेतना होती है, इसलिये वह विशेष परीक्षणों के माध्यम से भीषण प्राणशक्ति को मुक्त करने की सम्भावना का अनुभव पूर्णतया करता है।

अपने दृष्टान्त के प्रयोजन के लिये, हम कल्पना करते हैं कि उस वैज्ञानिक को क्रमशः प्रचण्ड प्राणशक्ति की पूर्ण चेतना प्राप्त होती है, जो (शक्ति) उसकी पहुँच के भीतर आ गई है और जो अन्ततः पूर्णतया उसके नियन्त्रण में आ जायगी। तब उसे उसका प्रयोग करने की उत्कट इच्छा होती है।

उस समय भी जबकि स्थूल जगत में इस स्थूल-चेतनामय वैज्ञानिक को प्राणशक्ति के उच्चतम सम्भव स्थूल रूप का भान होता है, उसको उस प्राणशक्ति का उसकी उदीयमान अवस्था में बिल्कुल भान नहीं होता, जो केवल सूक्ष्म जगत के प्रदेश की होती है और जिसका अनुभव एवम् नियन्त्रण केवल सूक्ष्म-चेतनामय मानवी आत्मा कर सकती है, और जिसका परीक्षण अथवा अनुभव कभी, किन्हीं परिस्थितियों में भी, कोई स्थूल-चेतनामय मनुष्य नहीं कर सकता।

इसलिये, जबकि स्थूल जगत में पृथ्वी पर इस स्थूल-चेतनामय वैज्ञानिक को अणुशक्ति के उच्चतम सम्भव स्थूल रूपों का भान होता है, उसको वास्तव में प्राण भुवन के प्रदेश की प्राणशक्ति के उच्चतम स्थूल रूपों में केवल एक की पूर्णतया चेतना प्राप्त होती है।

और, जब यह वैज्ञानिक, जिसे प्राणशक्ति के उच्चतम स्थूल रूपों में एक की चेतना प्राप्त होती है, जो अब पूर्णतया उसके नियन्त्रण में है, इस शक्ति का प्रयोग करने की उत्कट इच्छा के वशीभूत हो जाता है—जो इच्छा भी मन भुवन के मन का सर्वोच्च रूप है—तब इस वैज्ञानिक का पूरा चरित्र अनिश्चित और इस प्रकार बहुधा जोखिम में होता है।

परस्पर-विरोधी विचारों की इस सन्धि बेला में ही, जो एक ओर तो वैज्ञानिक को अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करने के लिये उत्तेजित करते हैं और दूसरी ओर उसको मौनव्रती होने के लिये सान्त्वना देते हैं, वैज्ञानिक को सन्तुलन रखने के लिये अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है—अर्थात्, अपने हाथ में प्रस्तुत प्राणशक्ति के प्रचण्ड रूपों का सन्तुलन रखने के लिये। यह उसकी मर्जी पर निर्भर रहता है कि वह इस शक्ति का प्रयोग विश्व के हित के लिये करे, अथवा इसका दुरुपयोग करके विनाश करे, अथवा इसका बिल्कुल प्रयोग न करे। उसका सामना मन के प्रबल पहलू की दुर्निवार्य, प्रबल शक्ति से उत्कट इच्छाओं के रूप में होता है, जो इच्छायें नाम, ख्याति एवम् शक्ति प्राप्ति के लिये उसके ऊपर हावी होती हैं, और वे उसके अहङ्कार को स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की ओर अत्यधिक उत्तेजित करती हैं, और वे उस गहन विनाश एवं ध्वंस का लिहाज़ नहीं करतीं जो इस प्रकार हो सकता है।

इसलिये, यदि वैज्ञानिक इस अतिशय अहङ्कारी इच्छा के सामने झुक जाता है, जो अब अपने शिखर पर है, और उसके द्वारा वह उस शक्ति का दुरुपयोग, जो उसके अधिकार में प्राणशक्ति के सर्वोच्च पहलुओं में से एक के रूप में होती है, अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु करने में प्रवृत्त होता है तो वह अपने हाथ में प्राप्त अत्यन्त घातक अस्त्र का विस्फोट करने के प्रयत्न में चेतनतया अग्रसर होता है—जो अस्त्र नवीनतम हाइड्रोजन बम से अधिक शक्तिशाली है।

इसी स्थिति में ही खतरनाक स्थल आता है।

वह वैज्ञानिक अपने अस्त्र का विस्फोट करता है और इस प्रकार विनाशकारी परिणाम फैलाता है; और शक्ति के प्रयोग एवम् प्रबल इच्छा के बीच जो सन्तुलन अब तक अत्यन्त कठिनाई से स्थिर था वह पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो जाता है।

यह वैज्ञानिक सन्तुष्ट न रह सका और वह एक ओर प्राणशक्ति के प्रचण्ड पहलू के, जो उसको शक्ति से सम्पन्न करने वाले उसके अस्त्र में अन्तर्निहित थी, तथा दूसरी ओर अकल्पनीय परिणाम की परवाह न करके उस अस्त्र का चेतनतया विस्फोट करने की उत्कट इच्छा के बीच साम्य अथवा सन्तुलन रखने में असमर्थ थी।

इस सबकुछ में दुःखद बात यह थी कि इस वैज्ञानिक को बम के विस्फोट के परिणाम की चेतना तथा उस परिणाम में उत्कट स्वार्थ होने

के कारण, विस्फोट के धड़ाके का सीधा प्रभाव, सभी आवश्यक सावधानी बरतने पर भी, पहले पहल उसी वैज्ञानिक पर हुआ। उसके ऊपर तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि पहले वह अपने ही परीक्षण से पूर्णतया पराभूत एवं हक्का-बक्का हो गया; और, वह बिल्कुल अचेत होकर पृथ्वी पर गिर गया। इस दुःखद घटना में और भी दुर्भाग्यपूर्ण बात हुई; जब उसको होश आया, तो वह उसको किस कीमत पर पुनः प्राप्त हुआ? वह महान एवं उन्नत वैज्ञानिक होने की अपनी अवस्था को बिल्कुल भूल गया था और वह अपने अतिशय सन्निहित भूत, अपने लड़कपन तथा अपने युवाकाल के क्रियाकलाप को एवं पत्नी, बच्चों और मित्रों के साथ उनके सभी संसर्गों को स्मरण करने में भी असमर्थ था। उसमें जो सबसे बड़ा परिवर्तन हो गया वह यह था कि उसको प्रतीत भी न होता था कि उसका **कुछ खो गया** था—अर्थात्, एक महान वैज्ञानिक होने की उसकी स्मृति एवं उसकी चेतना। डाक्टर लोग ऐसी घटना को स्मृति-भ्रन्श की दशा कहते हैं। उसको केवल इस सत्यता की चेतना थी कि वह एक अत्यन्त प्राथमिक प्रकार का व्यक्ति है। तब उसने अपना जीवन नये सिरे से प्रारम्भ किया, और उसको कभी एक बार भी कल्पना न हुई कि वह एक महान वैज्ञानिक का जीवन व्यतीत कर चुका था, जिसके अधिकार में विशाल एवं प्रचण्ड शक्तियाँ रह चुकी थीं। इसी रीति से चौथी भूमिका पर स्थित अत्यन्त उन्नत प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा की दुःखद घटना घटित होती है। वह, प्राणशक्ति की साक्षात् मूर्ति होने के कारण, प्राण भुवन में अपने शिखर पर पहुँची हुई प्राणशक्ति का दुरुपयोग करती है, और उसके परिणाम स्वरूप अत्यन्त परिमित चेतना को छोड़कर उसकी सारी चेतना का ह्रास हो जाता हैं, और, विकास के नियम के अनुसार उसको उस अत्यन्त परिमित चेतना का अनुभव करने के लिये पत्थर की अत्यन्त अपक्व योनि धारण करनी पड़ती है।

सद्गुरुओं के कार्यों में एक कार्य यह होता है कि वे चौथी भूमिका की आत्मा को गूढ़ शक्तियों के दुरुपयोग से अपने आध्यात्मिक चरित्र का नाश करने से बचाते हैं।‡ बहुधा, यदि चौथी भूमिका की आत्मा अपने

‡ सम्पादकों ने ईसा के "प्रलोभनों" के विषय में पूछा, तो बाबा ने उत्तर दिया :
"सच बात यह है कि ईसा को शैतान ने प्रलोभन न दिया था, बल्कि ईसा ने "स्वयं अपने को प्रलोभित कराया था, और उन्होंने प्रलोभनों के ऊपर

मन का नियन्त्रण खोने के करीब होती है, तो उसकी शक्तियाँ सद्‌गुरु छीन लेते हैं, जो सभी प्राण-चेतनामय एवं स्थूल चेतनामय आत्माओं के मनों पर नियन्त्रण रख सकते हैं। अतएव वास्तविक अधःपतन के उदाहरण बिरले ही होते हैं और वे नियम के अपवाद स्वरूप घटित होते हैं। उनका सम्बन्ध अन्ततः, सद्‌गुरुओं द्वारा रखी गई सतर्कता की असफलता से न ठहराना चाहिये, किन्तु स्वयं परमात्मा के अन्दर विद्यमान मूल लहर से ठहराना चाहिये। अतः यह अक्षरशः सत्य है कि छोटी अथवा बड़ी प्रत्येक चीज़, जो भी विश्व में घटित होती है, **सर्वशक्तिमान ईश्वर की मरजी से ही घटित होती है।**

इस स्थल पर यह जान लेना महत्त्वपूर्ण होगा कि यद्यपि यह एक स्थापित सत्य है कि एक बार मनुष्य योनि में पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाने पर, उसका वस्तुतः कभी ह्रास नहीं होता; फिर भी, चौथी भूमिका की प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा के इस उदाहरण में, प्राप्त हुई चेतना के नष्ट होने की सम्भावना होती है। यह तब होता है जबकि चौथी भूमिका की शक्तियों का दुरुपयोग किया जाता है, और यदि हाथ में आई हुई सर्वोच्च प्राणशक्ति का सन्तुलन अनन्त इच्छाओं के प्रबल प्रलोभनों के द्वारा, जो मन के सर्वोच्च पहलू हैं, नहीं सँभलता। यद्यपि मन के तीन मूलभूत पहलू हैं—विचार, इच्छायें और भाव, तथापि "इच्छायें" मन का सर्वोच्च पहलू हैं।

किन्तु, यदि चौथी भूमिका पर स्थित प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा अपने हाथ में आई हुई प्राणशक्ति का दुरुपयोग नहीं करती, और वह अनन्त प्राणशक्ति का प्रयोग सावधानी के साथ सर्वोच्च हित के लिये

विजय प्राप्त की थी। इसके पीछे भारी प्रयोजन छिपा था। उन्हें अपनेआप को प्रलोभित करना पड़ा था; उसके द्वारा उन्होंने प्रलोभनकारी शक्तियों का बोझ अपने कन्धों पर ले लिया जो उस समय विश्व में प्रबल थीं। फिर ईसा ने सब प्रलोभनों पर विजय प्राप्त की और उस रीति से एक प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न की जिसने विश्वव्यापी प्रलोभनों की शक्तियों को एक महान ठेल द्वारा पीछे को ठेल दिया। यही बात बुद्ध के उदाहरण में सत्य थी, और यही बात हर बार "अवतारिक" अवधियों में होती है। जब कभी ईश्वर अवतार के रूप में पृथ्वी पर प्रकट होता है तो उसका ईश्वरत्व एक विश्वव्यापी ठेल देता है और उसका परिणाम विश्वव्यापी होता है, अर्थात् न केवल मानवजाति ही उससे लाभ प्राप्त करती है वरन् अखिल सृष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु उस विश्वव्यापी ठेल से लाभान्वित होती है।"

करके सन्तुलन बनाये रखती है, तब यह चौथी भूमिकावाली आत्मा न केवल चौथी भूमिका के इस द्वार को पार करके मन भुवन की पाँचवीं एवं छठवीं भूमिकाओं के प्रदेश में प्रवेश करती है, बल्कि वह छठवीं भूमिका की चेतना सीधे-सीध प्राप्त करती है। इसका यह कारण है कि यह आत्मा (चरम प्राणशक्ति की चेतना तथा उसके विचारपूर्ण प्रयोग के द्वारा) मन के अत्यन्त प्रलोभनकारी एवम् प्रबल सर्वोच्च पहलुओं—इच्छाओं, विचारों और भावों—के ऊपर, जो अपने शिखर पर अत्यन्त प्रबलतया विश्वासघाती होते हैं, काबू पाने में तथा उनका प्रतिरोध करने में समर्थ थी। इस प्रकार यह प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा अपने शिखर पर पहुँची हुई इच्छाओं, विचारों एवम् भावनाओं के ऊपर काबू प्राप्त करके सीधे-सीध छठवीं भूमिका की चेतना प्राप्त करती है और उनकी स्वामी बन जाती है, जिनके ऊपर अब वह नियन्त्रण रखती है और जिनका सृजन करने की क्षमता भी रखती है।

कुछ प्राण-चेतनामय मानवी आत्मायें प्राण-भुवन में विमुक्त हुई चरम प्राणशक्ति की भीषण बाढ़ का न तो उपयोग करती हैं और न दुरुपयोग करती हैं; और जब ऐसी आत्मायें अपनी इच्छाओं के फन्दे में नहीं फँसतीं, जबकि वे इच्छायें भी अपने शिरोबिन्दु पर होती हैं, तब ये प्राण-चेतनामय मानवी आत्मायें चौथी भूमिका का प्रवेश-द्वार पार करती हैं और मन भुवन के प्रदेश में पाँचवीं भूमिका की चेतना प्राप्त करती हैं। यहाँ ये मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मायें अपने मनों की गुलाम नहीं रहतीं क्योंकि अब उन्हें मन की पहली अवस्था की चेतना होती है जो विचारों पर नियन्त्रण रखती है।

पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं की इन मन-चेतनायुक्त मानवी आत्माओं को अब पूर्णतया मन की चेतना होती है और वे पाँचवीं एवं छठवीं भूमिकाओं की चेतना की उन्नति की मात्रा के अनुसार मन भुवन का अनुभव करती हैं। पाँचवीं एवं छठवीं भूमिकाओं की इन मन-चेतनामय मानवी आत्माओं को प्राणभुवन की पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी भूमिकाओं की चेतना की मात्रा का भान नहीं रहता और न उन्हें प्राण भुवन का और अधिक अनुभव रहता है। इसलिये इन मन-चेतनायुक्त मानवी आत्माओं को प्राण-भुवन की प्रचण्ड प्राणशक्ति की चेतना नहीं होती। अस्तु इन मन-चेतनामय मानवी आत्माओं को, यद्यपि वे मन की चैतन्य स्वामी होती हैं, अब प्राण

भुवन की प्राणशक्ति के बल की बिल्कुल चेतना नहीं होती, और इस कारण से ही ये मन-चेतनामय मानवी आत्मायें कभी कोई चमत्कार नहीं कर सकतीं। उनकी उन्नत चेतना प्राण-चेतनामय मानवी आत्माओं की चेतना से अधिकतर होने पर भी, वे न मुर्दे जिन्दा कर सकती हैं, न अन्धों को आँखें और न अङ्गहीनों को अङ्ग प्रदान कर सकती हैं। तथापि, चूंकि ये मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मायें मन की चेतन स्वामी होती हैं इसलिये वे स्थूल-चेतनायुक्त एवं प्राण-चेतनायुक्त मानवी आत्माओं के मनों की उत्पत्ति कर सकती हैं तथा उनका नियन्त्रण कर सकती हैं। आवश्यकता होने पर, मनों का सृजन एवं नियन्त्रण करना उनके लिये केवल बच्चों का जैसा खेल है।

मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा के प्रसङ्ग में, हम कल्पना करते हैं कि उसकी स्थिति सूर्य के निकट है (जिसे हमने उपमा के लिये अपना आधार मान लिया है)। मानव रूप में यह आत्मा मन के पहलुओं पर जैसे विचार, इच्छायें और भावनायें, चेतनतया अपने में ग्रहण करती है और उन पर नियन्त्रण करती है, और मन भुवन में मन का भरपूर प्रयोग करती है जो सूर्य से उद्‌भूत होता है (जिसको हम, स्पष्ट करने के अपने प्रयोजन के लिये, मूल स्रोत के रूप में समझते हैं)। इस प्रकार यह मन-चेतनायुक्त मानवी आत्मा, पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं के प्रदेशों में, मन और उसके पहलुओं की पूर्ण चेतना रखने के साथ-साथ अन्य सब मनों के भी विचारों, इच्छाओं एवं भावों का सृजन तथा नियन्त्रण करने में भी समर्थ होती है। अब आत्मा पूर्णतया स्थिर होती है और वह कभी भी गिर अथवा फिसल कर चेतना के किन्हीं निम्नतर स्तरों पर नहीं जा सकती जैसे कि चौथी भूमिका पर स्थित प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा गिर सकती थी (क्योंकि स्थूल-चेतनामय मानवी आत्मा एवं प्राण-चेतनामय मानवी आत्मा अपने मनों की गुलाम होती हैं, जबकि मन-चेतनामय मानवी आत्मा अपने मन की स्वामी होती है)।

अन्ततः, आत्म-चैतन्य मानवी आत्मा की स्थिति स्वयं सूर्य में स्थित आत्मा के समान होती है। (इस व्याख्या को समझने का प्रयत्न करते समय, पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि सूर्य का प्रसङ्ग केवल उपमा के रूप में दिया गया है। उन्हें ग़लत अर्थ लगाकर इस सूर्य को हमारा सान्सारिक सूर्य न समझना चाहिये और न उन्हें ग़लत समझकर हमारे सान्सारिक सूर्य को अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द

के अनन्त एवं शाश्वत मूल का वास्तविक स्तर मान लेना चाहिये, और न हमें अपने सान्सारिक सूर्य को कोई महत्व देना चाहिये क्योंकि हमारा सान्सारिक सूर्य स्वयं आत्मा की रची हुई सृष्टि के पदार्थों में से एक है।)

सातवीं भूमिका की इस आत्म-ज्ञानी आत्मा को इस सूर्य की चेतना होती है (जिसको हमने प्राणशक्ति एवं मन के उद्‌गम के एक उदाहरण के रूप में माना है), और यद्यपि वह अनिवार्यत: अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द का सतत् अनुभव करती है तथा उनको निरन्तर प्रसारित करती है, तथापि कुछ स्थितियों में ऐसी आत्मा इस अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं आनन्द का प्रयोग सीधे-सीध तथा चेतनतया आत्माओं को स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगतों के संस्कारों से मुक्त करने के लिये भी करती है।

भाग ७

सात परत का परदा

कबीर सद्गुरु थे और कवि भी थे। इसलिये उनकी कवितामय कृति **कबीरवाणी** बहुत निराली है क्योंकि उसमें ईश्वर, ईश्वर के प्रति प्रेम, दैवी मार्ग तथा मायावी सृष्टि पर कबीर की निर्मल वाणियाँ हैं। सद्गुरु होने के कारण, कबीर ने समानरूप से जनसाधारण तथा आध्यात्मिक मार्ग में दीक्षित लोगों के लिये चीजें कही हैं। उन्होंने, रूपकमय ढँग से और साथ-साथ स्पष्ट शब्दों में, कुछ आध्यात्मिक रहस्यों को खोलने में सङ्कोच नहीं किया, जो साधारण मनुष्य की पहुँच के भीतर होते हुये भी अब तक केवल आध्यात्मिक ज्योति से प्रकाशित व्यक्तियों को ही ज्ञात हैं जो कबीर की अधिकांश वाणियों में छिपे हुये गहनतर अर्थ को यथार्थरूप से समझते हैं।

ऐसे योगी (वे लोग जो गूढ़ ज्ञान के किसी नियम-बद्ध मार्ग का अभ्यास करते हैं) होते हैं जो अपनी क्षणिक **समाधि** की अवधि में आपही आप अपने स्थूल शरीरों को बीच-हवा में लटका सकते हैं। कुछ ऐसे योगी होते हैं जो बाह्य साधनों की सहायता के बग़ैर अपने स्थूल शरीर से पानी के ऊपर चल सकते हैं अथवा हवा में उड़ सकते हैं, तथापि यह इस बात का लक्षण अथवा प्रमाण नहीं है कि उन्हें दैवी प्रेम का अनुभव हो गया है। आध्यात्मिक तराज़ू पर तौले जाने पर ये चमत्कार कोई महत्व नहीं रखते। वास्तव में, औसत योगी द्वारा चमत्कार का प्रदर्शन करना न केवल आध्यात्मिक मार्ग से बिल्कुल अलग होता है, बल्कि वह वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में व्यक्ति के विकास में एक बाधा सिद्ध होता है।११,१२ एक हिन्दू गुरु के जीवन की निम्नलिखित घटना प्रदर्शित करती है कि सद्गुरु, जो सत्य की साक्षात् मूर्ति होते हैं, किस प्रकार चमत्कार की उपेक्षा करते हैं: वह गुरु एक दिन नदी के किनारे पर बैठा हुआ छोटी सी नौका की प्रतीक्षा कर रहा था जो यात्रियों से एक आना तुच्छ किराया लेकर उनको नदी

के पार उतारती हैं। उसको इस प्रकार प्रतीक्षा में बैठा हुआ देखकर एक योगी उसके पास आया, शब्दशः नदी के ऊपर चलता हुआ उस पार गया और फिर चलता हुआ वापिस आ गया, और फिर उस गुरु से बोला, "इस प्रकार नदी को पार करना बहुत आसान था, क्या ऐसा नहीं था ?" उस सद्‌गुरु ने मुस्कराते हुये उत्तर दिया, "हाँ ऐसा था, और नौका के किराया—एक आना—की अपेक्षा उसका मूल्य कम था।"

अपनी अधम इच्छाओं के ऊपर निरन्तर नियन्त्रण रखने की क्षमता कोई कम वीरता का कार्य नहीं है। सभी इच्छाओं की स्थायी उत्कृष्टता स्थापित करने में सफलता प्राप्त करना सचमुच एक महानतर कार्य है। किन्तु अपनी सभी इच्छाओं को सदैव के लिये जलाकर भस्म कर देना सबसे महान कार्य है, जो केवल दैवी प्रेम कर सकता है। दैवी प्रेम के विषय में कभी कोई दिखावा नहीं होता; प्रेम में यह "जलना" सदैव "धुआँ" से रहित होता है, अर्थात् उसमें दिखावा नहीं होता। ऐसे अवसर आते हैं जबकि दैवी प्रेम का बाह्य प्रकाशन वीरतापूर्ण हो सकता है, किन्तु किसी भी समय ईश्वर के प्रति अपने प्रेम का दिखावा मात्र, दिखावा के लिये ही करना, ईश्वर का अपमान करने के समान होता है। इसी कारण से कबीर ने कहा है कि ध्यान करने की क्रिया में १३,१४ जिस समय कोई ईश्वर का ध्यान करने के लिये आसन जमाता है, उस समय उसको कोई भी दिखावा न करना सीखना चाहिये, जैसे मस्त होकर इधर-उधर झूमना, चाहे वह केवल उसी व्यक्ति की तुष्टि के लिये ही हो।

स्वप्नों से तुलना किये जाने पर, भौतिक जीवन वास्तव में एक सत्यता है। इसी प्रकार से, आध्यात्मिक मार्ग की सत्यता से तुलना किये जाने पर दुनियाँ और सभी दुनियाबी जीवन मनुष्य के पक्ष में एक खाली स्वप्न हैं। किन्तु जिस प्रकार विश्व और उसके सब अनुभव मायावी हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग मायावी है जो सत्यता की ओर ले जाता है। विश्व और उसके अनुभवों को हम झूठी माया कह सकते हैं और आध्यात्मिक मार्ग को यथार्थ माया कह सकते हैं। तथापि, दोनों के बीच भारी अन्तर होने पर भी, वे दोनों भी भ्रमजाल हैं, क्योंकि ईश्वर ही **एकमेव सत्यता** है।

जब **ज्ञान*** प्राप्त होता है तो अज्ञानता हट जाती है, किन्तु

---

* सान्सारिक ज्ञान के अर्थ में न होकर "विवेक" के अर्थ में। —सम्पादक

-अज्ञानता के चले जाने के लिये, ज्ञान का प्राप्त होना आवश्यक है। एक ओर, ईश्वर और ईश्वर को देखने तथा उसमें समाकर उससे एकरूप होने की मनुष्य की क्षमता, सदैव विद्यमान रहते हैं। दूसरी ओर, सत्यता मनुष्य से छिपी रहती है जब तक कि वह वस्तुत: आध्यात्मिक मार्ग पर नहीं पहुँच जाता अथवा ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर लेता। यह प्रत्यक्ष असंगति दो भिन्न खण्डों के कारण होती है : सत्यता के विषय में मनुष्य की अज्ञानता, और यह तथ्य कि सत्यता युक्ति की शक्ति के परे है तथा बुद्धि के क्षेत्र से बहुत, बहुत ऊपर है। यह तथ्य अटल रहता है कि मनुष्य ईश्वर बन गया है और मनुष्य ईश्वर बन सकता है जिसका सीधा-सादा कारण यह है कि, जानते अथवा न जानते हुये, मनुष्य ईश्वर है। केवल जब तक मनुष्य की अज्ञानता रहती है तभी तक मायावी चीज़ों की बहुल विविधता का कोई अन्त प्रतीत न होगा। जब दैवी ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसको अनुभव होता है कि ईश्वर की अखण्ड्य एकता का कोई अन्त नहीं है। जगद्द्वैत की माया में मनुष्य और ईश्वर के बीच प्रत्यक्ष पृथक्ता का उल्लेख सद्गुरु अनिवार्यत: मध्यवर्ती "परदा" और "पट" (*Veil and Curtain*) के नाम से करते हैं। हाफ़िज, जो सद्गुरु थे और साथ-साथ एक महान कवि भी थे, कहते हैं :

"मियाने आशिको माशूक़ हेच हायल नीस्त;
तू खुद हिजाबे खुदी, हाफ़िज़, अज़ मियाने बरखेज़।"

"प्रेमी और प्रियतम के बीच में कोई आड़ नहीं है; हाफ़िज़ ! तुम अपने आपा को उठाकर एक तरफ़ कर दो, क्योंकि तुम खुद अपने को ढाँकने वाला पर्दा हो।"

परदा के सात परत हटाने के प्रसंग में कबीर कहते हैं :

"तेरे घूँघट के पट खोल, तुझे राम मिलेगा।"

"तू अपने परदे के परत खोल, और तुझे ईश्वर प्राप्त होगा।"

घूँघट का शाब्दिक अर्थ है वह आवरण जो स्त्री अपने सिर और चेहरे के ऊपर कई परतों में डालती है; आध्यात्मिक भाषा में यह अज्ञानता की भारी परतों का संकेत करता है जो मनुष्य को उसके यथार्थ स्वरूप से छिपाये रखती हैं। इस परदे का, एक-एक परत करके, हटना आध्यात्मिक पथ के पथिक की पहली भूमिका से लेकर पाँचवीं भूमिका तक की क्रमिक यात्रा के सदृश होता है।

वह "परदा" जो अज्ञान-में-लिपटे मनुष्य को सर्वज्ञ ईश्वर से

अलग करता है, इतना सूक्ष्म होता है कि ऊँचे से ऊँचा एवम् महीन से महीन विचार भी उसको नहीं बेध सकता। यह परदा सात भिन्न भिन्न, गहरे रङ्गों की सात परतों का बना होता है। प्रत्येक परत एक अलग गाँठ से बँधी होती है; इस प्रकार सात परतों में सात गाँठें होती हैं। सात रंग सात मूल इच्छायें प्रदर्शित करते हैं, जो सात मूलभूत संस्कारों के अनुरूप होती हैं, अर्थात्, कामवासना, लोभ, क्रोध, इत्यादि, जिनका सम्बन्ध चेहरे में सात इन्द्रिय द्वारों से होता है, जैसे (१) मुख, (२) दाहिना नथुना, (३) बायाँ नथुना, (४) दाहिना कान, (५) बायाँ कान, (६) दाहिना नेत्र, (७) बायाँ नेत्र।

सत्यता में और एकमेव सत्यता के रूप में, आत्मा **सदैव ईश्वर** है जो आदिरहित एवं अन्तरहित है। सात भौतिक स्थितियों में आत्मा का अवतरण प्रारम्भ होने के साथ मिथ्या माया प्रारम्भ हो जाती है और आत्मा के सातवीं आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचने के साथ यथार्थ माया का अन्त हो जाता है।

ईश्वर अखिल विश्व है, ईश्वर सूक्ष्म विश्व है और ईश्वर **सदैव** इन दोनों के परे भी है। जान में मनुष्य शरीर है और मनुष्य मन है, परन्तु अनजान में, गहरी नींद की अवस्था के समान, मनुष्य उन दोनों के परे भी है।

तुलनात्मक दृष्टि से यह सच है कि मनुष्य ईश्वर की प्रतिमा में बना है। उसके सिर का शिखर **विज्ञान भूमिका, अर्शे-आला,** सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था, अथवा **ब्रह्म** का स्थान प्रदर्शित करता है। उसका मस्तक ईश्वरत्व को प्राप्त करने के प्रवेशद्वार के समान है। उसके मस्तक का केन्द्र, दो बाहरी नेत्रों के ठीक ऊपर, भीतरी अथवा तीसरे नेत्र का स्थान है। जिस समय "परदा" अपनी सातों परतों सहित अन्ततः हट जाता है, तब मनुष्य, तीसरे नेत्र से, ईश्वर को आमने-सामने देखने में समर्थ होता है और उसको अधिक यथार्थरूप से तथा स्वाभाविकरूप से उसकी अपेक्षा अधिक देखता है जो वह आमतौर पर अपने शरीर को और दुनियाँ को दो बाहरी नेत्रों से देखने में समर्थ होता है। मस्तक में स्थित ईश्वरीय प्रवेशद्वार पर पहुँचने के लिये, मनुष्य को सात द्वार पार करना पड़ते हैं जो चेहरे में सात स्थूल इन्द्रिय-द्वारों के रूप में विद्यमान हैं।

जब आध्यात्मिक मार्ग में दीक्षित व्यक्ति दैवी मार्ग में यथार्थतः

प्रवेश करने में सफल होता है तब उसके लिये वह केवल एक सप्तमुखी सिद्धि होती है, एक सिद्धि प्राप्त होती है, और वह परदे की सात परतों में से पहली परत से सम्बद्ध होती है, जैसे (१) पहली गाँठ का खुलना, (२) प्रथम परत का लोप होना, (३) प्रथम मूल इच्छाओं का नष्ट होना, (४) सापेक्ष मूलभूत संस्कारों का मिटना, (५) सात गहरे, काले रंगों में से प्रथम का समाप्त होना, (६) [मुख द्वारा प्रस्तुत किये गये] प्रथम द्वार से प्रवेश,-और (७) प्राण भुवन में प्रथम भूमिका, **प्राण-भुवन** अथवा **आलम-ए-मलकूत**१५ पर पहुँचना।

स्वप्नों में, साधारण मनुष्य सूक्ष्म चेतना के द्वारा अपने सूक्ष्म शरीर का **आंशिक** प्रयोग करने में समर्थ होता है, किन्तु वह केवल स्थूल अनुभव के विषय में तथा केवल स्थूल पदार्थों के सम्बन्ध में ऐसा करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार वह स्थूल जगत का अनुभव पूर्ण स्थूल चेतना के साथ अपने शरीर के द्वारा करता है, उसी प्रकार पहली भूमिका में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति अपने सूक्ष्म शरीर के माध्यम से सूक्ष्म चेतना के साथ प्राण भुवन का अनुभव करने लगता है।

यदि पहली भूमिका में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति और आगे बढ़ने में समर्थ होता है और प्रगति बनाये रखता है, तो वह चौथी भूमिका तक प्राण भुवन में बना रहता है। इस प्रगति के अन्तर्गत क्रमश: दूसरी और तीसरी अकेली सप्तमुखी *(Seven-in-one)* सिद्धियाँ होती हैं जिनके सप्त-परता परिणाम पहली सिद्धि में प्राप्त हुये सात परिणामों के समानान्तर होते हैं। (दाहिने और बायें नथुनों द्वारा प्रस्तुत किये गये) दूसरे और तीसरे द्वारों से होकर यह गुज़रना यथार्थ माया की और भी महानतर प्रगाढ़ता, अर्थात् मार्ग की उच्चतर चेतना, पैदा करता है। दूसरे द्वार को पार करने के बाद, पथिक को प्राण भुवन की अद्‌भुत चीज़ों का और अधिक अनुभव होता है और साथ-साथ वह अचरज की भूलभुलैयों में खो जाने के ख़तरे से होकर गुज़रने लगता है। तीसरे द्वार के परे मिलने वाले मार्ग के रहस्यपूर्ण जादू और भी अधिक होते हैं, और इसी प्रकार उन जादुओं में मुग्ध होकर फँस जाने की सम्भावनायें भी अधिक होती हैं। जिस प्रकार स्थूल-चेतनामय व्यक्ति स्थूल जगत् एवम् उसके मायावी अनुभवों को यथार्थ मानते हैं, उसी प्रकार प्राण भुवन में स्थित पथिक, अपनी अपनी स्थिति की भूमिका के कौतुक में निमग्न रहने के दौरान में, उसको ग़लती से अन्तिम सत्यता मान सकते हैं।

इसलिये पथिक बहुधा किसी भूमिका पर, उसके आश्चर्यों में फँसकर भ्रमित हो जाने के कारण उसे लक्ष्य मानकर, अटक कर रह जाता है, जब तक कि कोई सद्‌गुरु अथवा मनो-चेतनामय आत्मायें ही उसकी सहायता करके उसे अगली भूमिका पर नहीं ठेल देते।

चौथी सप्तमुखी सिद्धि दोहरी सिद्धि होती है क्योंकि उसमें उसी समय एकसाथ (१) चौथी और पाँचवीं गाँठें खुल जाती हैं, (२) चौथी और पाँचवीं परतों का लोप हो जाता है, (३) चौथी और पाँचवीं मूल इच्छायें नष्ट हो जाती हैं, (४) चौथे और पाँचवें गहरे, काले रंग समाप्त हो जाते हैं, (५) चौथे और पाँचवें सापेक्ष मूलभूत संस्कार मिट जाते हैं, (६) चौथे और पाँचवें द्वार (जो दाहिने तथा बायें कानों द्वारा प्रस्तुत होते हैं) पार हो जाते हैं, और (७) पथिक प्राण भुवन की सर्वोच्च भूमिका, चौथी भूमिका, पर पहुँच जाता है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, चौथी भूमिका आध्यात्मिक विभव की तथा दैवी शक्तियों (**अनवर-ओ-तजल्लियत अथवा सिद्धियों**) की भूमिका है। इस भूमिका तक पहुँचे हुये पथिक, अन्य चमत्कार करने के साथ-साथ, मुर्दे भी ज़िन्दा कर सकते हैं। वे इन शक्तियों का दुरुपयोग करने के बहुत भारी ख़तरे से गुज़रते हैं, और इस प्रकार अपने लिये विपत्ति बुलाते हैं, और केवल बहुत थोड़े से लोग ही इन भ्रमकारी शिखरों को सद्‌गुरु की सहायता के बिना स्वतन्त्रतापूर्वक सही-सलामत पार कर सकते हैं। इन्हीं के विषय में हाफ़िज़ ने कहा है :

"दर आस्ताने जानां आसमां बिअन्दीश
कज़ औजे सर बुलन्दी उफ्ती बिखाके पस्ती।"

"प्रियतम की देहली पर आसमानी प्रलोभनों से सावधान रहो,
जिससे ऐसा न हो कि तुम उन्नति और महानता के शिखर से
गिरकर अधःपतन और बर्बादी की तह पर पहुँच जाओ।"

ऐसी सूरत में, मनुष्य न केवल उस आध्यात्मिक उन्नति से वंचित हो जाता है जो उसको आध्यात्मिक मार्ग में प्राप्त हुई है, वरन् देह विकास के द्वारा उसने जो स्थिति प्राप्त कर ली है उससे गिरकर वह पत्थर योनि की अवस्था में पहुँच जाता है।

जिस प्रकार रात के घोर अन्धकार में अज्ञात मार्ग पर यात्रा करते हुये मनुष्य के साथ कोई भी घटना हो सकती है, उसी प्रकार सद्‌गुरु के पथ प्रदर्शन के बिना चौथी भूमिका से गुज़रता हुआ मनुष्य

किसी भी घटना का शिकार हो सकता है। इसी कारण से, चौथी भूमिका के चौंधियाने वाले सभी विभव एवं शक्ति के रहते हुये, चौथी भूमिका से गुज़रने की अवधि को ईसाई रहस्यवाद में "आत्मा की अँधेरी रात"‡ कहा गया है।

यदि उन्नत पथिक "आत्मा की अँधेरी रात" के प्रलोभनों एवं विश्वासघातों का प्रतिरोध करने में किसी तरह से समर्थ होता है, तो वह मन भुवन (**मनो-भुवन** अथवा **आलम-ए-जबरूत**) में पाँचवीं तथा अन्तिम दोहरी सप्तमुखी सिद्धि के द्वारा प्रवेश करता है, जो उन्हीं सदृशताओं सहित प्राप्त होती है जैसीकि चौथी सिद्धि में होती है। तब परदे की सब परतें तत्सम्बन्धी गाँठों, इच्छाओं, रङ्गों एवं संस्कारों के सहित एकसाथ हट जाती हैं; छठवें और सातवें द्वार (जो दाहिने और बायें नेत्रों द्वारा प्रस्तुत होते हैं) पार हो जाते हैं तथा ज्योति एवं प्रेम की पाँचवीं भूमिका प्राप्त हो जाती है।

जो लोग पाँचवीं भूमिका पर सही-सलामत पहुँच जाते हैं वे **वली-अल्लाह** (जिसका शाब्दिक अर्थ होता है "ईश्वर के मित्र") कहलाते हैं उनकी अन्तर्दृष्टि, अथवा तीसरी आँख, अब पूर्णतया विकसित हो जाती है, परन्तु यद्यपि परदे की सातों परतों का लोप हो चुका है तथापि स्वयं परदा अब भी बना रहता है। इसलिये पथिक अब भी ईश्वर के आमने-सामने नहीं होता और वह प्रियतम को नहीं देख पाता।

ईश्वर के लिये अपने निर्मल प्रेम के कारण, जो मिथ्या अहं से मिश्रित नहीं होता, पाँचवीं भूमिका के इन पथिकों की स्थिति सुरक्षित

‡ आध्यात्मिक मार्ग के पथिकों के लिये चौथी भूमिका की शक्तियाँ "दानव" के समान हैं जिसके विषय में आम लोगों का विश्वास है कि वह लोगों को राह से भटका देती हैं। "सद्गुरु" ज्ञानेश्वर की सामयिक सहायता के बिना, महान योगी चांग देव इसी भूमिका पर आपत्ति में फँस गये होते। इसी प्रकार से, जब बाबा फ़रीद गंजे-शकर इस भूमिका पर पहुँचे तो वह उड़ते हुये पक्षियों को पृथ्वी पर मरा हुआ गिराकर और फिर उन्हें पुनः जीवित करके अपनी शक्तियों का परीक्षण किये बिना न रह सके। उन्हें भी पाँचवीं भूमिका की एक वृद्ध सन्त महिला ने समय के अन्दर बचा लिया। इस घटना के बाद ही बाबा फ़रीद अपने सद्गुरु के निकट सम्पर्क में आये, जिन्होंने अन्त में बाबा फ़रीद को "क़ुतुबियत" प्राप्त करा दी [सद्गुरु बना दिया]।

होती है, और उनके अधःपतन की सम्भावना नहीं होती। अपने को कोई क्षति पहुँचाये बग़ैर, वे स्थूल एवम् सूक्ष्म जगतों में दूसरों को, चेतनतया अथवा अचेतनतया, अमित सहायता दे सकते हैं और देते हैं।

बिरले अपवादों को छोड़कर अब अपनेआप और आगे बढ़ना असम्भव होता है। सद्गुरु की सहायता अथवा कृपा से पथिक परदे को पूर्णतया हटाने में और इस प्रकार छठवीं भूमिका पर पहुँचने में समर्थ होता है, जो मन भुवन की सर्वोच्च भूमिका है, "दिव्य दृष्टि" की भूमिका है, (मस्तक द्वारा प्रस्तुत किया गया) ईश्वरत्त्व को पाने का प्रवेशद्वार है जहाँ मनुष्य ईश्वर को आमने-सामने, सर्वत्र एवम् सर्वस्व में, यथार्थतया देखने में समर्थ होता है। यह दृष्टि द्वारा प्राप्त दृढ़ विश्वास कहलाता है।

अन्न भुवन में स्थित जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उनका विश्वास (**यक़ीन**) उनकी निर्मल एवं सीधी-सादी श्रद्धा तथा आस्था पर अवलम्बित होता है। यह दृढ़ विश्वास **इल्म-उल-यक़ीन** (बौद्धिक दृढ़ विश्वास) है, और वह नीचे दिये गये स्पष्ट यक़ीनों से भिन्न होता है :

(१) सहज ज्ञान द्वारा प्राप्त विश्वास (**यक़ीन-उल-यक़ीन**);
(२) दृष्टि द्वारा प्राप्त विश्वास (**ऐन-उल-यक़ीन**);
(३) यथार्थ अनुभव द्वारा प्राप्त विश्वास (**हक़-उल-यक़ीन**)।१६

आध्यात्मिक मार्ग के पथिक, ऊपर पाँचवीं भूमिका के अन्त तक, एक निश्चित नैसर्गिक निश्चय (**यक़ीन-उल-यक़ीन**) के साथ **जानते हैं** कि ईश्वर है; उनका विश्वास निश्चित ज्ञान पर अवलम्बित होता है। छठवीं भूमिका के पथिक ईश्वर को सर्वत्र देखते हैं; उनका यक़ीन यथार्थ दृष्टि द्वारा प्राप्त होता है। सातवीं भूमिका के लोगों का विश्वास, उनके ईश्वर में समाकर एक हो जाने के कारण, यथार्थ अनुभव से प्राप्त होता है।

छठवीं भूमिका का अति उन्नत पथिक अब भी दुई के प्रदेश के अन्तर्गत होता है। यद्यपि वह ईश्वर के आमने-सामने होता है, तथापि एक गहरी, अगाध घाटी "दृष्टा" और "दृश्य" को अलग-अलग किये रहती है जो केवल सद्गुरु के स्पर्श से ही पार की जा सकती है। जबकि प्रथम पाँच सिद्धियों की प्राप्ति मनुष्य के लिये स्वतन्त्ररूप से सम्भव है, पाँचवीं भूमिका पर परदा सामान्यतः सद्गुरु के पथप्रदर्शन की कृपा से

यथार्थतः हटता है। फिर भी, छठवीं भूमिका की माया से सातवीं भूमिका की सत्यता तक की छलांग पथिक के खुद के प्रयास से असम्भव है और वह पूर्ण पुरुष अथवा सद्‌गुरु के सीधे स्पर्श पर पूर्णतया निर्भर होती है।

सातवीं भूमिका पर, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति एवं अनन्त आनन्द की भूमिका है, मनुष्य ईश्वर में समा जाता है और ईश्वर बन जाता है, सदैव के लिये और सदैव से परे पूर्ण पुरुष बन जाता है। तब भौतिक शरीर के बने रहने अथवा छूट जाने का महत्व नहीं होता। नियमानुसार, साक्षात्कार होने के पश्चात् थोड़े समय में स्थूल शरीर छूट जाता है, परन्तु कुछ दशाओं में भौतिक शरीर बहुत समय तक बना रहता है। ये ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त पुरुष मजज़ूब अथवा ब्रह्मी-भूत कहलाते हैं।

पुनः, केवल सद्‌गुरु की सीधी तथा व्यक्तिगत सहायता से ही उन ईश्वर-प्राप्त पुरुषों में से कोई एक साधारण मनुष्य के स्तर पर वापिस आता है, जिसे सभी भुवनों (अन्न, प्राण और मन भुवनों) की चेतना पुनः प्राप्त होती है और फिर भी साथ-साथ उसमें पूर्ण ईश-चेतना बनी रहती है। तब वह नर-हरि, पूर्ण पुरुष, सद्‌गुरु अथवा कुतुब होता है।

जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता। जहाँ ज्ञान है, वहाँ अज्ञानता नहीं होती। और, चूंकि परतें, परदा तथा पृथक्ता की घाटी सब अज्ञानता के प्रदेश में होते हैं, इसलिये सद्‌गुरु—जो सर्व ज्ञान का "सूर्य" होता है—अपनी मरज़ी के अनुसार किसी को भी एक निमेष में ईश्वर-साक्षात्कार प्रदान कर सकता है।†

एकमेव ईश्वर सत्य है, और चूंकि हम शाश्वतः दैवी प्रियतम में स्थित हैं, हम सब एक हैं।

---

† [इसे भी देखिये : मेहेरबाबा, 'दि फ़ेब्रिक आफ़ दि यूनीवर्स', "बीम्स फ्राम मेहेरबाबा आन दि स्प्रिचुअल पनोरमा", पृष्ठ १३–१५।

और यह भी देखिये : मेहेरबाबा, 'दि वेज़ टू दि पाथ ऐण्ड इट्स स्टेट्स ऐण्ड स्टेजेज़', "लिसिन, ह्यूमैनिटी", पृष्ठ १६०–१६२, डी० ई० स्टीवेन्स (न्यूयार्क : डाड, मीड ऐण्ड कम्पनी, १९५७) द्वारा वर्णित और सम्पादित।

—सम्पादक]

भाग ८

परमात्मा की परात्पर परब्रह्म अवस्था, मूल लहर और चेतना के विकास एवं प्रतिवर्धन का चक्र

ईश्वर की परात्पर परब्रह्म अवस्था

आदि काल के परे से प्रारम्भ करते हुये, परमात्मा की परे-अति-परे अवस्था **परात्पर परब्रह्म**, की मूल अवस्था होती है। यह "ईश्वर-है" की मूल अवस्था है। सूफ़ी मत की भाषा में यह अवस्था "**वरा-उल-वरा**" की अवस्था कहलाती है।

"**ईश्वर-है**" की इस मूल अवस्था में अपरिमित परम शून्यता रहती है।

इस परम शून्यता में न तो ईश्वर की चेतन अथवा अचेतन अवस्था का कोई आविर्भाव होता है और न ईश्वर की चेतना अथवा अचेतना का आविर्भाव होता है। उसमें न तो असीमित "मैं"—दैवी अहं अथवा व्यापक अहं—होता है, और न सीमित "मैं" अथवा व्यक्तिगत अहं होता है। उसमें न व्यापक मन होता है और न सीमित मन होता है। उसमें न तो अपार प्राणशक्ति होती है और न परिमित प्राणशक्ति होती है। उसमें न तो विराट् शरीर—**महाकारण शरीर**—होता है और न परिमित शरीर होता है। उसमें न तो जगत होते हैं और न भुवन होते हैं। उसमें न तो चेतना—**महाचैतन्य**— का अथवा अचेतना का भान रहता है।

यह अवस्था पूर्णतया **ईश्वर की मूल अपार पूर्ण शून्यता की अवस्था है**—ईश्वर की न **निर्गुण-निराकार** अवस्था और न **सगुण-साकार** अवस्थायें हैं—जहाँ "ईश्वर-है" और "चेतना नहीं- है"।

जब कहा जाता है, "ईश्वर-है", तो इस कथन से उस अवस्था का वर्णन होता है जो सृष्टि के आदि के आदि से परे व्याप्त रहती है ।

"ईश्वर-है" की यह अवस्था परात्पर अवस्था में "ईश्वर की मूल दैवी गहरी निद्रा अवस्था" भी कहलाती है ।

ईश्वर-है अवस्था अपारता की अवस्था है । अपारता अनन्त होने के अधिकार के कारण सबकुछ है । अर्थात्, "**सबकुछ**" अपारता का मूल स्वभाव है ।

सबकुछ में सब कुछ होने का गुण होने के कारण, उसके अन्तर्गत "**कुछनहीं**" भी होता है, अन्यथा "सबकुछ" का अर्थ सब कुछ कदापि नहीं हो सकता । यह कुछनहीं *[Nothing]* सबकुछ में **अन्तर्हित** होता है । किन्तु कुछनहीं, यथार्थतः कुछ न होने के कारण, कुछ न होने का स्वयं अस्तित्व ही बिल्कुल कुछ नहीं है ।

चूंकि यह कुछनहीं सबकुछ में अन्तर्हित है, इसलिये कुछनहीं का कुछनहींपन सबकुछ के अन्तर्गत अदृश्य रूप में दृढ़ता से चिपटा है ।

इस प्रकार, ईश्वर-है अवस्था की अपारता में वह सबकुछ जो अनन्तता की प्रकृति में, जो सबकुछ है, अन्तर्निहित है, कुछनहीं है । इसलिये जो चीज़ भी सबकुछ में अन्तर्हित है वह कुछनहीं की है ।

संक्षेप में, अपारता की अनन्तता के अतिरिक्त, सभी चीज़ें सबकुछ की ईश्वर-है अवस्था में अन्तर्हित होती हैं; और वह सबकुछ जो अन्तर्हित है अपने शून्यतावत् पहलुओं के सहित शून्यता का है ।

"ईश्वर-है" अवस्था में, जहाँ कुछनहीं अन्तर्हित है, आपहीआप शून्यता *(Nothingness)* के मूल स्वभाव से, चेतना का अस्तित्व भी शून्यवत् होता है । इसी अनुसार ईश्वर की परात्पर परब्रह्म अवस्था में, चेतना ईश्वर में सदैव और सदैव अन्तर्हित होती है जो (ईश्वर) अपने मूल स्वभाव से सबकुछ है—अपरिमित एवम् असीमित और अपार है । इस प्रकार आपहीआप, सबकुछ होने के अपने मूल स्वभाव से ही, ईश्वर-है अवस्था में ईश्वर अपने अन्तर्गत सदैव और सदैव अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द रखता है और वह सब कुछ रखता है जो अपारतया तेजोमय अथवा सुन्दर होता है ।

चूंकि ईश्वर सबकुछ है और अनन्त है, इसलिये सबकुछ के विलोम को, जो शून्य है, अत्यन्त परिमित होना चाहिये ।

इसलिये शून्य ईश्वर-है अवस्था में अत्यन्त परिमित रूप में अन्तर्हित है; अथवा, ईश्वर की अपार अवस्था में जोकि सबकुछ है, शून्य की अत्यन्त परिमित अवस्था अन्तर्हित है।

यह निपट स्वाभाविक है कि जब इस अन्तर्हित एवं अत्यन्त परिमित शून्य का आविर्भाव होता है, तो वह आविर्भाव अत्यन्त परिमित रूप में होना चाहिये।

परन्तु यह एक अत्यन्त असत्य भासित होने वाला तथ्य है कि जब यह अत्यन्त परिमित शून्य अभिव्यक्त होता है, तो इसका आविर्भाव क्रमशः **अनन्त विस्तार** तक फैलता है।

जो चीज़ इस अत्यन्त परिमित शून्य को अनन्तता प्रदान करती है वह स्वयं ईश्वर की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द की अन्तर्हित त्रि-प्रकृति है जो, ईश्वर का मूल स्वभाव होने के गुण के कारण, स्पष्टतया "ईश्वर-है" अवस्था की अनन्तता में अप्रकटरूप से व्याप्त रहती है। स्वाभाविकतया, यह अनन्त त्रि-प्रकृति भी सबकुछ की अनन्तता में अन्तर्हित होने के समय इस अत्यन्त परिमित शून्य को भी ढाँके रहती है।

"ॐ" बिन्दु

इसलिये, जब इस अत्यन्त परिमित शून्य का आविर्भाव शून्यता के रूप में होता है, तो अत्यन्त परिमित शून्य का आविर्भाव साथ-साथ ईश्वर की अन्तर्हित सर्वव्यापक अनन्त त्रि-प्रकृति के उभार *[Projection]* से घनिष्ठतया सम्बद्ध, एवं उसके द्वारा विस्तारित होने से, क्रमशः अनन्तरूप से फैलता है और प्रत्यक्षरूप से अनन्त शून्यता अथवा सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होता है; और इसलिये शून्यता के जगत को, जो मायावी है, ईश्वर की "छाया" कहा जा सकता है और, ईश्वर के अनन्त होने के कारण, उसकी छाया भी अनन्त है।*

---

* सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव शून्य से हुआ है। शून्य के बाहर दो चीजें निकली हैं, विकास और उत्पत्ति। शून्य के बाहर, गैस की सात अवस्थाओं का आविर्भाव हुआ। सातवीं विकसित अवस्था हाइड्रोजन है। इस सातवीं गैस-जैसी अवस्था से विकास और उत्पत्ति का अस्तित्व हुआ।

सृष्टि का समाधान विकास से किया जा सकता है क्योंकि सबकुछ सात स्थितियों में है; उत्पत्ति की सात स्थितियाँ, विकास की सात स्थितियाँ, और प्रतिवर्धन की सात स्थितियाँ। इसलिये, ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर ने विश्व की रचना सात दिनों में की। शून्य से, अत्यन्त सीमित छाया और अनन्त छाया का आविर्भाव एकसाथ हुआ।

आविर्भाव के समय, शून्य, जो अत्यन्त परिमित तथा सबकुछ में अन्तर्हित है, सबकुछ के अन्तर्गत एक अत्यन्त परिमित बिन्दु से बाहर निकलता है जहाँ शून्य अत्यन्त परिमित रूप में सन्निहित *(Embodied)* होता है।

अत्यन्त परिमित बिन्दु, जहाँ से शून्य शून्यता के रूप में बाहर निकलता है, सृष्टि बिन्दु अथवा "ॐ" बिन्दु कहलाता है। यह सृष्टि बिन्दु भी स्वाभाविकतया सबकुछ के अन्तर्गत होता है, जिसका अर्थ है कि ईश्वर की परात्पर परब्रह्म अवस्था के अन्तर्गत होता है।

इसलिये अत्यन्त परिमित शून्य "ईश्वर-है" अवस्था की अनन्तता की अपरिमितता के अन्तर्गत, अत्यन्त परिमित "सृष्टि बिन्दु" से होकर अनन्त सबकुछ के बाहर सृष्टि के रूप में निकलता है।

संक्षेप में, जब अत्यन्त परिमित शून्य ईश्वर की अनन्त त्रि-प्रकृति से व्याप्त अनन्तता के अन्तर्गत स्थित अत्यन्त परिमित सृष्टि बिन्दु से होकर शून्यता के रूप में अभिव्यक्त होता है, तो (ईश्वर की सर्वव्यापक अनन्त त्रि-प्रकृति से घनिष्ठतया सम्बद्ध एवं परिपुष्ट) अत्यन्त परिमित शून्यता का आविर्भाव क्रमशः अनन्तरूप से फैलता है और प्रत्यक्षतया अनन्त शून्यता के रूप में अथवा अनन्त सृष्टि के रूप में प्रकट होता है।

मौज (WHIM) अथवा लहर

वह कारण, जिससे अनन्त सबकुछ में अन्तर्निहित, अत्यन्त परिमित शून्य का आविर्भाव अनन्त शून्यता के रूप में हुआ, मूल कारण है और वह "कारण" (*Cause*, हेतु) कहलाता है।

यह हेतु ईश्वर की "मौज" अथवा "लहर" ही है। इस मूल लहर को ईश्वर द्वारा मुखरित प्रथम "शब्द" *(Word)*—"मैं कौन हूँ?" भी कह सकते हैं।

ईश्वर-है अवस्था की अनन्तता ने ईश्वर को पूर्णरूपेण स्वाधीन बनाया, और पूर्णरूपेण स्वाधीन होने के गुण के कारण ईश्वर को अपनी ही अनन्तता का अनुभव एवं उपभोग करने के लिये अपनी अनन्त मौज का प्रयोग करना बिल्कुल स्वाभाविक है। मौज का प्रयोग करना सदैव एक स्वाधीन प्रकृति का लक्षण है, क्योंकि स्वाधीन प्रकृति सदैव मनमौज से रञ्जित होती है।

मूल अनन्त लहर ही शून्य के अन्तर्हित-सकल को शून्यता के रूप में प्रकट होने के लिये हेतु प्रदान करने की जिम्मेदार है।

किन्तु, इसके पूर्व कि ईश्वर ने उस अन्तर्हित सकल को जोकि

मूल लहर

परात्पर परब्रह्म–परमात्मा

"है" अवस्था

आत्म की और माया की चेतना से रहित



परब्रह्म–परमात्मा

आत्म की और तीन अनन्त पहलुओं की चेतना से युक्त

किन्तु

माया की चेतना से रहित

(कोई खाका अथवा ढाँचा नहीं)

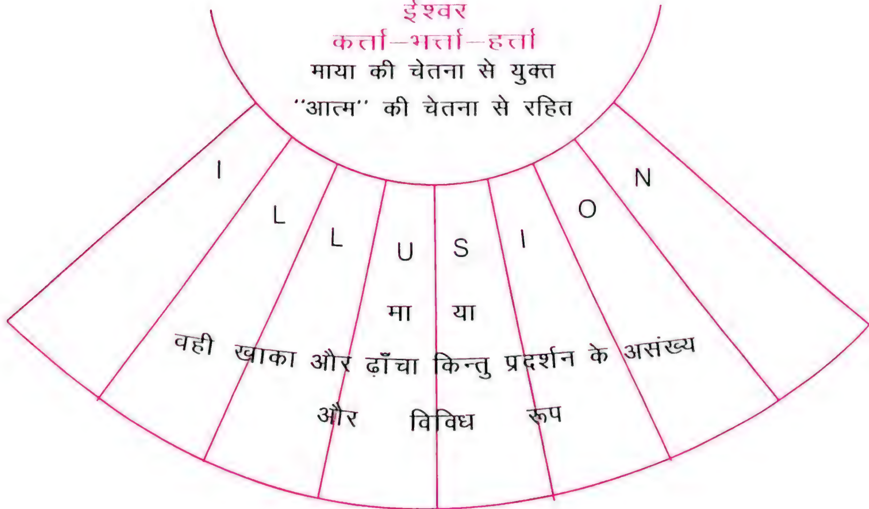
क्योंकि केवल "ऐक्य" है

ईश्वर

कर्त्ता–भर्त्ता–हर्त्ता

माया की चेतना से युक्त

"आत्म" की चेतना से रहित



 = मूल लहर उठी और ईश्वर कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता के रूप में अपने साजोसामान सहित प्रगट हुआ ।

- कर्त्ता खुद सृजित होता है
- भर्त्ता खुद पोषित होता है
- हर्त्ता खुद नष्ट होता है

शून्य का था अभिव्यक्त करने के लिये अपनी मूल अनन्त लहर का प्रयोग किया, ईश्वर की स्वयं यह लहर ही ईश्वर-है अवस्था में स्थित पूर्णरूपेण स्वाधीन ईश्वर की अनन्तता के सबकुछ के अन्तर्गत शून्य के रूप में अन्तर्हित थी।

तब अन्तर्हित मूल अनन्त मौज का ईश्वर में उठना और अपने-आपको तथा उस अन्तर्हित सकल को जो शून्य का है शून्यता के रूप में अभिव्यक्त करना, अन्तर्हित मूल अनन्त के लिये किस प्रकार सम्भव है ?

यह सब होते हुये, मौज मौज ही है; और, अपने मूल स्वभाव से ही, यह ऐसी होती है कि "क्यों—किसलिये—कब" के लिये कोई स्थान इसकी प्रकृति में नहीं होता। मौज किसी क्षण आ सकती है; वह अभी आ सकती है अथवा कुछ महीनों बाद या वर्षों बाद आ सकती है, और यह भी हो सकता है कि वह बिल्कुल न आवे।

इसी प्रकार से, मूल अनन्त लहर आखिरकार एक लहर है, और इस पर भी वह अपारता की अवस्था में स्थित ईश्वर की लहर है! यह हो सकता है कि यह मौज ईश्वर में बिल्कुल न उठे; और, यदि वह उठती है, किसी भी क्षण अथवा हज़ारों वर्षों बाद अथवा लाखों कालचक्रों के बाद, तो उससे हमें कोई आश्चर्य न होना चाहिये।

इस प्रकार से ही, अनन्तता की अवस्था में मग्न ईश्वर की मूल अनन्त लहर एक समय उठ पड़ी; और वह पूर्णरूपेण स्वाधीन ईश्वर के अन्तर्गत, जो शाश्वतः शाश्वत है, स्वतः प्रवर्तित और बिल्कुल अचानक पैदा हो गई। इसलिये इस लहर ने, जो एकबार उठ पड़ी थी, एकबार सृष्टि में सब चीजों के आदि का आरम्भ कर दिया।

संक्षेप में, अनन्तता की अवस्था में निमग्न ईश्वर की इस मूल अनन्त अन्तर्हित लहर ने, पूर्णरूपेण स्वाधीन ईश्वर में एक बार उठ पड़ने पर, अपनेआप को अभिव्यक्त किया, और अपनी अभिव्यक्ति के साथ-साथ उस अन्तर्हित सकल को जो शून्य का था शून्यता के रूप में प्रकट किया। इस प्रकार लहर ने शून्य की उत्पत्ति कर दी।

अब हम संक्षिप्तरूप में वर्णन करेंगे कि अनन्त शून्य अत्यन्त परिमित सबकुछ से कैसे पैदा हुआ :

परब्रह्म अवस्था में ईश्वर अनन्त सबकुछ है। अनन्त सबकुछ की तुलना अनन्त, सीमारहित महासागर से की जा सकती है। इसलिये यह सीमारहित महासागर अनन्त सबकुछ है। इस प्रकार महासागर के अन्दर

प्रत्येक बिन्दु अत्यन्त परिमित सबकुछ है। संक्षेप में, यदि अनन्त महासागर अनन्त सबकुछ है तब महासागर की प्रत्येक बूंद अत्यन्त परिमित सबकुछ है।

सीमारहित महासागर में लहर उठने से पहले तथा सृष्टि का आविर्भाव होने से पहले, सृष्टि बिन्दु (ॐ बिन्दु) जिससे होकर सृष्टि का उभार होता है स्वयं ही सीमारहित महासागर में अनन्त सबकुछ के रूप में होता है क्योंकि लहर के उठने के पूर्व, पूर्ण शान्ति छाई थी और सीमारहित महासागर में व्याप्त थी; तब महासागर की "बूंदों" का कोई ज्ञान न था और कोई पृथकता न थी। तब सीमारहित महासागर अनन्त सबकुछ के रूप में था।

उस क्षण जबकि अनन्त सबकुछ में लहर उठी सृष्टि बिन्दु अथवा ॐ बिन्दु अत्यन्त परिमित सबकुछ के रूप में प्रकट हुआ।

अनन्त शून्य अनन्त सबकुछ में अन्तर्हित था, किन्तु जब लहर उठी तब अनन्त शून्य अत्यन्त परिमित सबकुछ से होकर, जोकि ॐ बिन्दु है; प्रकट हो गया।

इस प्रकार, अत्यन्त परिमित सबकुछ से होकर, अनन्त शून्य का उद्भव क्रमश: होता है, जो अनन्त विस्तार के साथ फैलता हुआ अपने को प्रकट करता है।

अन्तर्हित शून्य के उद्भव के साथ-साथ और शून्यता की अभिव्यक्ति के साथ, चेतना भी, जिसका अस्तित्व शून्य के रूप में था, और ईश्वर-है अवस्था की अनन्तता में अन्तर्हित था, उद्भूत हुई और उसने अपनेआपको क्रमश: ईश्वर की चेतना के रूप में प्रकट किया, जिससे ईश्वर ने अपनेआप को सकल चीजों के विधाता के रूप में अनुभव किया जो उसकी सबकुछ की अवस्था से शून्यता के रूप में उद्भूत हुई।

इसके बाद, क्रमश: पूर्ण चेतना प्राप्त करते हुये, विधाता की अवस्था में स्थित ईश्वर अत्यन्त-परिमित शून्यता की भूलभुलैयों में फँस गया और उसने अपनेआप को अपार, प्रसारित तथा खुद अपनी ही अनन्त त्रि-प्रकृति के द्वारा स्थापित पाया।

असत्याभासपूर्ण व्याजोक्ति यह है कि ईश्वर की स्वयं अनन्तता के कारण, ईश्वर को शून्यता की मिथ्या प्रत्यक्ष अपारता से बचना कठिन हो जाता है, जो शून्यता अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप ईश्वर की घनिष्ठतया सम्बद्ध अनन्त त्रि-प्रकृति के द्वारा अनन्तरूप

से फैलती जाती है ।१७

किन्तु यह गुन्थन निपट आवश्यक होता है जिससे **ईश्वर-है** अवस्था की अपारता में स्थित ईश्वर को अपनेआप के लिये तथा अपनी अनन्त सत्यता की परिपूर्ण एवं सम्पन्न चेतना प्राप्त हो जावे, और इस रीति से वह चेतनतया अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की अपनी अपार, असीमित, अनन्त त्रि-प्रकृति का अनुभव करे ।

मूलभूत सत्य यह है कि एकबार पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाने पर उसका ह्रास कभी नहीं हो सकता । वह सन्तत क़ायम रहती है, चाहे वह पूर्णतया प्राप्त हुई चेतना सत्यवत् अनुभव किये गये मिथ्या **शून्यता** की चेतना हो, अथवा वह चेतना **स्वयं सत्यता** की चेतना हो ।

अन्ततः वही चेतना पूर्ण परिपक्वता प्राप्त कर चुकने पर ईश्वर को उसकी ही सत्यता का अनुभव कराती है । सत्यता की अनुभूति करने के लिये चेतना केवल तभी पूर्णतया परिपक्व होती है जबकि उसका पोषण मिथ्या के प्रत्यक्ष भान द्वारा हो चुकता है । यथार्थता के रूप में मिथ्या का यह भान चेतना के विकास के दौरान में इतना प्रचण्ड हो जाता है कि मिथ्या भान में डूबी हुई चेतना ईश्वर को केवल मिथ्या का भान कराती है, जिसे ईश्वर यथार्थवत् अनुभव करता है । अर्थात्, **विधातावत् ईश्वर शून्य** के आविर्भाव का यथार्थवत् तथा **सबकुछ** के रूप में मिथ्या अनुभव करता है ।

इस प्रयोजन के लिये कि **ईश्वर-है** अवस्था में अन्तर्हित ईश्वरीय चेतना के द्वारा ईश्वर को अपनी ही सनातन सत्यता का अनुभव करना सम्भव हो सके, **सबकुछ** के अन्तर्गत उस अन्तर्हित चेतना का उभार (जो चेतना बाहर की ओर निकलने पर **शून्यता** की मिथ्या अपारता में केन्द्रित हो जाती है) भीतर की ओर सिमटना चाहिये । भीतर की ओर ऐसे सिमटन के द्वारा, उसी चेतना का केन्द्र **सबकुछ** की अनन्तता में केन्द्रित हो जाता है (जिस सबकुछ से वह बाहर की ओर निकली थी और **सबकुछ** की अपारता के अनुभव की उत्पत्ति करने की अपेक्षा अपार **शून्यता** के अनुभव को जन्म दिया था) ।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जब उभरी चेतना भीतर की ओर लौटती है अथवा उसका प्रतिवर्धन पूर्ण एवं सम्पन्न हो जाता है, तो वह **शून्यता** जिसका अनुभव एक समय सत्यता के रूप में होता था आपहीआप चेतना के लिये लुप्त हो जाता है, जो चेतना अब ईश्वर की

अपारता की सनातन सत्यता में पूर्णतया केन्द्रित होती है।

संक्षेप में, सत्यता—सनातन सत्यता—का साक्षात्कार करने के लिये कोई नवीन चेतना की प्राप्ति शेष नहीं रहती। यह सबकुछ में अन्तर्हित वही चेतना है जो, शून्य से निकलने पर, पहले क्रमशः विकसित होती है और, शून्यता से साहचर्य करती हुई, फिर शून्यता को सत्यवत् अनुभव करती है। जब इस चेतना का विकास परिपूर्ण एवं सम्पन्न हो जाता है, तब वही चेतना ईश्वर को मिथ्या शून्यता का अनुभव कराती है जो शून्यता यथार्थ और अनन्तवत् अपरिमित विस्तार के साथ फैलती है। पुनः, जब वही परिपूर्ण एवं सम्पन्न चेतना स्वयं अपने ही प्रतिवर्धन के द्वारा पूर्ण एवं सम्पन्न परिपक्वता प्राप्त कर लेती है, तब वह अनन्त सत्यता को एकमेव सत्यतावत् अनुभव करती है और ईश्वर को खुद उसकी ही यथार्थ एवं शाश्वत अपार अवस्था का अनुभव प्रदान करती है।

अपारता की अपनी मूल अवस्था में ईश्वर अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की अपनी अनन्त, अपार एवं असीमित त्रि-प्रकृति के द्वारा शाश्वतः अनन्त है। चूंकि ईश्वर शाश्वतः है, इसलिये ईश्वर की मूल अवस्था तथा ईश्वर की नई अवस्थाओं के बीच, जो उसे प्राप्त होती हैं, एकमेव वास्तविक अन्तर चेतना का होता है जोकि उभरी शून्यता के संस्कारों के द्वारा क्रमशः बढ़ती हुई प्राप्त होती है।

अपनी मूल ईश्वर-है अवस्था में ईश्वर को अपने अपार सनातन अस्तित्व की चेतना नहीं होती और न उसको खुद अपनी अनन्त प्रकृति की चेतना होती है यद्यपि उसका अस्तित्व अनन्त तथा शाश्वतः रहता है। स्वयं अपनी ही अनन्त लहर के कारण ईश्वर को अपनी यथार्थता की चेतना प्राप्त होती है और अपनी अपार, सनातन असीमित सत्ता *(Self)* का साक्षात्कार प्राप्त होता है जिससे वह अपनी अपार, असीमित एवम् अनन्त त्रि-प्रकृति का अनुभव करता है।

इस प्रकार ईश्वर को, अब शाश्वत चेतना की अपनी नवीन उपार्जित अवस्था से युक्त होने के द्वारा, चेतनतया तथा शाश्वतः ईश्वर-है स्थिति की अपनी मूल परात्पर परब्रह्म अवस्था का भान होता है, जिस अवस्था में उसको सदैव और सदैव स्वयं अपनी ही ईश्वर-है अवस्था की अपारता की चेतना नहीं रहती। इसलिये शाश्वत एवम् अनन्त ईश-अवस्था का चेतनतया साक्षात्कार प्राप्त करना ही लक्ष्य है।

जैसाकि पहले ही वर्णन किया जा चुका है, ईश्वर की मूल

अवस्था अपार पूर्ण शून्यता की वह अवस्था है जहाँ **ईश्वर-है** और चेतना **नहीं-है** । यह अवस्था सृष्टि के आदि के आरम्भ के परे ईश्वर की मूल दैवी गम्भीर निन्द्रा-अवस्था है ।

ईश्वर की मूल अनन्त लहर "कारण" *[Cause]* के रूप में, ईश्वर की मूल दैवी गम्भीर निद्रा-अवस्था के मोहन को भङ्ग करने की उत्तरदायी है, और उसका परिणाम, जोकि सृष्टि है, "कार्य" *(Effect)* कहलाता है ।

दैवी गम्भीर निद्रा अवस्था को स्पष्टरूप से समझने के लिये, तथा उस सबको और अधिक स्पष्टरूप से समझने के लिये जो ईश्वर में मूल अनन्त लहर के उठते ही तत्क्षण घटित होता है, और ईश्वर को दैवी गम्भीर निद्रा से जगा देता है, ईश्वर की दैवी गम्भीर निद्रा अवस्था की तुलना मनुष्य की गम्भीर निद्रा से कीजिये ।

मनुष्य की यह गम्भीर निद्रा अवस्था अक्षरशः ईश्वर की वही मूल दैवी गम्भीर निद्रा अवस्था है । **ईश्वर-है** अवस्था में ईश्वर शाश्वतः मूल दैवी गम्भीर निद्रा अवस्था में है, जबकि मानवी अवस्था में ईश्वर प्रतिदिन बारी बारी से गम्भीर निद्रा अवस्था एवम् जागृत अवस्था का अनुभव करता है ।

अनन्त, संस्काररहित एवम् निराकार, शाश्वत परमात्मा अपने-आपको, केवल **शून्यतावत्** प्रकट हुये **शून्य** के प्रथम अत्यन्त-परिमित संस्कार के जन्म के कारण से ही, परिमित, सीमित, जड़ अथवा चेतन शरीरों अथवा प्राणियों के रूप में अनुभव करता है ।

चेतना के विकास में एक स्थल पर शून्य के संस्कार ईश्वर को मानवी अवस्था के अनुभव प्रदान करते हैं ।

शून्य के ये संस्कार मूल अत्यन्त-परिमित प्रथम संस्कार की ही उत्पत्ति हैं । यह प्रथम संस्कार ईश्वर के अन्तर्गत चेतना की अत्यन्त परिमित प्रथम किरण ने प्राप्त किया था जो साथ-साथ उसी क्षण प्रकट हुई थी जबकि ईश्वर में अन्तर्हित मूल अनन्त लहर उठी थी और उसने अत्यन्त-परिमित **शून्य** के अन्तर्हित सकल को **शून्यतावत्** बाहर को उभारा था ।

मूल अत्यन्त-परिमित संस्कार, चेतना के अत्यन्त-परिमित मूल प्रवाह के विकास के साथ ही साथ तथा उससे एकीभूत रहते हुये, संख्या एवं घनत्व में बढ़ता गया ।

इस प्रकार पैदा हुये बहुमुखी एवं विविध संस्कारों के अनुभव, चेतना के महानतर विकास ने, परिमित अथवा स्थूल शरीरों के बहुमुखी एवं विविध माध्यमों के द्वारा किये, क्योंकि पैदा हुये संस्कारों का अनुभव चेतना को अनिवार्यरूप से करना होता है; किन्तु संस्कारों का अनुभव करने के लिये चेतना को उपयुक्त माध्यम नितान्त आवश्यक थे ।

इस प्रकार चेतना का विकास, सापेक्षतया उच्चतर और उच्चतर प्रकारों की योनियों के विकास के अनुसार, अधिकतर एवं उच्चतर चेतना का विकास करता जाता है, जिससे वह सापेक्षतया निम्नतर और निम्नतर प्रकारों के स्थूल माध्यमों के संसर्ग में पिछले सञ्चित हुये संस्कारों का अनुभव कर सके ।

संक्षेप में, ईश्वर में उठी मूल अनन्त लहर के अत्यन्त-परिमित प्रथम संस्कार ने अचेतन अनन्त ईश्वर को अत्यन्त-परिमित चेतना प्रदान की । क्रमशः, विविध संस्कार संख्या एवं घनत्व में बढ़ते गये और ईश्वर के लिये उच्चतर परिमित चेतना प्राप्त करते गये, जब तक कि अन्ततः चेतना का विकास पूर्ण न हो गया, जब तक कि प्राप्त हुई परिपूर्ण चेतना के संस्कारों ने ईश्वर की एकरूपता मानव रूप से न कर दी । अब मनुष्य-योनि में ईश्वर के पूर्ण चेतना प्राप्त कर चुकने से, चेतना का विकास करने के लिये अतिरिक्त अथवा उच्चतर योनियों की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि प्राप्त हुई यह चेतना परिपूर्ण तथा सम्पन्न होती है ।

चेतना के विकास की प्रक्रिया के दौरान में, चेतना ईश्वर का तादात्म्य चेतनतया विविध परिमित स्थूल रूपों—जड़ एवम् चेतन—से करती हुई, साथ-साथ ईश्वर की अभिन्नता अचेतनतया उसके सीमित सूक्ष्म शरीर तथा उसके सीमित कारण शरीर से भी किये रही थी । ये शरीर ईश्वर के सीमित स्थूल शरीर से, दृढ़ एवम् सजातीय अचेतन संसर्ग रखते हुये, चेतना के विकास की प्रक्रिया के आद्योपान्त, सबकुछ के अन्तर्गत अन्तर्हित शून्य का प्रथम मूल उद्‌भव होने के क्षण से ही, साहचर्य किये रहे ।

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि, ईश्वर की उच्चतर एवं उच्चतर चेतना के विकास के साथ-साथ, उसी समय सीमित तथा परिमित प्राण और मन का विकास होता जाता है, यहाँ तक कि स्थूल मानव शरीर में ईश्वर के सीमित प्राण और मन का पूर्ण विकास हो जाता है ।

यद्यपि मनुष्य योनि में ईश्वर ने पूर्ण चेतना प्राप्त कर ली है, और

यद्यपि सीमित प्राण और मन भी मानव-योनि में पूर्णतया विकसित हो चुके हैं, तथापि इस प्रकार प्राप्त हुई पूर्ण चेतना केवल स्थूल की चेतना है जो केवल स्थूल जगत का अनुभव प्रदान करती है। इसलिये, पूर्णतया प्राप्त हुई चेतना को अब भी प्राण और मन का भान नहीं है और न उसको चेतनतया प्राण एवं मन भुवनों का अनुभव होता है।

संक्षेप में, यद्यपि ईश्वर ने मानव अवस्था में भरपूर और पूरी *[Complete]* चेतना प्राप्त कर ली है, तथापि उसको अब भी न अपने सूक्ष्म शरीर की सीमित प्राणशक्ति और न अपने कारण शरीर के अपने सीमित मन की चेतना होती है। और, इससे भी बहुत कम भान उसको इस सत्यता का है कि वह खुद अपार शक्ति और असीमित ज्ञान से सम्पन्न एक अखण्ड्य, सनातन एवं अनन्त परमात्मा है। इस अवस्था में ईश्वर को केवल मानव-योनि एवं उसके विविध स्थूल पहलुओं से अपनी एकरूपता का पूरा भान होता है, और वह केवल स्थूल जगत का पूर्ण अनुभव दुनियाँ के साधारण मानव प्राणी के समान पुरुष अथवा स्त्री के रूप में करता है।

किन्तु मनुष्य की चेतना और साथ-साथ मन के रूप में उसका कारण शरीर, प्राणशक्ति के रूप में उसका सूक्ष्म शरीर और देह के रूप में उसका स्थूल शरीर, ये सब अनन्त शून्यता के रूप में, जो परमात्मा-है अवस्था में अन्तर्निहित था, अत्यन्त-सीमित शून्य के आविर्भाव की उपज हैं। दूसरे शब्दों में, सीमित मन, सीमित प्राणशक्ति तथा सीमित देह, ये सब शून्य के हैं, और परिमित मन, परिमित प्राण शक्ति और सीमित शरीर की चेतना भी शून्य की है।

मनुष्य में, मन इच्छाओं और विचारों का स्थान है, प्राणशक्ति, बल और ओज का स्थान है, और शरीर, जो सुख की प्रतिरूपता प्रकट करता है, सुख और दुख का स्थान है। इसलिये ये इच्छायें और विचार, बल और ओज, सुख और दुख, क्रमशः मनुष्य के सीमित मन, प्राणशक्ति एवं देह के परिमित पहलू हैं।

यद्यपि मनुष्य की त्रिगुण प्रकृति—अर्थात् मन, प्राणशक्ति और शरीर (सुख की प्रतिरूपता प्रकट करती हुई देह)—के परिमित आधार के ये पहलू परिमित हैं, क्योंकि ये अत्यन्त परिमित शून्य के आविर्भाव के परिणाम हैं, फिर भी मन, प्राणशक्ति और शरीर के ये परिमित पहलू अपनी क्षमतायें अनन्तरूप से प्रदर्शित करते हैं।

इसका कारण यह है कि मनुष्य की त्रिगुण प्रकृति—प्राणशक्ति, मन और शरीर (सुख की प्रतिरूपता प्रकट करता हुआ)—के इन परिमित आधारों में से प्रत्येक ईश्वर की त्रि-प्रकृति (सत्-चित्-आनन्द) के तीन अनन्त आधारों अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द में से प्रत्येक से घनिष्ठतया सम्बद्ध है तथा उसके द्वारा स्थापित है।

सच बात यह है, कि जब ईश्वर की अन्तर्हित अनन्त त्रि-प्रकृति परिमित शून्य के क्रमिक निकास से क्रमशः अभिव्यक्त होती है, और जब वह साथ-साथ परिमित शून्य के निकास को अनन्तरूप से अभिव्यक्त शून्यता के रूप में फैला देती है, तब ईश्वर की यही अनन्त त्रिगुण प्रकृति, अभिव्यक्ति की इस स्थिति में, शून्यता की प्रत्यक्ष एवं मिथ्या अनन्तता के जाल में फँस जाती है और इस प्रकार अपनेआप को अनन्तरूप से प्रदर्शित क्षमताओं से सम्पन्न परिमित मानवी त्रिगुण प्रकृति के रूप में प्रकट कराती है।

(१) मन, (२) प्राणशक्ति और (३) शरीर, मनुष्य की त्रिगुण प्रकृति के रूप में, किस प्रकार अपनी क्षमतायें अनन्तरूप से माया के अन्तर्गत प्रदर्शित करते हैं इसका स्पष्ट अनुभव (१) वैज्ञानिक के आविष्कारी मन के द्वारा होता है, जिसे अनुसन्धानों एवं आविष्कारों का कोई अन्त नहीं मिलता : (२) माया के अन्तर्गत अणुशक्ति के विमोचन के द्वारा होता है, जो ऐसी स्थिति में पहुँच गई है जहाँ कि वह अपने ही मायावी बल से स्वयं शून्यता का विनाश करने की धमकी दे रही है जिससे वह निकली थी तथा ऐसी भयंकर शक्ति के रूप में विकसित हुई थी; (३) शरीर (सुख को प्रतिरूपित करने वाला) के द्वारा होता है जो, अब शून्य के विकास की बढ़ती हुई प्रगति के साथ चलता हुआ, अधिकतर और अधिकतर सुख प्राप्ति की चाह करने के लिये इस सीमा तक अनन्ततया प्रेरित होता है कि सुख वास्तव में माया के जीवन का स्वयं आधार ही बन जाता है।

शून्यता (जो माया है) के क्षेत्र में ऐसे अपार प्रदर्शन का एकमात्र कारण यह है कि मनुष्य की मूल परिमित त्रिगुण प्रकृति—प्राणशक्ति, मन और शून्यता का सुख—ईश्वर की मूल अनन्त त्रि-प्रकृति—अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और सबकुछ का अनन्त आनन्द, के द्वारा स्थापित होती तथा अपारतया फैलती है।

अनन्त शक्ति असीमित है और वह कभी भी कम अथवा शून्य

नहीं होती, जबकि परिमित प्राणशक्ति, अनन्त शक्ति से सम्बद्ध होते हुये भी, कम तथा शून्य हो जाती है क्योंकि वह केवल शून्य की उपज है जो शून्यता की परिमित प्राणशक्ति के रूप में प्रकट हुई है।

अनन्त ज्ञान शाश्वत, एकरूप तथा सर्वव्यापक है और इसलिये उसका सातत्य अखण्ड होता है। तथापि, सीमित मन, अनन्त ज्ञान से सम्बद्ध होते हुये भी, नष्ट होता है और अन्ततः उसका लोप कर दिया जाता है क्योंकि वह शून्य का परिणाम है जो शून्यता के परिमित मन के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

अनन्त आनन्द शाश्वत एवं सतत् आनन्द है और चूंकि वह नित्य है इसलिये वह किसी भी विपरीत पहलू से रहित है। दूसरी ओर, सुख अनन्त आनन्द से सम्बद्ध होते हुए भी, नित्य नहीं है और इसलिये उसका विपरीत पहलू दुख है। इस परिमित सुख का लोप हो जाता है, यद्यपि यह मानव जीवन का मूल आधार है, क्योंकि स्वयं जीवन नश्वर है। चूंकि माया का जीवन शून्य का परिणाम है जो शून्यता के जीवन के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, इसलिये यह जीवन अवश्य नष्ट होना चाहिये।

एक स्थिति आती है जबकि ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त करने के मनुष्य के घोर प्रयास में मनुष्य की मूल परिमित त्रिगुण प्रकृति का, अर्थात् शरीर, (सुख को प्रतिरूपित करने वाले) प्राणशक्ति और मन का, नाश हो जाता है, और उसको आनन्द, शक्ति एवं ज्ञान की मूल अनन्त त्रि-प्रकृति की अनुभूति हो जाती है। इस अवस्था में मनुष्य को अनुभव होता है कि उसकी प्रकृति (सुख को प्रतिरूपित करने वाला) परिमित शरीर नहीं है वरन् अनन्त आनन्द है; परिमित प्राणशक्ति *[Energy]* नहीं है वरन् अनन्त शक्ति *(Power)* है; परिमित मन नहीं है वरन् अनन्त ज्ञान है। इस प्रकार मनुष्य की मूल परिमित त्रिगुण प्रकृति का नाश हो जाता है और उसे अनुभव होता है कि उसकी प्रकृति ईश्वर की मूल अनन्त त्रि-प्रकृति है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य की मूल परिमित त्रिगुण प्रकृति, जिसको ईश्वर की मूल अनन्त त्रि-प्रकृति स्थापित किये थी, ईश्वर की मूल अनन्त त्रि-प्रकृति से असम्बद्ध हो गई है।

यद्यपि मनुष्य की मूल परिमित त्रिगुण प्रकृति का नाश हो जाता है, फिर भी पूर्ण चेतना का नाश नहीं होता जो उसको अपने घोर प्रयास के दौरान में प्राप्त हुई थी, क्योंकि एकबार पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाने पर उसका नाश कभी नहीं होता, और उसका नाश केवल तब होता है

जब उसका घोर दुरुपयोग चौथी भूमिका की शक्तियों से किया जाता है, जैसा कि पहले समझाया जा चुका है।

इस अवस्था में, चेतना के अक्षत एवं पूर्ण रहने के साथ, सीमित तथा परिमित शरीर (सुख को प्रतिरूपित करने वाला), सीमित तथा परिमित प्राणशक्ति, और सीमित तथा परिमित मन, सबके सब क्रमशः असीमित एवं अनन्त आनन्द, शक्ति तथा ज्ञान से पूर्णतया असम्बद्ध हो जाते हैं।

यह वह स्थिति है जब मनुष्य पूर्णतया चैतन्य होता है और फिर भी वह मिथ्या परिमित शून्यता को यथार्थ एवं अनन्तवत् अनुभव नहीं करता। (सुख को प्रतिरूपित करने वाला) शरीर, प्राणशक्ति और मन, जो शून्यता का अनुभव प्रदान करने के साधन थे, अब मनुष्य की चेतना को परिमित संस्कारों के चंगुल में नहीं फँसाये रखते। ये अब असम्बद्ध हो गये हैं और चेतना के केन्द्र-स्थल से केवल लुप्त हो गये हैं। उनका लोप होना अनिवार्य है क्योंकि वे स्वभावतः परिमित शून्य के थे, जिसका अक्षरशः अर्थ है परम शून्य।

किन्तु शरीर, प्राणशक्ति और मन का चंगुल मनुष्य की चेतना के ऊपर से अन्ततः हटने के पहले, एक प्रबल अनुभव होता है जो मनुष्य को उसके दैनिक जीवन में प्राप्त होता है, और वह है प्रतिदिन सोना और जागना।

एक सामान्य मनुष्य में यह मूलभूत अनुभव उसके दैनिक जीवन में तीन मूल अवस्थाओं को जन्म देता है :

पहली अवस्था गम्भीर निद्रा अवस्था है अथवा मनुष्य में खुदी [*Self*] की पूर्ण अचेतना की अवस्था है।

दूसरी अवस्था स्वप्न अवस्था है अथवा अर्द्ध-चेतन या अर्द्ध-जागृत अवस्था है।

तीसरी अवस्था पूर्णतया जागृत अवस्था है अथवा मनुष्य में मनुष्य के रूप में "खुदी" की पूर्ण चेतना है।

अब, मनुष्य को अभिज्ञान प्राप्त होता है कि उसमें जीवन है, और मनुष्य के कर्मों के द्वारा मनुष्य के जीवन को अभिज्ञान प्राप्त होता है। कर्मों की उत्पत्ति मनुष्य के संस्कारों से होती है और संस्कारों की उत्पत्ति कर्मों से। कर्म मनुष्य के इन संस्कारों को चुनते और उसके मन के ऊपर उनकी छाप बैठाते हैं। इस प्रकार संस्कार और कर्म

परस्पर-आश्रित होते हैं क्योंकि संस्कार कर्मों से पोषित होते हैं और कर्म संस्कारों से प्रेरित होते हैं।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, संस्कारों के उद्गम का पता बहुत पीछे जाकर सबकुछ के अन्तर्गत प्रसुप्त शून्य के रूप में मिलता है, जिसका अर्थ है ईश्वर-है अवस्था में ईश्वर। जब शून्य पहले सृष्टि के रूप में शून्यतावत् प्रकट हुआ, तो शून्य की उस आदिम अभिव्यक्ति से ईश्वर में चेतना के प्रथम चिन्ह की उत्पत्ति हुई और इस पर शून्यता के प्रथम संस्कार का आविर्भाव हुआ। इस प्रथम संस्कार ने चेतना के विकास के साथ-साथ संस्कारों की उत्पत्ति की।

तदनुसार, सब संस्कार शून्य के हैं, और चूँकि शून्य का अर्थ वस्तुतः कुछनहीं है, इसलिये ये संस्कार स्वभावतः केवल संस्कारों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। किन्तु, चूँकि शून्य के इन्हीं संस्कारों के द्वारा ही मनुष्य में चेतना का विकास भरपूर और पूर्ण हुआ था, इसलिये मनुष्य की चेतना शून्य के इन संस्कारों से घनिष्ठतया सम्बद्ध है और उसके द्वारा मनुष्य चेतनतया इस मिथ्या शून्य को सबकुछ एवं यथार्थवत् अनुभव करता है।

इस रूप में संस्कार मनुष्य के जीवन में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पार्ट अदा करते हैं, उस समय तक जब तक कि वे, चेतना को मिथ्या शून्य को सबकुछ और यथार्थवत् अनुभव करने से मुक्त और स्वतन्त्र करने के द्वारा, पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाते। चेतना, सब संस्कारों से मुक्त हो जाने पर, मिथ्या शून्य को कदापि यथार्थवत् अनुभव न करेगी वरन् वह सत्यता को असीमित आत्मा (अर्थात् ईश्वर) के रूप में अनुभव करेगी।

जब तक संस्कार बने रहते हैं और मनुष्य की चेतना पर अपना प्रभाव जमाते रहते हैं, तब तक ये संस्कार, जिनको मनुष्य की आत्मशक्ति क्रियाशील करती और पैदा करती है, मनुष्य के मन पर निरन्तर अङ्कित होते रहते हैं और उसकी आन्तरिक चेतना में संचित अथवा स्थिर बने रहते हैं।

इनमें से कुछ संस्कार मनुष्य की आन्तरिक-चेतना में घन्टों तक, अथवा दिनों तक, अथवा वर्षों तक, और कभी-कभी जीवन पर्यन्त प्रसुप्त बने रहते हैं। किन्तु इनमें से अधिकांश संस्कार मनुष्य की आन्तर चेतना के माध्यम से उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में उभड़ते हैं जबकि वह

अर्द्ध-चेतन और पूर्ण चेतन अवस्थाओं का अनुभव करता है; अर्थात्, क्रमशः स्वप्न एवं जागृत अवस्थाओं का अनुभव करता है।

जब ये संस्कार नितान्त प्रसुप्त अवस्था में रहते हैं तब मनुष्य अपनी गम्भीर निद्रा-अवस्था में होता है। जब ये संस्कार मनुष्य की अन्तर-चेतना से उभड़ने लगते हैं, तो वे अपनी प्रारम्भिक स्थितियों में धूमिल होते हैं, क्योंकि वे शून्यता से रचित विविध अन्तर-सूक्ष्म *(Sub-Subtle)* रूपों में होते हैं, और मनुष्य अर्द्ध-चेतन अवस्था में कहा जाता है जिसमें वह अपनी अन्तर-चेतना के द्वारा स्वप्नों का अनुभव करता है। जब ये धूमिल संस्कार अपने उभाड़ की अन्तिम अथवा परिपक्व स्थितियों में अधिक स्पष्ट हो जाते हैं, तो अन्तर-सूक्ष्म रूपों में स्थित शून्यता का अनुभव स्थूल रूपोंवत् होता है और मनुष्य पूर्णतया चैतन्य अथवा जागृत अवस्था में कहा जाता है जिसमें वह स्थूल जगत का अनुभव अपनी पूर्ण चेतना के द्वारा पूर्णतया जागृत अवस्था में करता है।

जब मनुष्य जाग उठता है, तो शून्य के संस्कारों के उभाड़ शून्यता के उसी स्वप्न को अधिक बलपूर्वक तथा अधिक सत्यरूप में अभिव्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, वही स्वप्न अब मनुष्य की जागृत अवस्था में अपनी सर्वोच्च स्थिति में कहा जाता है।

इसलिये मनुष्य की जागृत अवस्था स्वप्नों को उसी धूमिल अवस्था का ही अनुभव करना है; केवल अब वे स्वप्न अपने शिखर पर और अपनी पूर्णतया परिपक्व एवं अन्तिम स्थितियों में होने के कारण, स्पष्टतया अनुभव किये जाते हैं।

मनुष्य का स्वप्न केवल एक नाटक है जिसके नियम का निर्माण मनुष्य के ही प्रसुप्त संस्कारों का उभाड़ करता है। ये संस्कार, जब ये मनुष्य की अन्तर-चेतना के माध्यम से उभड़ते हैं, स्वप्न की चीज़ों एवं प्राणियों का सृजन अन्तर-सूक्ष्म शरीरों के रूप में करते हैं।

स्वप्न अवस्था में मनुष्य न केवल अपने स्वप्न के नाटक में फँसता है और, उस स्वप्न के कर्त्ता तथा उस स्वप्न के नाटक में नायक, दोनों के पार्ट अदा करता है, किन्तु इस नाटक में मनुष्य चीज़ों और प्राणियों के अन्तर-सूक्ष्म रूपों से घनिष्ठतया सम्बद्ध भी हो जाता है, जिन रूपों का सृजन वह खुद अपनी स्वप्न अवस्था में करता है। अन्तर-सूक्ष्म रूपों का यह सृजन पूर्णतया मनुष्य के ही पिछले एवं वर्तमान संस्कारों के आविर्भाव के परिणाम स्वरूप होता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी स्वप्न

अवस्था में अन्तर-सूक्ष्म अवस्थाओं के अन्तर्गत रूपों से अन्तर-चेतना द्वारा साहचर्य करता है।

जब मनुष्य जागृत अवस्था में स्मरण करता है, तो स्वयं ये ही रूप जिन्हें स्वप्न में उसने देखा है तथा जिनसे स्वप्न में साहचर्य किया है, उसको स्थूल रूपों से उसके चेतन संसर्गों की याद दिलाते हैं जिन रूपों से वह अपने वर्तमान जीवन में दिन-प्रतिदिन चीजों, जन्तुओं और प्राणियों की शक्ल में साहचर्य रखता है, और उनको उसके सम्बन्धों तथा सम्पर्कों से सम्बद्ध करते हैं जो उसके तात्कालिक भूत के और कभी-कभी सुदूर भूतकाल के जीवन में स्थापित हुये थे।

किन्तु बहुधा, आदमी को अपनी चेतन जागृत अवस्था में यह भी स्मरण आता है कि कोई खास शरीर चाहे वह किसी चीज, जन्तु अथवा प्राणी का हो, जिससे वह घनिष्ठ संसर्ग रखता है और जिसकी वह वास्तव में चाह करता है, उसको याद दिलाता है कि उसने उसको ही अपने स्वप्न में भूतकाल में कभी कुछ दिनों, महीनों अथवा वर्षों पहले देखा था।

इस प्रकार वस्तुतः ऐसा होता है कि भविष्य का कोई रूप (*Form*) जिसको उसने भूतकाल के अपने स्वप्न में देखा था, मनुष्य के सामने उसके वर्तमान जीवन के संसर्गों में एक स्थूल रूप की शक्ल में फिर से प्रकट होता है।

कुछ समय बीतने के बाद वही पदार्थ, जिसको अपने जीवन में पहले कभी देखने का अथवा उससे सम्पर्क करने का ज्ञान मनुष्य को बिल्कुल न था, उसके सामने (अब जागृत अवस्था में) ठीक उसी रूप में प्रकट होता है जिसमें उसने उसको पहले अपनी स्वप्न अवस्था में देखा था।

इसी प्रकार के अनुभवों का उल्लेख भी मिलता है जिनमें मनुष्य अपने स्वप्नों में खास घटनायें देखता है जो यथार्थ में घटित होने के वर्षों पहले घटित हुई थीं।

"अपने स्वप्न के ड्रामा में, भविष्यकाल के ऐसे रूपों तथा घटनाओं को पहले से देख लेना किसी मनुष्य के लिये किस प्रकार सम्भव है, जबकि यह स्वप्न का ड्रामा केवल उसके भूत और वर्तमान दैनिक जीवन के संस्कारों का परिणाम है ?

वर्तमान काल के स्वप्न में क्या यह वास्तव में सम्भव है, कि

मनुष्य का संसर्ग किसी खास विषय से हो जाय और वह उसे देखे जो नितान्त भविष्यकाल का है, और उससे वह पहले से ही भविष्य के संसर्ग स्थापित करे, और फिर भी वह उस विषय से पूरे समय अनभिज्ञ बना रहे जब तक कि अन्ततः सुदूर भविष्यकाल में एक दिन जागृत अवस्था में उससे उसका सम्पर्क एवं चेतनतया साहचर्य न हो जाय ?

यदि ऐसी बात सचमुच सम्भव भी हो, और यदि मनुष्य भविष्य को अपने स्वप्न में बिना अटकल के इधर-उधर टटोल रहा हो, तब मनुष्य के वर्तमान में भविष्यकाल कहाँ से पैदा हो जाता है ?

वर्तमान में जीवन व्यतीत करता हुआ मनुष्य भूतकाल के अपने ही संस्कारों के द्वारा भविष्यकाल की पकड़ में, स्वप्न अवस्था तक में भी, कैसे आ सकता है, और आगामी घटनाओं एवं विषयों के संस्कारों से आगे से कैसे साहचर्य कर सकता है ? वह कौन सी चीज है जो मनुष्य को पूर्वज्ञान की शक्ति प्रदान करती है ?

भविष्यकालीन विषयों और घटनाओं के ये संसर्ग, यद्यपि उनका अनुभव मनुष्य वर्तमान में बिना उद्देश्य के तथा अनजान में करता है, आपही आप विकसित होते हैं और मनुष्य के अपनी स्वप्न अवस्था में नाटक का कर्त्ता होने के कारण अनिवार्य रूप से वहाँ होते हैं।

जैसे ही मनुष्य अपने प्रसुप्त संस्कारों के उभाड़ के द्वारा अपनी स्वप्न अवस्था के नाटक का कर्त्ता बनता है वैसे ही स्वयं उसके प्रसुप्त संस्कारों के इस उभाड़ से ही उसका भूत प्रतिबिम्बित होता है, मानो वह सचमुच ही उसका वर्तमान हो, और तब वह मनुष्य अपने को इस नाटक में फँसा पाकर, अपने भूत को अब भी अपना वर्तमान बनाये हुये अपने भूत में लीन हो जाता है।

इस रीति से मनुष्य, यद्यपि हर समय वर्तमान में रहता हुआ, अनभिप्रायपूर्वक तथा अनजान में अपने भूत को सुरक्षित किये रहता है और उसे अपना वर्तमान बनाये रखता है। किन्तु जब मनुष्य अपना भूत सुरक्षित किये रखता है, तब वह (साथ-साथ कर्त्ता होने के कारण) अपनी स्वप्न अवस्था के नाटक में विषयों के साथ अपने सहज संसर्गों के द्वारा अपनी सृष्टि का समकालिक रक्षक भी बन जाता है। स्वयं ये संसर्ग, यद्यपि अनभिप्रायपूर्वक स्थापित होते हुये, नाटक का सिलसिला बनाये रखते हैं और कर्त्ता को रक्षक की भी भूमिका प्रदान करते हैं।

जोकुछ गुजर चुका है इस सबकी रक्षा करने की प्रत्येक छोटी

क्रिया में, मनुष्य अपने वर्तमान में, अपने भूत के रक्षक के रूप में, अनभिप्रायपूर्वक तथा अनजान में, अपने भूत को अपने वर्तमान के रूप में जो वर्तमान सदैव भूत के भविष्य के रूप में बना रहा था, सुरक्षित रखने की क्रिया के द्वारा साथ-साथ अपने तात्कालिक वर्तमान में भविष्य की स्थापना भी करता है।

उदाहरण के लिये एक मनुष्य को ले लीजिये जो अपने को आज के वर्तमान में जीवन व्यतीत करता हुआ पाता है और जो गुज़रे हुये कल को अपना समस्त भूत समझता है, तथा आगामी कल को अपना सकल भविष्य मानता है।

अब जैसे ही यह मनुष्य यह प्रतिपादन करता है कि वह आज के वर्तमान में जीवन व्यतीत कर रहा है, वैसे ही वह, आज वर्तमान में अपने को जीवित मानने के द्वारा ही, अनभिप्रायपूर्वक तथा अनजान में, गुज़रे हुये कल के उस भूत को न केवल आज के वर्तमान के रूप में सुरक्षित कर देता है वरन् उसको आगामी कल के भविष्य के रूप में भी सुरक्षित कर देता है।

वह मनुष्य, आज के वर्तमान में अपने को जीवित मानता हुआ गत कल के उस भूत की रक्षा करने की प्रत्येक अल्प क्रिया में, अनभिप्रायपूर्वक तथा अनजान में आज के अपने वर्तमान में, इस आज को विगत कल के भविष्य के रूप में भी स्थापित करता है।

यही कारण है कि यद्यपि भूत और भविष्य अपनी निजी स्थिति रखते हैं, फिर भी ये दोनों सतत् और साथ-साथ केवल वर्तमान में सुरक्षित हैं। केवल वर्तमान के कारण ही भूत और भविष्य दोनों को अपने संयोग का बिन्दु सतत् वर्तमान में प्राप्त होता है।

सत् की अनन्तता में कोई काल नहीं है*। उसमें भूत नहीं है और न भविष्य है, केवल नित्य वर्तमान है। इसलिये अनन्तता में कभी कुछ भी घटित नहीं हुआ और न कभी कुछ घटित होगा। यदि कुछ किसी

* अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन का अस्तित्व केवल कल्पना में है, इसलिये काल और देश का अस्तित्व केवल कल्पना में है, अतएव काल का कोई महत्व नहीं है, और तीन भुवनों में से प्रत्येक में वह केवल सापेक्ष माहात्म्य रखता है जो एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र होते हैं। इस प्रकार अन्न भुवन का काल प्राण और मन भुवनों के काल से स्वतन्त्र होता है; प्राण भुवन का काल अन्न और मन भुवनों के काल से स्वतन्त्र होता है; और मन भुवन का काल

तरह से घटित हो रहा है, तो वह सब अनन्त वर्तमान में घटित हो रहा है; क्योंकि वह सब जो प्रत्यक्षतया घटित हो चुका है, वह सब जो प्रत्यक्षतया घटित हो रहा है और वह सब जो मायावी ऐहिक विश्व में सदैव प्रत्यक्षतया घटित होगा, वह सबकुछ है जो ईश्वर पहले ही स्वप्न में उस क्षण देख चुका है जबकि स्वयं उसकी मूल अनन्त लहर "मैं कौन हूँ ?" के रूप में उठी थी। इसलिये, यथार्थ में कुछ भी घटित नहीं हुआ और कभी कुछ भी घटित न होगा।

जब मनुष्य अपनी स्वप्न अवस्था में भूत, वर्तमान और भविष्य तक के रूपों से साहचर्य करता है, तब वह साहचर्य पैदा करने की केवल भूमिकाओं का आविष्कार करता है, फिर उस साहचर्य को सुरक्षित करता है, और अन्ततः उस साहचर्य का नाश कर देता है, जबकि पूरे समय वह प्रतिपादित करता है कि वह अपनी स्वप्न अवस्था के वर्तमान में इन सबका साक्षी है।

सभी सृजित एवं सुरक्षित चीज़ों, जीव-जन्तुओं तथा प्राणियों के सृजन और सुरक्षा के—चाहे वह स्वप्न अवस्था में हो या जागृत अवस्था में हो—इन्हीं आधारों पर ही वर्तमान के प्रत्येक कदम में एक अनिवार्य विनाश सृजित तथा सुरक्षित सकल चीज़ों के भविष्य के रूप में झूमता है।

जिस चीज़ का भी आदि है उसका अनिवार्य अन्त अवश्य होना चाहिये; और सकल सृजित चीज़ों का विनाश अनिवार्यरूप से अवश्यमेव होना चाहिये चाहे, चेतनतया अथवा अचेतनतया भविष्यकाल की प्रत्याशा विनाश के रूप में करते हुये, ऐसी चीज़ों को कितना ही अधिक क्यों न सुरक्षित किया जाय। रक्षा करने की क्रिया में ही, मनुष्य वर्तमान में आपहीआप उन सब चीज़ों का रक्षक बन जाता है जिनका सृजन उसने भूत में किया था। मनुष्य रक्षक बन जाता है, क्योंकि उसे भविष्य का ज्ञान होता है जो निश्चित विनाश के भेस में अटलतया उसके सामने रहता है, और जो विनाश भविष्यकाल के रूप में अपनी अनिवार्य बारी

अन्न और प्राण भुवनों के काल से स्वतन्त्र होता है। स्वप्न सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुये स्थूल चीज़ों के अनुभव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, और हम सबको बताया जा चुका है कि एक लम्बा और पेचीदा स्वप्न किस प्रकार एक असम्भवतया सूक्ष्म क्षण में उस काल्पनिक काल के अन्तर्गत घटित हो सकता है जिस काल की नाप हमारी हाथ की घड़ी की सुइयों की चाल से की जाती है।

की प्रतीक्षा करता है। निःसन्देह, स्वयं मनुष्य को सचमुच यह ज्ञान नहीं होता कि वह भविष्य का ज्ञान रखता है, किन्तु स्वयं यह तथ्य कि वह रक्षक है प्रदर्शित करता है कि वह अवश्य ही विनाश की प्रत्याशा करता होगा; और चूंकि विनाश भविष्यकाल के प्रदेश से सम्बन्धित है इसलिये मनुष्य, भविष्य का ज्ञान रखने का भान न रखते हुये भी, हर समय यह जानता है कि वह वर्तमान में रक्षक का पार्ट अदा करने में तत्पर है।

सृष्टा बनने की क्रिया ही में, सकल सृजित चीज़ों का संरक्षण पीछे लगा आता है और सृष्टा को उसके साथ-साथ बलात् रक्षक का पार्ट अदा करना पड़ता है। साथ ही साथ, रक्षक बनने की क्रिया ही में, सकल संरक्षित चीज़ों के विनाश की प्रत्याशा की जाती है। इसलिये, जान में अथवा अनजान में, सकल चीज़ों की रक्षा की जाती है, और इसलिये संरक्षक, अनिवार्य विनाश की प्रत्याशा करता हुआ, सकल सृजित एवं संरक्षित चीज़ों के भविष्य की स्थापना वर्तमान में करता है।

अपनी मूल अनन्त दैवी स्वप्न अवस्था में ईश्वर एक ही समय कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता के तीनों पार्ट शाश्वतः अदा करता है।

जब ईश्वर अपनी ही अनन्त प्रकृति की रक्षा करने की प्रक्रिया में होता है, तो वह उसी समय पहले से ही भविष्य में होता है, और जोकुछ उसने रचा था उसकी रक्षा करने से, जो बीत चुका है, उसके सामने उसके सनातन वर्तमान तक में भविष्य निश्चितरूप से स्थापित हो जाता है, जो भविष्य भूत में सृजित तथा वर्तमान में संरक्षित उसकी सकल सृष्टि का विनाश कर देगा। इसलिये ईश्वर, सर्वज्ञ तथा शाश्वतः वर्तमान का होने के कारण, भूत का ज्ञान रखता है जिसे वह वर्तमान के रूप में नित्य सुरक्षित रखता है; और साथ-साथ वह अपने शाश्वत वर्तमान में, आगे से भविष्य के सकल का अनुभव भी निरन्तर करता है।

इसी प्रकार से, मानव अवस्था में ईश्वर, मनुष्यवत्, हर समय अपनी स्वप्न अवस्था में अनजान में वह देखता है जिसका अनुभव उसको उसकी जागृत अवस्था के भविष्य में भी होगा। इस प्रकार मनुष्य को मालूम होता है कि उसको कभी-कभी ऐसी चीज़ों का पूर्वज्ञान प्राप्त होता है जो समय गुज़रने के बाद घटित होती हैं।

सारांश यह है कि :—सृजन की क्रिया ही में, संरक्षण और विनाश की क्रियायें भी विद्यमान होती हैं; इसलिये, माया का सृजन

करने के द्वारा ईश्वर साथ ही साथ, मानो उसका संरक्षण और विनाश भी करता है।

इसलिये यथार्थं में किसी चीज़ की सृष्टि नहीं होती जो संरक्षित और नष्ट होने के लिये रहती हो, क्योंकि रचित सृष्टि शून्य की होती है, और इस शून्य का वास्तव में अर्थ है सर्वथा बिल्कुल कुछनहीं।

यद्यपि यह शून्य वास्तव में बिल्कुल कुछ नहीं है, फिर भी जब यह कहा जाता है कि शून्य का सृजन ब्रह्मा करता है, संरक्षण विष्णु करता है और संहार महेश अथवा शिव करता है, तो यह कथन केवल अनन्त माया की भाषा में किया जाता है, अर्थात् ईश्वर के मायावी विश्व—ब्रह्माण्ड‡—से सम्बन्धित अपार दैवी स्वप्न अवस्था की भाषा में किया जाता है।

सत्यता की अनन्तता में रचना, संरक्षण अथवा विनाश जैसी कोई चीज़ नहीं है, न उसमें देश (*Space*) है, और न उसमें सापेक्षता के लिये कोई गुन्जाइश है, और उससे भी बहुत कम उसमें काल के, भूत, वर्तमान और भविष्य जैसे, परस्पर सम्बद्ध खण्डों का कभी कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

सत्यता की अनन्तता में, एक, अपार, सनातन, सर्व-व्यापक सत् है।

संक्षेप में, जब किसी मनुष्य की चेतना उसको शून्य के संस्कारों का अनुभव अन्तर-चेतना द्वारा कराती है, तब यह कहा जाता है कि वह मनुष्य स्वप्न देख रहा है। जब मनुष्य की चेतना उसको उसी शून्य के संस्कारों का अनुभव पूर्ण चेतनतया अत्यधिक सत्यरूप में कराती है, तब यह कहा जाता है कि वह स्वप्न के अन्दर एक और स्वप्न देख रहा है, अथवा वह स्वप्न के अन्दर एक खाली स्वप्न देख रहा है, और वह शून्य में शून्य का अनुभव कर रहा है। इसलिये यह कथन अत्यन्त उपयुक्त है कि दुनियाँ और उसके कार्य शून्य के अन्दर शून्य हैं—स्वप्न के अन्दर स्वप्न हैं। इसका यह अर्थ है कि ईश्वर मानव अवस्था में मनुष्य के जीवन का अनुभव दैवी स्वप्न के अन्दर एक खाली स्वप्न के रूप में करता है,

‡ तीन पहलुओं में—"कर्त्ता", "भर्त्ता" और "हर्त्ता" में—भर्त्ता अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि 'वर्तमान' जो भूत को और भविष्य को धारण करता है अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसलिये, "परवरदिगार [विष्णु]"—अर्थात् भर्त्ता—ईश्वर का अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है।

जिसका अर्थ है सृष्टि। अथवा, दूसरे शब्दों में, मनुष्य का जीवन ईश्वर का केवल एक और स्वप्न है जो ईश्वर अपने दैवी स्वप्न अथवा सृष्टि के अन्तर्गत देखता है।

यद्यपि ईश्वर ने मानव अवस्था में पूर्ण चेतना प्राप्त कर ली है और वह शून्यता की मिथ्या अपारता के विविध संस्कारों का मिथ्या अनुभव, स्थूल जगत की सत्यता के रूप में, करता है, तथापि यह पूर्ण चेतना और ये असंख्य संस्कार सब लीन हो जाते हैं अथवा निकल जाते हैं-जिस समय ईश्वर मानव अवस्था में गहरी निद्रा अवस्था में हो जाता है, और दैवी गहरी निद्रा की अपनी मूल दैवी अवस्था का दृढ़ प्रतिपादन परोक्षरूप से करता है। जब ईश्वर मानव अवस्था में प्रतिदिन अपनी गहरी निद्रा अवस्था से पूर्णतया जागता है, तो पूर्ण चेतना जो गहरी निद्रा के समय प्रसुप्त पड़ी रही थी तथा असंख्य संस्कार जो गहरी निद्रा में लुप्त हो गये थे (अर्थात् अदृश्य और अनुभव के बाहर हो गये थे) सबके सब अब उभड़ कर बाहर आते हैं और पुनः परिमित शून्य के मिथ्या अनुभव पैदा करके उसको यथार्थ और अपरिमित शून्यता के रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

बारी-बारी से आने वाली गहरी निद्रा और जागृत अवस्थाओं में चेतना तथा संस्कारों के बारी-बारी से होने वाले अन्तर्निधान एवं उभाड़ की यह अनन्त शृङ्खला तब तक जारी रहती है जब तक कि अन्ततः सकल संस्कार चेतना के पुनर्जन्म और प्रतिवर्धन की प्रक्रिया में विपरीत संस्कारों का अनुभव करने के द्वारा पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाते। तब इस प्रकार केवल संस्काररहित चेतना ही ईश्वर को उसकी मूल, शाश्वत, अनन्त, यथार्थ ईश-अवस्था का चेतन अनुभव प्रदान करने के लिये रह जाती है।

चूंकि ईश्वर को मनुष्य-योनि के द्वारा अनिवार्यरूप से पूर्ण एवं संस्कार-शून्य चेतना प्राप्त होती है, इसलिये मनुष्य की विभिन्न अवस्थायें ईश्वर की विभिन्न अवस्थाओं से तुलना करने के लिये उदाहरण स्वरूप ली जा सकती हैं।

मानव अवस्था में ईश्वर की गहरी निद्रा अवस्था न केवल ईश्वर की दैवी गम्भीर निद्रा के सदृश है वरन् वह ईश्वर-है की परात्पर परब्रह्म

अवस्था में, जहाँ कि अनन्त, पूर्ण शून्यता व्याप्त रहती है†, शब्दशः ईश्वर की वही मूल दैवी गम्भीर निद्रा अवस्था है।

जब मनुष्य गहरी निद्रा अवस्था में हो जाता है, तो उसमें निपट रिक्तता, और चेतना का पूर्ण अभाव व्याप्त होते हैं, और यद्यपि मनुष्य में "आत्मा" (*Self*) सामान्यतः श्वास लेती रहती है, तथापि मनुष्य की उस "आत्मा" में उसके सीमित "मैं" अथवा अहं की चेतना नहीं होती, और न उसमें सीमित मन, प्राण, शरीर अथवा जगत की चेतना होती है। मनुष्य के अन्तर्गत आत्मा को स्वयं अपने अस्तित्व की भी चेतना नहीं होती। संक्षेप में, मनुष्य की गहरी निद्रा अवस्था में "आत्मा-है" और चेतना "नहीं-है"।

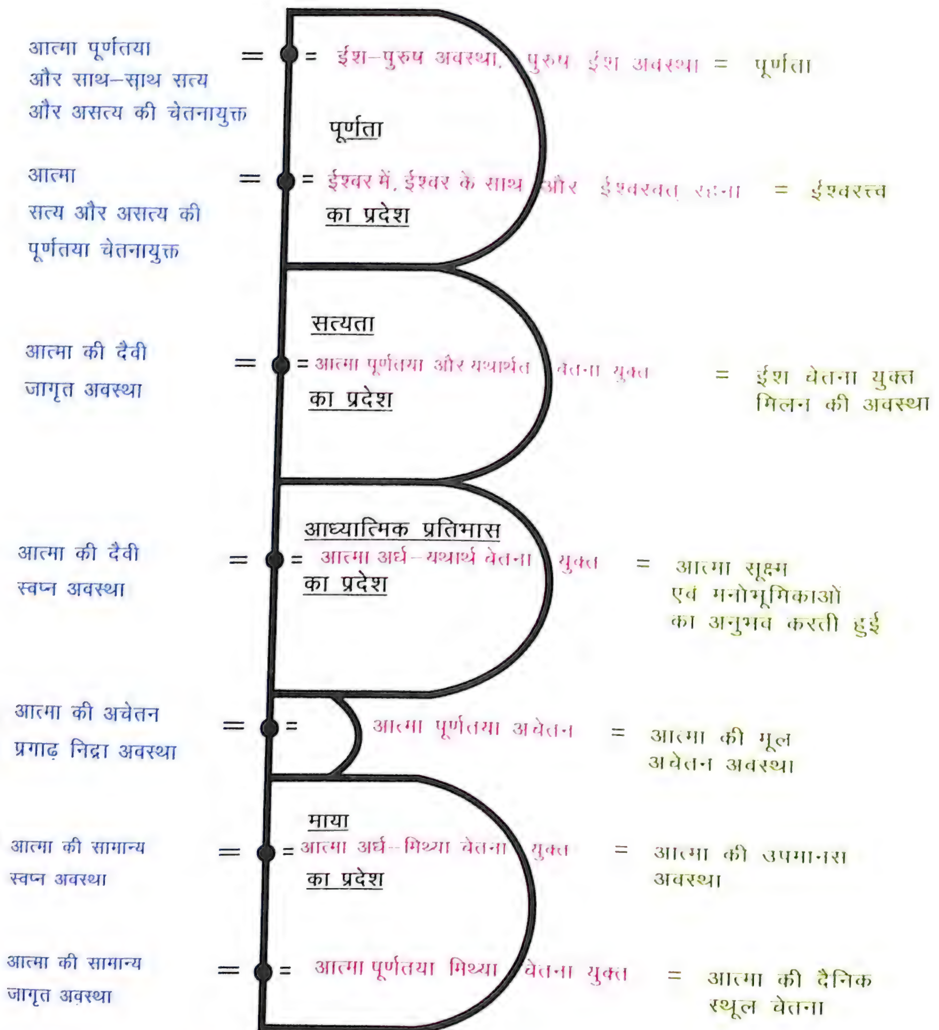
जिस समय मनुष्य अपनी गहरी निद्रा अवस्था से प्रतिदिन जागता है, वह सामान्यतः किसी कारण से जागृत नहीं होता सिवाय इसके कि स्वयं उसकी ही संस्कारों की प्रसुप्त चेतना उसकी आन्तरिक चेतना को प्रेरित अथवा उत्तेजित करती है जिससे वह चेतना को उभाड़े और प्रसुप्त

† ईश्वर-साक्षात्कार और गम्भीर निद्रा के बीच गहरा तथा बहुत वास्तविक सम्बन्ध है। आत्मा की सनातन अभिलाषा ईश्वर से ऐक्य प्राप्त करने के लिये होती है, किन्तु चूंकि चेतना स्थूल जगत से अपना लगाव कर लेती है इसलिये आत्मा केवल स्थूल जगत से अपना ऐक्य करती हुई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये, पाषाण अवस्था में स्थूल चेतना आत्मा को पत्थर से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त करती है यद्यपि वास्तव में हर समय आत्मा का ऐक्य ईश्वर से रहता है। इसको और स्पष्ट करने के लिये, मान लीजिये कि आप अफ़ीम खाते हैं अथवा कोई नशा पीते हैं। उससे आप उत्तेजित अथवा खिन्न चित्त होते हैं, यद्यपि आपके शरीर में कोई आमूल परिवर्तन नहीं होता, और उससे केवल आपकी चेतना प्रभावित होती है और आपकी भावनाओं को उत्पन्न करती है। इस प्रकार आप, व्यक्तिगत आत्मा के रूप में, चौबीसों-घन्टे ईश्वर के अन्तर्गत हैं तथा उसके साथ-एक हैं, यद्यपि आपको केवल स्थूल चेतना की अनुभूति होती है।

पुनः, मान लीजिये कि आपको थकान तथा अकबकाई मालूम पड़ती है और आप सो जाते हैं। आप यह क्या करने का प्रयत्न कर रहे हैं ? यह और कुछ नहीं है, केवल ईश्वर में—अपनी स्वाभाविक एवं अन्तर्वर्ती अवस्था में—आश्रय लेने का प्रयत्न है। इसलिये कुछ समय के लिये गहरी निद्रा अवस्था में प्रवेश करके परमात्मा में आश्रय लेने की यह चेतन अथवा अचेतन प्रवृत्ति अखिल सृष्टि में विद्यमान है।

यथार्थ जागृति

चार्ट-३



एक समूचे जीवन के दौरान, चेतना के विकास के प्रारम्भ से लेकर चेतना के प्रतिवर्धन के अन्त तक, तमाम मृत्युयें एक जीवन काल के दौरान,तमाम निद्राओं के समान हैं ।

✡ ✡ ✡

वह मनुष्य जो खुद के लिये जीवित रहता है यथार्थ में मुर्दा है और जो मनुष्य ईश्वर के लिये मरता है यथार्थ में जीवित है ।

मेहेर बाबा

संस्कारों का अनुभव करे जो गहरी निद्रा में प्रत्यक्षतया लुप्त हो जाते हैं। इसलिये जैसे ही मनुष्य जागता है, वैसे ही उसको अनिवार्यरूप से तथा साथ-साथ पहले उसके पास-पड़ोस की चेतना प्राप्त होती है और फिर क्रमशः खुद उसकी "खुदी" की तथा उस खुदी के सकल साजो-सामान की—अर्थात् सीमित "मैं", मन, प्राण, शरीर और जगत की—चेतना प्राप्त होती है।

इसी प्रकार से, मूल दैवी गम्भीर निद्रा अवस्था में स्थित ईश्वर को अपार, मूल रिक्तता से जागृत करने के लिये यथार्थ हेतु—मूल हेतु—नितान्त स्वाधीन ईश्वर की मूल, अनन्त लहर ही थी और उसके अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ, युक्ति तथा कारण न था।

जिस प्रकार किसी मनुष्य को, जो अपनी गहरी निद्रा अवस्था* से जागता है, पहले अनिवार्यरूप से स्वप्न की अवस्था से गुज़रना पड़ता है और फिर स्वप्न की अर्ध-चेतन अवस्था के बाद (जो स्वप्न लम्बे समय तक टिक सकता है अथवा केवल एक क्षण रह सकता है) पूर्ण चेतना प्राप्त करके पूर्णतया जागृत होना पड़ता है, उसी प्रकार "ईश्वर-है" अवस्था में स्थित ईश्वर की भी स्थिति होती है। अपनी मूल दैवी गम्भीर निद्रा अवस्था से पूर्णतया जागने के पहले, ईश्वर अनिवार्यरूप से दैवी अर्ध-चेतन अवस्था का अनुभव करता है जो दैवी स्वप्न अवस्था अथवा विधाता अवस्था है।

मूल, अनन्त लहर ने, हेतु के रूप में, ईश्वर में अत्यन्त-परिमित चेतना की प्रथम धारा का आविर्भाव किया। इस अत्यन्त-परिमित चेतना ने ईश्वर को, जो अब अर्ध-चेतन अवस्था में था, अन्तर-चेतना के द्वारा अन्तर्हित शून्य के अत्यन्त-परिमित संस्कार का अनुभव कराया, जो शून्य भी शून्यता के रूप में अभिव्यक्त हो गया था। शून्यता के अत्यन्त-परिमित प्रथम संस्कार के इस अनुभव ने "दैवी स्वप्न" का—अर्थात् विश्व की रचना का—प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार ईश्वर-है अवस्था के अन्दर चेतना की इस प्रथम धारा ने ईश्वर को दैवी अन्तर-चेतना से भर दिया जिसने बदले में ईश्वर को दैवी अर्ध-चेतन अवस्था प्रदान की जो दैवी गम्भीर निंद्रा अवस्था में था। इस दैवी अर्ध-चेतन अवस्था में, ईश्वर दिव्यरूप से स्वप्न देखता है और

---

* पृष्ठ १११ के सामने लगे चार्ट "यथार्थ जागृति" को देखिये।

दैवी स्वप्न, अथवा सृष्टि, का अनुभव, यथार्थ दैवी जागरण अवस्था के बहुत पहले करता है, जो अवस्था, उसको पूर्णतया जागृत करके, उसे ईश्वर का अनुभव प्रदान करेगी जो अपनी अनन्त, अपार, और असीमित दैवी प्रकृति की पूर्ण चेतना से सम्पन्न होगा।

ईश्वर की यह दैवी अन्तर-चेतना भी शून्य से निकली थी जो शून्य सबकुछ की ईश्वर-है अवस्था में अन्तर्हित था, और इसका उभाड़ अनिवार्यरूप से सृष्टि बिन्दु, अथवा ॐ बिन्दु, से होकर सबकुछ की मूल निपट शून्यता में हुआ था।

मूल निपट रिक्तता के अन्दर सृष्टि बिन्दु से होकर निकली हुई, ईश्वर की दैवी अन्तर-चेतना के उभाड़ की तरंगों ने, ईश्वर की दैवी गहरी निद्रा अवस्था में मन्थन पैदा कर दिया और ईश्वर की मूल श्वास, अथवा मूल शब्द—ब्रह्म नाद—का आविर्भाव किया तथा साथ-साथ देश, काल और ब्रह्माण्ड का आविर्भाव, उसके सकल साजो-सामान, अर्थात् सीमित एवं परिमित अहं, मन, प्राणशक्ति तथा व्यक्तिगत और बहुविध योनियों, सहित किया।

जैसे ही दैवी स्वप्न अवस्था में ईश्वर की अपार दैवी अन्तर-चेतना का उभाड़ गतिशील होता है वैसे ही दैवी स्वप्न, अथवा सृष्टि, का विकास प्रारम्भ हो जाता है, और ईश्वर दैवी अर्ध-चेतन अवस्था में न केवल दैवी स्वप्न का अनुभव करने लगता है वरन् साथ-साथ वह, उन सब चीज़ों से जिनको वह जगद् विकास के क्षेत्र में अनुभव करता है अपना तादात्म्य एवं साहचर्य करके, अपने दैवी स्वप्न में ग्रस्त हो जाता है।

जब ईश्वर की अनन्त दैवी अन्तर-चेतना सृष्टि बिन्दु से होकर निपट रिक्तता में अपारतया उभड़ आती है, तब अखिल सृष्टि का उभाड़ क्रमशः होता है और वह दैवी अन्तर-चेतना के उभाड़ की प्रचण्डता के अनुसार आकार, शक्ल, शरीर, रंग, इत्यादि में विकसित होती है।

इस स्थिति पर ईश्वर, दैवी गहरी निद्रा की परात्पर परब्रह्म अवस्था में, दैवी अपार अन्तर-चेतना का, जो ईश्वर में प्रसुप्त थी, पूर्ण उभाड़ हो जाने के बाद भी, तत्क्षण ही दैवी गहरी निद्रा से जागता है—पूर्णतया नहीं वरन् अर्ध-चेतनापूर्वक।

अब ईश्वर, अधिकतर विकसित दैवी अर्ध-चेतन अवस्था में होने के कारण, अधिक प्रबलता के साथ दैवी स्वप्न का अनुभव करता है और अपनी उसी सृष्टि के साथ अधिक प्रगाढ़तया अपना तादात्म्य तथा

साहचर्य भी करता है।

क्रमश:, यद्यपि अब अधिक प्रबलतया, ईश्वर अपने को जगद्विकास में सबकुछ के रूप में अनुभव करता है और अपना तादात्म्य विश्वों, पवनों, जड़ और चेतन प्राणियों से करता है—जैसे पत्थर, धातुयें, वनस्पति, पक्षी, कृमि-कीट, मछलियाँ, पशु और मनुष्य। इस प्रकार ईश्वर अपने प्रथम शब्द "मैं कौन हूँ ?" के प्रत्यक्षतया यथार्थ, किन्तु यथार्थतया मिथ्या, उत्तर पाता है, जैसे—"मैं पत्थर हूँ", "मैं धातु हूँ", इत्यादि, और अन्ततः उसको उत्तर प्राप्त होते हैं "मैं पुरुष हूँ", "मैं स्त्री हूँ"।

जब ईश्वर अपनी एकरूपता मानव प्राणियों से करता है, तो वह अर्ध-चेतन नहीं रहता; क्योंकि दैवी स्वप्न अवस्था के अन्दर इस स्थिति पर, जैसे ही ईश्वर अपनी एकरूपता मानव योनि से करता है वैसे ही उसको पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है।

अब पूर्ण चेतना प्राप्त हो चुकने पर, इस चेतना को सकल स्वप्न हटा देने चाहिये, और ईश्वर को ईश्वर होने की अनुभूति प्रदान करके, उसको यथार्थ जागृत अवस्था का अनुभव कराना चाहिये। इस स्थिति पर, यद्यपि ईश्वर मानव प्राणियों से अपनी एकरूपता करता है और, यद्यपि ईश्वर अब, महानतम चेतना‡ के भाव सहित, पूर्णतया चैतन्य होता है, तथापि ईश्वर को अपनी यथार्थ, दैवी जागृत अवस्था की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि अब तक प्राप्त हुई पूर्ण चेतना शून्य की शून्यता को होती है जो अन्तर्हित था और जो अब खुद ईश्वर की दैवी अपार अन्तर-चेतना के उभाड़ के द्वारा सबकुछ के रूप में प्रत्यक्षतया प्रकट हो गया है। इससे ईश्वर यथार्थ सबकुछ के रूप में खुद की चेतना तथा ईश्वरवत् अपने स्वरूप की चेतना प्राप्त करने की बजाय अपनी आविर्भूत सृष्टि से अपनी एकरूपता करने में प्रवृत्त होता है।

संक्षेप में, यह वह स्थिति है जिसमें कि ईश्वर, मानव प्राणियों से पूर्ण चेतनतया अपना तादात्म्य किये हुये, अब भी ईश्वर-है की अपनी यथार्थ एवं मूल अवस्था को भूला रहता है।

---

‡ मनुष्य योनि प्राप्त होने के पहले चेतना होती है किन्तु भान नहीं होता। गम्भीर निद्रा में न तो चेतना होती है न भान होता है। छठी भूमिका तक भान रहता है। सातवीं भूमिका में केवल चेतना होती है।

पूर्ण चेतना की इस अवस्था में भी ईश्वर अब भी अपनी ही सृष्टि की दुनियाँ का अनुभव करता रहता है, और महानतम भान के सहित वह उसी समय मानव प्राणियों से अपनी एकरूपता किये रहता है, और इस प्रकार संस्कारों की प्रबलता के अनुसार, जो स्वभाव में विपरीत होते हैं, वह कभी अपने को मनुष्य पाता है और कभी स्त्री के रूप में पाता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर मानव अवस्था में, यद्यपि भरपूर चेतना तथा पूर्ण भान रखते हुये, अपने को ईश्वर-है अवस्था में स्थित ईश्वर के रूप में अनुभव नहीं करता वरन् मानव अवस्था में स्थित मानव के रूप में, अपरिमित रूप में नहीं वरन् परिमित रूप में, अनुभव करता है।

असत्य भासित होने वाली दुःखद बात यह है कि यथार्थ ईश्वर अब माया में अपनी यथार्थता को खो चुकने के कारण तथा सत्यता का अनुभव करने में स्वयं अपनी ही सत्यता को बाधक बना देने के कारण, मिथ्या सृष्टि को यथार्थवत् पाता है।

इस हेतु कि मनुष्य-में-स्थित-ईश्वर अपने को सत्यता-में-स्थित-ईश्वर के रूप में अनुभव करे, ईश्वर की पूर्ण चेतना के उभाड़ को, जो कि अब मनुष्य में आरोपित है, इस प्रकार अन्तर्मुखी करना चाहिये कि वही पूर्ण चेतना, जो बहिर्मुखी रहने के काल में ईश्वर की एकरूपता मनुष्यवत् किये रही थी, अब ईश्वर का तादात्म्य ईश्वर के रूप में करे। यह ईश्वर अवस्था का साक्षात्कार है और यह साक्षात्कार दैवी लक्ष्य है और केवल यही दैवी स्वप्न का अन्त करता है।

दैवी लक्ष्य की प्राप्ति का यह अर्थ होगा कि इस स्थिति पर मानव-स्थित-ईश्वर को, चेतना के प्रतिवर्धन की क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा, अन्ततः पूर्ण शून्यता की उस मूल दैवी गहरी निद्रा अवस्था की अन्तर-गमन-समाप्ति *(Passing-away-in)* का अनुभव प्राप्त हो और साथ-साथ उसको पूर्ण चेतना बनी रहे जो उसको प्राप्त हो चुकी है। इस प्रकार ईश्वर अपनी शाश्वत "मैं-ईश्वर-हूँ" अवस्था का साक्षात्कार चेतनतया करने में समर्थ होगा। तब, अपनी मूल अवस्था चेतनतया प्राप्त कर लेने पर, ईश्वर अपने ही दैवी सनातन सत् का अनुभव करेगा और अपनी ही दैवी प्रकृति का अनुभव करेगा जो सबकुछ है—अनन्त और यथार्थ है; और इस प्रकार आखिरकार वह अपने प्रथम शब्द अथवा प्रश्न "मैं कौन हूँ ?", का यथार्थ उत्तर पावेगा, "मैं ईश्वर हूँ"।

इसे और भी स्पष्ट करने के लिये, विकसित पूर्ण चेतना सहित

दैवी लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु, मानवी-चेतनायुक्त ईश्वर, पुनर्जन्म की प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त हुये और अधिक अनुभवों के माध्यम से, पहले ही उभड़ चुकी पूर्ण चेतना को खुद अपनी ओर भीतर की तरफ समेटने का प्रयत्न करता है, जो पूर्ण चेतना उसको उस क्षण प्राप्त हुई थी जिस क्षण उसने अपने दैवी स्वप्न (सृष्टि) के अन्तर्गत प्रथम मनुष्य-योनि से अपनी एकरूपता की थी।

जैसे ही दैवी स्वप्न के अन्त के प्रारम्भ की यह स्थिति आती है, वैसे ही ईश्वर की पूर्ण चेतना जो मनुष्य-योनि में मिथ्या जागृत अवस्था का अनुभव करती है, इस पूर्णतया विकसित चेतना को, जिसका उभाड़ स्वयं ईश्वर की ओर अन्तर्मुख होने की अपेक्षा ब्रह्माण्ड के अन्दर सकल चीजों की ओर बहिर्मुख हो रहा है, प्रतिवर्धन की प्रक्रिया के द्वारा भीतर की ओर ईश्वर तक समेटने का भरसक प्रयत्न करती है।

उन विविध स्थितियों का वर्णन करने के लिये जिनके द्वारा कि अपनी मूल गम्भीर निद्रा अवस्था में स्थित ईश्वर की पूर्ण अचेतना ने चेतना की विकास प्रक्रिया से होकर क्रमशः पूर्ण चेतना का उभाड़ किया, और उभड़ी हुई चेतना किस प्रकार, असंख्य पुनर्जन्मों के बाद, "मैं-ईश्वर-हूँ" की यथार्थ दैवी जागृत अवस्था का वस्तुतः अनुभव करने के पूर्व, अन्ततः चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया द्वारा अन्दर की ओर सिमिट गई थी, हम विभिन्न स्थितियों को क्रम-क्रम से देखें, और ईश्वर की चेतना में क्रमिक प्राप्ति की प्रत्येक स्थिति की तुलना सामान्यतः चेतन मनुष्य की सापेक्ष अवस्थाओं से करें जो मनुष्य पहले गम्भीर निद्रा में है और जो तदनन्तर पर्याप्त चेतना प्राप्त करके अन्ततः अपनी साधारण जागृत-अवस्था का अनुभव प्रतिदिन करता है।

प्रथम स्थिति

एक आदमी की कल्पना कीजिये जिसके नेत्र बिल्कुल बन्द हों और जो गहरी निद्रा में हो। यह मनुष्य पूर्णतया अचैतन्य है और उसको अपने सकल पास-पड़ोस की विस्मृति है। अब साथ-साथ ईश्वर की मूल दैवी गहरी निद्रा अवस्था की कल्पना कीजिये जैसाकि वह ईश्वर-है अवस्था की मूल निपट शून्यता में है। दोनों दशाओं में, अर्थात् ईश्वर की निराकार अवस्था तथा पुरुष अथवा स्त्री के रूप में ईश्वर की मानव-योनि अवस्था दोनों में, चेतना का पूर्ण अभाव है, और दोनों दशाओं में

निपट शून्यता व्याप्त है। उसी समय, दोनों दशाओं में चेतना के पूर्ण अभाव की कल्पना भी गहरी निद्रा में स्थित मनुष्य के पूर्णतया बन्द नेत्रों से तुलना के रूप में कीजिये।

द्वितीय स्थिति

उस आदमी की अगली स्थिति की कल्पना कीजिये जैसे वह अब भी सो रहा हो लेकिन अपनी आँखें बहुत तनिक, तनिक खोलनी शुरू कर रहा हो, क्योंकि अभी-अभी ही उसकी गहरी नींद की अवस्था में हलचल पैदा हो गई है और निपट शून्यता की उसकी निमग्नता अन्तःस्थित संस्कारों के उभाड़ से छिन्न-भिन्न हो गई है जो संस्कार उस मनुष्य की आन्तरिक चेतना के द्वारा, जो उसकी गहरी निद्रा अवस्था में भी उसमें सुसुप्त पड़ी थी, अब उभड़ना शुरू हो रहे हैं। इस मनुष्य की आन्तरिक चेतना के द्वारा विविध संस्कारों का उभाड़ होने के कारण, अब वह स्वप्नों का अनुभव करने लगता है जबकि वह अब भी सोया हुआ है, यद्यपि अब वह गहरी नींद की अवस्था में नहीं है, क्योंकि अब उसमें निपट शून्यता नहीं रही। उस आदमी के लिये सपनों का अनुभव करना प्रारम्भ करने का अर्थ यह है कि अर्द्ध-चैतन्य अवस्था की अपनी प्रारम्भिक स्थिति में वह अपनी आन्तरिक चेतना के माध्यम से उप-सूक्ष्म रूपों में शून्यता के सुसुप्त संस्कारों का अनुभव करने लगता है। वह आदमी अब न केवल अर्द्ध-चैतन्य अवस्था की प्रारम्भिक स्थिति में है और न वह केवल सपनों का अनुभव करना शुरू कर रहा है, वरन् वह साथ-साथ खुद अपने पैदा किये हुये जीवधारियों के उप-सूक्ष्म रूपों से साहचर्य करना प्रारम्भ करता हुआ सपनों में फँसना भी प्रारम्भ कर रहा है। इस प्रकार संस्कारों का उभाड़, जो मनुष्य की आन्तरिक चेतना में सुसुप्त पड़े थे, उस आदमी से उसके सपनों के ड्रामा में उससे मुख्य अभिनेता अथवा निर्माता का पार्ट अदा कराता है। क्योंकि यह आदमी इस स्वप्न अवस्था में अभी-अभी केवल अपनी गहरी नींद से उठका है और उसने अभी-अभी अर्द्ध-चैतन्य अवस्था पाई है, इसलिये सपनों का अनुभव करते हुये इस आदमी की कल्पना उस आदमी के रूप में कीजिये जो अब अपनी आँखें बहुत तनिक, तनिक खोलना शुरू कर रहा है। उसकी आँखें खुलने का प्रारम्भ चेतना के प्रथम चिन्ह के आगमन से मिलता जुलता है जो मनुष्य में आन्तरिक चेतना के रूप में प्रगट हुई है।

तुलना के रूप में मनुष्य की इस अवस्था की कल्पना करते समय, उसी प्रकार परमात्मा की उस अवस्था की कल्पना कीजिये जिसमें उसकी मूल ईश्वरीय गहरी-निद्रा अवस्था में अभी-अभी हलचल पैदा हुई है। अब परमात्मा केवल ईश्वरीय स्वप्न अवस्था का, अथवा **विधाता** अवस्था का, अनुभव करना शुरू करता है, जैसे ही **शून्यता** का प्रथम अत्यन्त-सीमित संस्कार परमात्मा की दिव्य आन्तरिक चेतना के माध्यम से उभड़ता है। ये दोनों चीजें—अर्थात् शून्यता और परमात्मा की दिव्य आन्तरिक-चेतना—**सबकुछ** स्वरूप परमात्मा की मूल अवस्था में **शून्य** के रूप में सुसुप्त थीं। अब ईश्वरीय अर्द्ध-चेतन अवस्था की प्रारम्भिक स्थिति में, परमात्मा अपनी एकरूपता खुद अपनी सृष्टि के प्राणियों से तत्क्षण करने लगता है (यानी खुद अपने दिव्य स्वप्न से करने लगता है) और ऐसा वह अपार दिव्य आन्तरिक चेतना के माध्यम से करता है जो बिल्कुल अभी ही सृष्टि का उभार करने लगती है, यानी **शून्यता** के संस्कारों का आविर्भाव करने लगती है।

तीसरी स्थिति

उस आदमी की तीसरी अवस्था की कल्पना कीजिये जैसे वह अब भी सोया हो किन्तु आधे खुले नेत्रों से सो रहा हो, क्योंकि इस अवस्था में मनुष्य अब अर्द्ध-चेतन अवस्था का अनुभव पूरेतौर से करता है। अब भी सोते हुये आदमी की इस पूर्ण अर्द्ध-चेतन अवस्था की कल्पना करने के लिये, उसकी ऐसी कल्पना करते रहिये जैसे उसकी आँखें बहुत, बहुत तनिक खुली हों, जो अर्द्ध-चेतन अवस्था के प्रारम्भ की द्योतक हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, इस अवस्था में वह शून्यता के मिथ्या, मायावी संस्कारों के कारण स्वप्न का अनुभव करने लगता है, जो संस्कार आन्तरिक-चेतना में सञ्चित हो गये थे और अब आन्तरिक-चेतना के उभाड़ के द्वारा बाहर निकल रहे हैं, और मनुष्य की स्वप्न अवस्था के प्रारम्भ को जन्म दे रहे हैं। लेकिन, जैसे जैसे स्वप्न जारी रहते हैं, और जैसे जैसे उनको मनुष्य की आन्तरिक चेतना के माध्यम से बहुमुखी तथा नानाविध सुसुप्त संस्कारों के उभाड़ की प्रचण्डता के कारण वेग प्राप्त होता है, वैसे वैसे मनुष्य अवचेतन रूप से अधिक और अधिक फँसता जाता है। इसके फलस्वरूप वह अब स्वप्नों के

अन्तर्गत खुद पैदा किये प्राणियों के साथ अपना दृढ़ संसर्ग करता है और वह पूरेतौर से अर्द्ध-चेतन अवस्था में होता है। मनुष्य की यह अर्द्ध-चैतन्य अवस्था वह अवस्था प्रदर्शित करती है जो न तो चेतना से रहित पूर्ण गहरी निद्रा अवस्था है और न पूर्ण-चेतना सहित पूर्ण जागृत अवस्था है। यों कहा जा सकता है, कि यह अवस्था अर्द्ध-जागृत अवस्था है। अब उस आदमी की इस तीसरी अवस्था की कल्पना कीजिये जैसे वह अर्द्ध-चेतना की अवस्था हो जिसमें आधी आँखें खुली हों और जिसमें मनुष्य स्वप्नों का अनुभव अधिक ज़ोर से और अधिक एकाग्रता के साथ कर रहा हो।

मनुष्य की इस अवस्था की कल्पना करते हुये, तुलना के रूप में दिव्य स्वप्न के अन्दर परमात्मा की उस अवस्था की कल्पना कीजिये जहाँ परमात्मा एक अर्द्ध-चैतन्य अवस्था का अनुभव कर रहा है। इस स्थिति पर, परमात्मा सृष्टि के कर्त्ता के रूप में अपार, दिव्य अर्द्ध-चैतन्य अवस्था के द्वारा कर्त्ता अवस्था का अनुभव करता है। इस स्थल पर अपार दिव्य आन्तरिक-चेतना, सृष्टि का घना आविर्भाव करती हुई, खुद परमात्मा की सृष्टि के प्राणियों के साथ परमात्मा की एकरूपता की निरन्तर पुष्टि करती है। इससे परमात्मा के दिव्य स्वप्न के अन्तर्गत अधिक ज़ोरदार किस्म के अनन्त अनुभवों को जन्म मिलता है, जबकि परमात्मा अपनेआप को अपनी सृष्टि के प्राणियों के रूप में यथार्थतः पाता है।

चौथी स्थिति

उस आदमी की चौथी अवस्था की कल्पना कीजिये जिसमें वह अब भी सो रहा हो लेकिन जो अब भी अपनी स्वप्न अवस्था में रहता हुआ आन्तरिक-चेतना के माध्यम से होते हुये अधिक और अधिक संस्कारों के उभाड़ की अधिक और अधिक प्रगाढ़ता के अनुसार अपने पहले से ही आधे-खुले नेत्रों को धीरे-धीरे और अधिक खोलने का प्रयत्न कर रहा हो। इस स्थल पर वह मनुष्य न केवल अर्द्ध-चैतन्य अवस्था में है बल्कि वह पूर्ण चैतन्य होने के किनारे पर आ रहा है, और वह अपनी जागृत अवस्था का अनुभव करने के निकट है।

अब इसके समानान्तर, परमात्मा की उस अवस्था की भी कल्पना कीजिये जिसमें वह अपनी दिव्य स्वप्न अवस्था की चौथी स्थिति में है।

अर्द्ध-चेतन अवस्था में निमग्न उस आदमी की चौथी अवस्था की तुलना परमात्मा की दिव्य स्वप्न अवस्था के अन्तर्गत एक बहुत ही नाज़ुक स्थिति से कीजिये। यहाँ अपार संस्कारों का उभाड़, परमात्मा की अपार दिव्य आन्तरिक-चेतना के माध्यम से, परमात्मा की चेतना के ऐहिक विकास के दौरान में इतना अधिक प्रगाढ़ होता है कि यह उभाड़ शून्यता की अनन्तता पर इतने पूरेतौर से स्थिर होने, अथवा इतने पूरेतौर से केन्द्रित होने, के करीब होता है कि वह ईश्वर की एकरूपता उसकी सृष्टि के दिव्य स्वप्न के अन्तर्गत खुद उसकी अत्यन्त पूर्ण प्रतिमा से करने के करीब होता है। इस प्रकार दिव्य स्वप्न अवस्था के अन्तर्गत इस स्थिति में, **विधाता परमात्मा** अपनी सृष्टि के अन्तर्गत, जड़ और चेतन पदार्थों समेत, सबसे तथा हर चीज़ से असंख्य एकरूपतायें कर चुकने के बाद, एक मानव रूप से अपनी एकरूपता करने के करीब होता है। दिव्य अपार अर्द्ध-चैतन्य अवस्था में स्थित परमात्मा, अब मनुष्य-रूप से अपनी एकरूपता स्थापित करने के समानान्तर पूर्ण-चेतना प्राप्त करने के किनारे के पास पहुँच रहा है।

पाँचवीं स्थिति

उस आदमी की पाँचवीं अवस्था की कल्पना कीजिये जैसे वह अब भी सो रहा हो लेकिन उसकी आँखें अब लगभग खुली हों। इस अवस्था में वह मनुष्य अब भी अर्द्ध-चैतन्य अवस्था अथवा अर्द्ध-जागृत अवस्था में है, और स्वप्नों का अनुभव उनकी अन्तिम स्थिति में उनकी चरमसीमा पर कर रहा है, जिस स्थिति में उसकी आन्तरिक-चेतना के माध्यम से संस्कारों का उभाड़ अत्यधिक प्रगाढ़ता के साथ हो रहा है। इस स्थिति में दोनों चीज़ें शिरोबिन्दु पर पहुँचती हैं; बहुत कम धुंधले रूपों में, अथवा यथार्थता की अधिकतर मात्रा में, संस्कारों का प्रचण्ड उभाड़, और उनसे सम्बद्ध स्वप्न जो अब और अधिक स्पष्टरूप से अथवा अपनी परिपक्व स्थिति में देखे जाते हैं। स्वप्नों में यह वह स्थिति है जब कि **शून्यता** के उप-सूक्ष्म रूप अपनी चोटी पर पहुँच गये हैं, और अधिक साफ़तौर से दिखाई पड़ते हैं। अपनी चोटी पर पहुँचे स्वप्नों का बन्द हो जाना अब आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य की आन्तरिक-चेतना के माध्यम से प्रगट होने वाले संस्कारों के उभाड़ों की प्राप्त हुई चरमसीमा किसी भी क्षण पूर्ण चेतना के उभाड़ अथवा प्रकटीकरण को उकसाने और प्रेरित

करने के लिये इस स्थल पर पर्याप्त होती है। अस्तु, लगभग पूर्ण चैतन्य मनुष्य की इस अवस्था की कल्पना हम उस मनुष्य के रूप में कर सकते हैं जिसकी आंखें लगभग पूरी खुली हैं, यद्यपि वह अब भी सोया हुआ है। यह वह स्थिति है जिस पर मनुष्य पूर्ण जागृत होने के लिये अपनी स्वप्न अवस्था से जागकर उठने के निमेष मात्र पहले पहुँचा है। यह आन्तरिक-चेतना की पूर्णतया परिपक्व अर्द्ध-चैतन्य अवस्था है।

मनुष्य की पाँचवीं अवस्था की कल्पना करते समय, उसके बराबर-बराबर अपनी दिव्य स्वप्न अवस्था में मग्न परमात्मा की उस अवस्था की कल्पना कीजिये जहाँ परमात्मा दिव्य, अपार अर्द्ध-चैतन्य अवस्था की पूर्णतया परिपक्व अवस्था का अनुभव कर रहा है और लगभग पूर्ण चेतना प्राप्त करने वाला है। इस अवस्था के शिखर पर परमात्मा की दिव्य, अनन्त आन्तरिक-चेतना के माध्यम से अनन्त संस्कारों के उभाड़ की प्रगाढ़ता ने परमात्मा की एकरूपता अर्द्ध-चेतनतया सृष्टि और रूपों के ऐहिक विकास के अन्तर्गत अन्तिम जीवधारियों के साथ करनी प्रायः बन्द कर दी है। दिव्य, अनन्त आन्तरिक-चेतना से युक्त, परमात्मा अपनी दिव्य, अनन्त अर्द्ध-चेतन अवस्था में है, जो लगभग परिपक्व हो आने के समय परमात्मा की एकरूपता पशु रूपों के अनन्त संस्कारों के साथ करती थी। किन्तु अब दिव्य स्वप्न अवस्था की पाँचवीं स्थिति में जहाँ परमात्मा पूर्णतया परिपक्व दिव्य, अनन्त अर्द्ध-चेतन अवस्था में है, परमात्मा की एकरूपता पशु रूपों के संस्कारों से नहीं कराई जा सकती यद्यपि वे संस्कार उसकी दिव्य, अनन्त आन्तरिक चेतना के माध्यम से घने रूप से तथा अपार रूप से उभरते हैं। इस स्थल पर दिव्य स्वप्न अवस्था में एक ऐसी स्थिति आती है जिसमें, संस्कारों की अनन्तता तक उनका उभाड़ होने के साथ जो संस्कार परमात्मा की अपनी चोटी पर पहुँची हुई दिव्य अनन्त आन्तरिक-चेतना के माध्यम से अपार रूप से उभड़ते हैं; उन संस्कारों ने इस अनन्त उभाड़ में प्रायः परमात्मा की एकरूपता एक मानव-रूप से कर दी है और परमात्मा प्रायः पूर्णतया चैतन्य हो गया है।

छठवीं स्थिति

उस आदमी की छठवीं अवस्था की कल्पना कीजिये जैसे वह अपनी नींद से पूरेतौर से जाग गया हो और उसकी आँखें पूरीतौर से

खुली हों। इस अवस्था में वह मनुष्य अब अर्द्ध-चेतन अवस्था में नहीं है, जिसमें वह स्वप्न देख रहा था जो स्वप्न उस मनुष्य की आन्तरिक-चेतना में संचित थे, तथा उसकी आन्तरिक-चेतना के माध्यम से शून्यता के उप-सूक्ष्म रूपों में अनुभव किये गये, शून्यता के सुसुप्त संस्कारों के धुंधले एवं क्षीण उभाड़ मात्र थे। मनुष्य की अवस्था में यह वह स्थिति है जहाँ वह बिल्कुल अभी पूरेतौर से जागा है, किन्तु यद्यपि वह पूर्णतया चैतन्य है तो भी उसे अपनी "आत्मा" *[Self]* की अब भी चेतना नहीं है। वह आदमी अब अपनी गहरी निद्रा तथा अर्द्ध-चैतन्य अवस्थाओं में नहीं है, और पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेने पर अब उसकी कल्पना उसके पूरे खुले नेत्रों सहित की जाती है। इसका अर्थ है स्वप्न का अन्त, अथवा मनुष्य की मिथ्या अवस्था का अन्त, जहाँ वह गुप्त अथवा सुप्त शून्य का अनुभव करता था जो शून्य अपनी अपक्व अवस्था में धुंधले और क्षीण उप-सूक्ष्म रूपों की शक्ल में शून्यतावत् प्रगट हुआ था। अब जागृत अवस्था में वह मनुष्य किसी धुँधली अथवा क्षीण चीज़ के रूप में शून्यता का अनुभव अथवा अवलोकन नहीं करता जैसा वह उसको अपनी स्वप्न अवस्था में देखा करता था। उसकी आँखें बिल्कुल अभी पूरी खुल जाने पर, वह चौंधिया गया है और वह चीज़ों को शून्य भाव से टकटकी लगाकर देखता है जो अब उसकी नज़र के सामने अधिक वास्तविक रूप से आती हैं। वह आदमी अब अपनी नजर के सामने आने वाली चीज़ों को ऐसे देखता है जैसे वह उसी शून्यता के, परिपक्व, स्पष्ट और पूर्णतया विकसित रूपों को देख रहा हो, जिस शून्यता को वह अपने स्वप्न में अपक्व, धुँधला और क्षीण देखता था। इस अवस्था में वह आदमी मानो अब भी दूसरा स्वप्न देखता है, लेकिन वह यह दूसरा स्वप्न उस स्वप्न की अपेक्षा अधिक वास्तविक रूप से देखता है जिससे वह एक निमेष पहले जागा था।

मनुष्य की अवस्था में यह छठवीं स्थिति है जहाँ मनुष्य, चौंधियाया हुआ, चीज़ों के देखने का अनुभव केवल और अधिक वास्तविक रूप से करता है लेकिन अब भी वह इस रूप में अनुभव करता है जैसे वह एक बिल्कुल खाली सपना हो। अर्थात्, वह मनुष्य अधिक ज़ोर के साथ और अधिक वास्तविक रूप से, लेकिन अब भी खाली रूप से, अपनी स्वप्न-अवस्था का स्वप्न देखता है, जो उसको उसकी स्वप्न-अवस्था के स्वप्न के अन्तर्गत अब भी एक और स्वप्न का बोध कराता है।

यह अवस्था उस अवस्था के समान है जिसमें मनुष्य के जागने के बाद कुछ क्षण ही बीते हैं और जिसमें वह सबसे पहले खुद अपनी आत्मा की अपेक्षा अपनी नज़र के अन्दर आने वाली चीज़ों को ही देख पाता है। इसका कारण यह है कि सुप्त अवस्था के बाद जैसे ही उसकी आँखें खुलती हैं वैसे ही उसकी लम्बे अरसे से बन्द आँखों का अपनेआप सहजरूप से खुल जाना उसमें एक प्रकार की चौंधियाई अवस्था पैदा कर देता है, और यद्यपि वह व्यक्ति जाग उठा है तथा पूरेतौर से चैतन्य है, फिर भी उसे अब भी अपने स्वत्व *[Self]* का अथवा खुद उसके स्वत्व को चारों ओर घेरे हुये पदार्थों के सम्बन्ध में उसकी स्थिति का भान नहीं है। वह केवल उन पदार्थों की ओर टकटकी लगाकर देखता है जिनके ऊपर उसकी नज़र पड़ती है।

उस आदमी की छठवीं अवस्था की कल्पना करते हुये, उसकी समानता में परमात्मा की उस अवस्था की कल्पना उसी प्रकार कीजिये जैसे वह अवस्था उस क्षण की हो जब परमात्मा ने बिल्कुल अभी अपनी एकरूपता एक मनुष्य-रूप से की है और बिल्कुल अभी पूर्ण चेतना प्राप्त की है। उस क्षण परमात्मा दिव्य, अपार अर्द्ध-चेतन अवस्था में नहीं होता, जिसमें वह मूल दिव्य स्वप्न देख रहा था जो गुप्त शून्य का उभाड़ था और जो सृष्टि के रूप में, अथवा पूर्णतया विकसित शून्यता के रूप में, दिव्य, अपार आन्तरिक-चेतना के द्वारा विमुक्त हुआ था।

इस छठवीं अवस्था में, परमात्मा अब अपनी मूल दिव्य गहरी निद्रा तथा अपनी दिव्य अपार अर्द्ध-चैतन्य अवस्थाओं से बाहर है क्योंकि अब उसे पूर्ण-चेतना प्राप्त हो चुकी है। इस स्थल पर परमात्मा को अपने असीमित स्वत्व का भान नहीं है और न अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं आनन्द की अपनी अपार, अपरिमित तथा असीमित त्रि-प्रकृति का भान है, किन्तु उसको बिल्कुल पूर्ण चेतना प्राप्त है। अब परमात्मा को इस अर्थ में पूर्ण चेतना प्राप्त है कि परमात्मा चेतनतया शून्यता में निमग्न है जो अब उसकी पूर्ण चेतना के माध्यम से स्पष्ट और सुनिश्चित वास्तविक स्थूल अवस्थाओं के रूप में प्रगट होती है और ये अवस्थायें प्रत्यक्ष रूप से अपने अपार पहलुओं को अनन्त रूप से प्रदर्शित करती हैं।

सातवीं स्थिति

उस आदमी की सातवीं अवस्था की कल्पना कीजिये जहाँ उसकी

आँखें पूरी खुली हैं और वह इस अर्थ में पूर्णतया तथा भरपूर जागृत है कि अब वह अपनी सीमित खुदी अथवा अहं का दृढ़ प्रतिपादन करता है, और उसको अपने मानव-रूप अथवा स्थूल शरीर का भान है, अपने चारों तरफ़ की चीज़ों का तथा स्थूल जगत का भान है। यद्यपि यह आदमी पूर्णतया चैतन्य है और उसको स्थूल जगत का पूरा भान है और वह पूर्णरूप से स्थूल जगत का अनुभव करता है, फिर भी उसको अब भी सीमित प्राण शक्ति तथा मन का भान नहीं है जिनका प्रयोग वह परोक्षरूप से अचेतनतया करता है, क्योंकि उसको उनके पहलुओं का भान केवल उसके स्थूल शरीर की परिमितताओं के माध्यम से ही प्राप्त होता है। इस अवस्था में मनुष्य पूर्णतया चैतन्य होता है, किन्तु स्थूल-चेतना के अर्थ में चैतन्य होता है, और अपने चारों ओर की दुनियाँ में उसे मनुष्य के रूप में अपनी खुदी की पूरी चेतना होती है।

मनुष्य को न केवल स्थूल जगत का, और न केवल दुनियाँ की उन सब चीज़ों का जो उसकी नज़र के सामने आती हैं, पूरा भान होता है, वरन् वह उनमें सीमित खुदी की अपनी पूर्णतया चैतन्य तथा पूरे होश की अवस्था का समावेश करके उनका यथार्थ अनुभव भी करता है। अब वह स्थूल जगत के पदार्थों को अपनी पाँच प्रमुख स्थूल इन्द्रियों के द्वारा पहिचानता है और उनको एक-दूसरे से भिन्न करता है और वह, अब पूर्णतया विकसित हुई शक्ति एवं मन का उपयोग विवेक अथवा अविवेक-पूर्वक, आप से आप तथा अप्रत्यक्षरूप से करता हुआ, स्थूल इन्द्रियों का प्रयोग उनसे उनके सापेक्ष मूल सम्बद्ध करने में करता है जिस समय और जब भी उसकी सीमित खुदी उसके पुनः गहरी नींद में सो जाने के पहले उसकी जागृत अवस्था में अपना दृढ़ प्रतिपादन करती है।

उस आदमी की सातवीं अवस्था की कल्पना करते हुये, उसी तरह परमात्मा की उस अवस्था की कल्पना कीजिये जहाँ वह अपनी पूरी एकरूपता मनुष्य-रूप से करता है और पूरी तथा भरपूर चेतना प्राप्त

---

† जागृत अवस्था में, मन ही स्थूल नेत्रों के द्वारा देखता है, स्थूल कानों के द्वारा सुनता है, स्थूल नाक के द्वारा सूंघता है, स्थूल मुंह के द्वारा खाता है और स्थूल अङ्गों के द्वारा कार्य करता है।

स्वप्नावस्था में (अन्तर-चैतन्य अवस्था में) मन ही उप-सूक्ष्म नेत्रों के द्वारा देखता है, उप-सूक्ष्म कानों के द्वारा सुनता है, इत्यादि।

गम्भीर निद्रावस्था में, मन ही शान्त और स्थिर रहता है।

करता है। इस अवस्था में अब परमात्मा दिव्य रूप से मूल दिव्य स्वप्न नहीं देखता, बल्कि अब पूर्णतया प्राप्त हुई भरपूर चेतना के साथ, वह मिथ्या रूप से पूर्ण भान का अनुभव करता है। यह भान परमात्मा को मिथ्या रूप से उस मूल शून्य का ज्ञान प्रदान करता है जो खुद उसकी अनन्तता की अवस्था में गुप्त था, और जो, अभी प्राप्त हुई पूर्ण चेतना के साथ, परमात्मा को उस शून्य का अनुभव ऐसे वास्तविक रूप में कराता है जैसे वह अनन्त और यथार्थ सबकुछ हो। दूसरे शब्दों में, जब परमात्मा दिव्य, अपार अर्द्ध-चेतन अवस्था में था तब वह अपने दिव्य स्वप्न के रूप में शून्यतावत् प्रगट हुये गुप्त शून्य का अनुभव कर रहा था। अब, जबकि परमात्मा पूर्ण चेतन अवस्था में है, वह प्रत्यक्षरूप से उस शून्य का अनुभव करता है, शून्यता के दिव्य स्वप्न के रूप में नहीं, बल्कि अब वह इस शून्य के भान का सचमुच ऐसा अनुभव करता है जैसे वह सबकुछ हो।

इस स्थिति में ज्ञान के आ जाने पर, यद्यपि परमात्मा ने विधाता की अवस्था में दिव्य रूप से मूल दिव्य स्वप्न देखना बन्द कर दिया है, फिर भी उसके परिपूर्ण चेतना और पूर्ण भान प्राप्त कर लेने के कारण, अब परमात्मा को मूल दिव्य स्वप्न का पूरा ज्ञान हो जाता है—एक स्वप्न के रूप में नहीं बल्कि कुछ वास्तविक चीज़ के रूप में, माया के रूप में नहीं बल्कि सत्यता के रूप में, शून्य के रूप में नहीं बल्कि सबकुछ के रूप में; और वह शून्य को बनाये रखता है जिसको उसने पैदा किया था। इस प्रकार से ही, यद्यपि परमात्मा को विधाता की अवस्था में पूर्ण चेतना प्राप्त हो गई थी, और पूर्ण भान का अनुभव हो गया था, विधाता परमात्मा का खुद यही भान धोखा सिद्ध होता है और उसके कारण अब परमात्मा शून्य के खुद अपने दिव्य स्वप्न (अथवा सृष्टि) को सत्यता के रूप में अनुभव करता है जिस समय वह अपनी एकरूपता मानवप्राणी से करता है।

संक्षेप में, मानव-के अन्तर्गत-परमात्मा (*God-in-man*) के रूप में विधाता परमात्मा यद्यपि अब पूर्णतया चैतन्य और पूरी तरह होश में हो गया है और अपनी मूल दिव्य स्वप्न अवस्था के बाहर आ गया है, फिर भी वह अपने को ईश्वर के रूप में नहीं पाता बल्कि पूर्ण स्थूल चेतना से युक्त मनुष्य की तरह पाता है और खुद अपनी मूल दिव्य स्वप्न अवस्था की सृष्टि का अनुभव सत्यता के रूप में करता है। इस स्थल पर

यह कहना है कि मनुष्य-में स्थित-परमात्मा [*God-in-man*] मिथ्या सत्यता का ज्ञान लिये हुये जागृत अवस्था में अब भी खाली दिव्य स्वप्न का अनुभव उस मूल दिव्य स्वप्न के अन्दर परमात्मा के एक और स्वप्न के रूप में करना जारी रखता है।

परमात्मा की अवस्था में यह अत्यन्त ललचाने वाली स्थिति है जब, पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेने पर, परमात्मा प्राप्त हुये मिथ्या ज्ञान के द्वारा भटक कर अपनी एकरूपता अपनी अपरिमित और अनन्त सत्ता [*Self*] से न करके, मानव प्राणी की शक्ल में अपनी अत्यन्त पूर्ण प्रतिमा से करता है, जबकि परमात्मा खाली दिव्य स्वप्न का अनुभव करना जारी रखता है।

यद्यपि यह अत्यन्त मनमौजी कल्पना मालूम पड़ती है, फिर भी यह सच बात है कि मनुष्य का स्वयम् जीवन परदा है जो परमात्मा के सनातन सत् की सत्यता को ढाँकता है।

यह ईश्वरी प्रारब्ध का दुर्भाग्य है कि परमात्मा अपनेआप को पाने के लिये मनुष्य में खो जाता है, और जिस क्षण वह मनुष्य परमात्मा में खो जाता है उसी क्षण ईश्वर को अपनी सत्यता का साक्षात्कार सनातन एवं अनन्त सत् के रूप में हो जाता है।

दूसरे शब्दों में, अनन्त परमात्मा यत्नपूर्वक अपनी अनन्तता को खोजता हुआ खुद अपनी अपारतया पूर्ण प्रतिमा में अपारतया मग्न हो जाता है; और यद्यपि परमात्मा इसके द्वारा पूर्ण चेतना प्राप्त करता है, फिर भी उसे इसके अन्तर्गत खुद उसके सनातन अनन्त सत् की सत्यता का साक्षात्कार नहीं होता। लेकिन जिस क्षण इस प्रकार प्राप्त हुई पूर्ण चेतना परमात्मा की एकरूपता उसकी अपारतया पूर्ण प्रतिमा की अपार छाया से करना बन्द कर देती है उसी क्षण यह प्रतिमा परमात्मा की चेतना से लुप्त हो जाती है, और परमात्मा को सहजतया तथा आप ही आप एवम् चैतन्य रूप से खुद अपने स्वरूप का साक्षात्कार अनन्त सत् रूप परमात्मावत् हो जाता है, और उसे मालूम होता है कि अकेला वही सदैव एकमेव सत्यता था, वही सदैव एकमेव सत्यता है और वही शाश्वतः एकमेव सत्यता रहेगा।

इस प्रकार मानव अवस्था में परमात्मा ने, पहलेपहल अपने को मनुष्य रूप अनुभव करके, सीमित आपा अथवा सीमित अहं, सीमित मन, सीमित प्राण शक्ति और सीमित स्थूल शरीर के द्वारा अपने सीमित

पहलुओं को दृढ़ता से प्रतिपादित किया। फिर, अन्ततः तथा चरमरूप से अपने को ईश्वरवत् अनुभव करने पर, वह अपनी दिव्य असीमित सत्ता के द्वारा अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द की अपनी असीमित, अपरिमित, अनन्त त्रि-प्रकृति प्रगट करता है।

सात विभिन्न प्राथमिक स्थितियों से होकर, परमात्मा की मूल, अचेतन, दिव्य गहरी निद्रा अवस्था में परमात्मा की गुप्त चेतना के उभार की प्रक्रिया का चित्रण करते हुये, जिसकी तुलना मनुष्य की सात विभिन्न प्राथमिक अवस्थाओं से की गई है जो अपनी अचेतन गहरी निद्रा अवस्था से लेकर उस अवस्था तक चेतना प्राप्त करता है जिसमें उसे पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है और वह पूरी खुली आँखों के साथ पूरी तरह जाग उठता है, हमें यह मालूम होता है कि यह परमात्मा की चेतना के विकास की प्रक्रिया है, जो अन्ततः परमात्मा की एकरूपता, सृष्टि के दिव्य स्वप्न के ड्रामा में, प्रत्येक जड़ और चेतन चीज से तथा सबसे करने के बाद, अन्ततः पूर्णतया चैतन्य परमात्मा की एकरूपता पूर्णतया चैतन्य मनुष्य से करती है।[१८]

ठीक अचेतन अवस्था से लेकर (जिसकी तुलना दिव्य गहरी निद्रा अवस्था से की जाती है) मनुष्य अवस्था में पूर्ण और भरपूर चेतना प्राप्त हो जाने तक (जिसकी तुलना स्थूल जगत का अनुभव करते हुये मनुष्य की पूरी खुली आँखों से की जाती है), परमात्मा एक, अखण्ड्य, अपार, निराकार और शाश्वतः सर्व-व्यापी बना रहता है। लेकिन परमात्मा की सर्व-व्यापी अनन्त प्रकृति ही उसके सनातन दिव्य सत् को, प्रत्यक्षरूप से तथा अप्रत्यक्ष रूप से, सभी अवस्थाओं और रूपों में स्वयम् उनके अस्तित्व के प्रकाशनों के द्वारा, चैतन्य तथा अचैतन्य रूप से प्रकट करती है।

विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया मूल, अनन्त लहर का निपट सहज परिणाम थी, जो लहर अचैतन्य परमात्मा में अपने सनातन और अनन्त सत् की चेतना प्राप्त करने के लिये पैदा हुई थी। और, यह बात विरोधाभासपूर्ण मालूम हो सकती है, कि विकास की प्रक्रिया में परमात्मा की अचैतन्यता ने परमात्मा की सुप्त चेतना के उभार को, क्रमशः प्रेरित किया, और वह चेतना, परमात्मा की एकरूपता विविध और असंख्य स्थूल रूपों से करने के द्वारा विविध और असंख्य संस्कारों का सञ्चय तथा अनुभव करने की क्रमिक, नियमबद्ध और प्रगतिशील प्रक्रिया से

गुज़रती हुई अधिक और अधिक बढ़ती गई।

इस प्रकार से ही ईश्वर की विकसित होती हुई चेतना रूपों के साथ तथा ऊँचे और ऊँचे प्रकार के रूपों की अवस्थाओं के साथ परमात्मा की एकरूपता को जन्म देती है। परमात्मा की यह एकरूपता अपनी पारी में, रूपों और प्राणियों के संसर्गों तथा विच्छेदों की, अथवा तथा-कथित जन्मों और मृत्युओं की, प्रत्यक्षरूप से अनन्त शृङ्खला को जन्म देती है; जो रूप और प्राणी शून्यता के अन्तर्गत बनना और अपने को दृढ़ता से जतलाना और फिर नष्ट हो जाना जारी रखते हैं और वे अपने पीछे संस्कारों की बपौती छोड़ जाते हैं। ये संस्कार अपनी पारी में ईश्वर की विकसित होती हुई चेतना को फिर से अग्रसर करके ईश्वर की एकरूपता एक और रूप से कराते हैं जो नष्ट हुये रूप के पीछे छूटे हुये संस्कारों के ही ढाँचे में ढला होता है।

विकास की प्रक्रिया से गुज़रकर, अचैतन्य परमात्मा ने अन्ततः पूर्णचेतना प्राप्त की जबकि परमात्मा की विकसित हुई चेतना ने अन्ततः परमात्मा की एकरूपता मनुष्यरूप से की। लेकिन यह प्राप्त हुई पूर्ण चेतना संस्कारों से पगी चेतना थी इसलिये उसने परमात्मा को उसकी मूल अनन्त अवस्था का साक्षात्कार न कराया। इसके विपरीत, परमात्मा को अनुभव हुआ कि वह मनुष्य है। इस प्रकार परमात्मा, अपने प्रथम शब्द ("मैं कौन हूँ?") की मूल लहर प्राप्त करने के बाद, इस स्थिति पर अपने को मनुष्य पाता है और स्थूल जगत का अनुभव करता है, और उसमें प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की तरह रहता है और उसको अपने अनन्त एवं सनातन सत् की बिल्कुल स्मृति नहीं रहती जब तक कि उसको अपने प्रथम शब्द "मैं कौन हूँ?" का यथार्थ उत्तर **"मैं परमात्मा हूँ"** नहीं मिल जाता।

इस प्रकार से ही मूल लहर ने शून्य की उत्पत्ति की; और संस्कारों ने उस शून्य को शून्यता के रूप में, अर्थात् सृष्टि और सृष्टि के प्राणियों के रूप में, सुरक्षित रक्खा; और अन्ततः विपरीत संस्कार आख़िरकार इन संस्कारों को उखाड़ फेंकेंगे और सत्यता का साक्षात्कार प्रदान करने के लिये उस शून्यता को नष्ट कर देंगे।

परमात्मा की मूल लहर ने ही परम स्वतन्त्र परमात्मा में कर्त्ता परमात्मा—रक्षक परमात्मा—हर्त्ता परमात्मा (अर्थात् ब्रह्मा—विष्णु—महेश) के एकसाथ तीन अनन्त गुण पैदा कर दिये। परमात्मा की खुद मूल लहर

ही परमात्मा को कर्त्ता–धर्त्ता–हर्त्ता जैसे अनन्त गुण प्रदान करने के लिये उत्तरदायी है।

परमात्मा के ये एकसाथ तीन अनन्त गुण, अस्तित्वधारी सभी चीज़ों और प्राणियों की अटल रचना, संरक्षण और विनाश करने के द्वारा, अविचल रूप से अपने को बलात् आरूढ़ करते हैं। मनुष्य के और सृष्टि के अन्तर्गत सब प्राणियों के रोज़ रोज़ के जीवन में भी, परमात्मा का यह अनन्त त्रिगुण पहलू अविचल जन्मों—जननक्रियाओं (संरक्षण क़ायम रखते हुये) और मृत्युओं के द्वारा अटलरूप से आरूढ़ होता मालूम पड़ता है।

मूल प्रथम शब्द ने, परमात्मा की मूल लहर के द्वारा, प्रसुप्त शून्य से "मैं कौन हूँ ?" के प्रसुप्त मूल प्रथम संस्कार की उत्पत्ति की, और इस मूल प्रथम संस्कार ने प्रसुप्त शून्यता की उत्पत्ति मूल सृष्टि के रूप में की। अपनी पारी में, शून्यता की उत्पत्ति संस्कारों की उत्पत्ति करती है जो शून्यता को मूल सृष्टि के रूप में अटलतया सुरक्षित किये रखते हैं, जब तक कि आखिरकार यह शून्यता पुनर्जन्म और चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रियाओं से गुज़र कर विपरीत संस्कारों के द्वारा नष्ट नहीं हो जाती, और प्रथम शब्द "मैं कौन हूँ ?" का अन्तिम उत्तर "मैं परमात्मा हूँ" नहीं मिल जाता।

जड़ और चेतन रूपों एवं प्राणियों के विविध व्यक्तिगत चैतन्य प्रतिपादनों से उत्पन्न हुये संस्कारों के अनुसार ही, माया अविचल रूप से अपनी प्रत्यक्षतया अनन्त एवं विविध स्थिति क़ायम रखती है। विविध व्यक्तिगत जनित संस्कारों की इस अटूट तथा प्रत्यक्षतया अनन्त श्रृंखला के कारण ही मूल प्रकृति, जो परमात्मा की मूल लहर से पैदा होती है, अटलरूप से रक्षित रहती है, जबकि वह साथ-साथ विकसित होती रहती है जिससे प्रत्येक अस्तित्वधारी व्यक्तिगत रूप एवं प्राणी प्रथम शब्द "मैं कौन हूँ ?" के उत्तरों का अनुभव चैतन्य रूप से कर सके कि "मैं एक जड़ चीज़ हूँ", "मैं एक चेतन प्राणी हूँ", "मैं एक विवेकशील प्राणी हूँ", "मैं एक पुरुष हूँ" और "मैं एक स्त्री हूँ"।

उदाहरण के लिये, जब मानव अवस्था में परमात्मा, मनुष्यवत् गहरी निद्रा में होता है, और जब काल एवं देश (*Time and Space*) मनुष्य के दिन तथा विश्व के रूप में उसके लिये सबके सब प्रत्यक्षतया नष्ट हो चुकते हैं, तब वह कौन सी चीज़ है जो उसके लिये प्रतिदिन

उसके दैनिक प्रभात की उत्पत्ति अटल रूप से करती है ? और पुनः, जब मनुष्य प्रतिदिन जागता है, तब वह कौन सी चीज़ है जो उसके लिये उसके विश्व की और सब चीज़ों की जो विश्व की हैं और विश्व के अन्दर हैं अटल रूप से उत्पत्ति करती है। चेतना के विकास के दौरान में, और पुनर्जन्म की प्रक्रिया के दौरान में, सञ्चित हुये मनुष्य के खुद अपने प्रसुप्त संस्कार ही उसको प्रतिदिन बिना अभिप्राय के जगाने के लिये उसकी गहरी निद्रा में खुद उसकी प्रसुप्त चेतना को उकसाते हैं, जिससे कि मनुष्य के खुद अपने प्रसुप्त संस्कारों को उसकी जागृत अवस्था के दौरान में चैतन्य अनुभवों के द्वारा समाप्त हो जाने के लिये आवश्यक अवकाश मिल सके। इस रीति से खुद मनुष्य के प्रसुप्त अवस्था के संस्कार ही उस मनुष्य के लिये रोज़ खुद उसके प्रभात और खुद उसके विश्व की उत्पत्ति करते हैं। यद्यपि मनुष्य के प्रतिदिन के प्रभात एवं विश्व दोनों की उत्पत्ति उसके लिये एकसाथ खुद उसके प्रसुप्त संस्कारों के द्वारा हुई थी, फिर भी वे दोनों उसके लिये पहले ही दैनिक जागृत अवस्था के अन्तर्गत उसके जीवन के उसके निजी संस्कारों के द्वारा रक्षित रहे थे, और वे पहले से ही विद्यमान माया, अथवा परमात्मा की मूल लहर से उत्पन्न हुई मूल सृष्टि, के गहरे और गहरे संस्कारों से युक्त खुद उसके दैनिक जीवन में जनन क्रिया के द्वारा भी रक्षित रहे थे। अन्ततः, मनुष्य के प्रभात (अथवा दिन) और उसके विश्व दोनों का नाश मनुष्य के खुद अपने विपरीत संस्कारों से हो जाता है जिनका अनुभव वह अपनी निद्रा अवस्था में करता है, और जो उसकी जागृत अवस्था के संस्कारों के बिल्कुल विपरीत होते हैं।

अस्तु, नियमित अटल क्रम में, मनुष्य अवस्था में परमात्मा मनुष्यवत्, मनुष्य के प्रसुप्त संस्कारों के द्वारा खुद अपनी सृष्टि के विधाता के रूप में अटल रूप से अपना प्रतिपादन करता है; जागृत अवस्था में मनुष्य का दैनिक जीवन व्यतीत करते, और सृष्टि के संस्कारों का जनन करते हुये खुद अपनी सृष्टि के कर्ता के रूप में अटलरूप से अपना प्रतिपादन करता है; और मनुष्य के विपरीत संस्कारों के द्वारा, जब वह सो जाता है और अन्ततः गहरी निद्रा अवस्था में हो जाता है, खुद अपनी सृष्टि के हर्ता के रूप में अटलरूप से अपना प्रतिपादन करता है। प्रतिदिन, मनुष्य अपनी चेतना के द्वारा व्यक्तिगत की हुई सृष्टि को

अन्ततः नष्ट करता हुआ, संस्कारों की पीड़ा के द्वारा एक बार फिर से पूरी सृष्टि को रचता है, उसकी रक्षा करता है और उसको नष्ट करता है। हर चीज़ और हर प्राणी के स्वयं अस्तित्व के द्वारा भी, परमात्मा कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता के रूप में अपने अनन्त त्रिमुखी गुणों का अटलतापूर्वक प्रतिपादन करता है।

जैसे मनुष्य अवस्था की प्रकृति में, वैसे ही परमात्मा की प्रत्येक अवस्था की प्रकृति में भी, परमात्मा कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता के अपने अनन्त त्रिमुखी गुणों का अटल प्रतिपादन एकसाथ सीधे और परोक्षरूप से, प्रगटरूप से और यथार्थ रूप से, करता है। हृदय की धड़कन और फेफड़ों की क्रिया तक में भी अनन्त त्रिमुखी गुणों के तीन पहलू अपना दृढ़ प्रतिपादन करने में कभी नहीं चूकते। हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ, हृदय फैलता है, शिथिल होता है (संकुचन की अवधि में) और सिकुड़ता है, और उसके साथ-साथ वह एक ओर एक प्राणी के जन्म के आगमन की सूचना देता है, और दूसरी ओर उस प्राणी के जीवन को स्थिर रखता है, और अन्ततः, आखिरी तथा चरम संकुचन के साथ उस प्राणी की भौतिक मृत्यु कर देता है।

इस प्रकार से ही परमात्मा के कर्त्ता परमात्मा, भर्त्ता परमात्मा और हर्त्ता परमात्मा (ब्रह्मा, विष्णु और महेश अथवा शिव), रूपेण त्रिमुखी गुण सब चीज़ों में और प्रत्येक जीवधारी में और सब प्राणियों में, चेतना के विकास के दौरान में हर स्थिति पर परमात्मा की हर अवस्था में, और चेतना के प्रतिवर्धन में हर भूमिका पर, स्वाधीनतापूर्वक तथा एकसाथ अपना दृढ़ प्रतिपादन करते हैं, जब तक कि अन्ततः मूल ऐहिक सृष्टि, युगों, कालचक्रों और अवधियों तक स्थिर रहने के बाद और ऐहिक संस्कारों की क्रीड़ा के द्वारा रक्षित रहने के बाद, परमात्मा के ऐहिक विपरीत संस्कारों की क्रीड़ा के द्वारा अन्तिम रूप से नष्ट नहीं हो जाती। यह अन्तिम विनाश आमतौर पर "महाप्रलय" कहलाता है, जिसका अर्थ है "लय हो जाने की महान से महान घटना", जबकि शून्यतावत् अखिल ऐहिक सृष्टि सबकुछ में अनन्ततया समा जाती है।

विकास की प्रक्रिया में अचैतन्य परमात्मा ने पूर्ण चेतना प्राप्त की, अपनी मूल अनन्त अवस्था की नहीं बल्कि स्थूल और सीमित अवस्था की चेतना प्राप्त की। विकास के दौरान में पूरे संघर्ष के बाद, जिसने परमात्मा के लिये पूर्ण चेतना प्राप्त की, निःसन्देह वह चेतना किस

कीमत पर प्राप्त की गई थी ? वह कीमत थी स्थूल रूप में सञ्चित हुये संस्कारों की बपौती का बोझ—जो स्थूल रूप परमात्मा की विकासशील चेतना के संसर्ग का आखिरी माध्यम था—जिसके माध्यम से भरपूर चेतना पूर्णतया विकसित हो गई जिस क्षण परमात्मा ने अपनी एकरूपता मनुष्य-रूप से की। इसलिये मनुष्य अवस्था में परमात्मा को, भरपूर चेतना प्राप्त कर लेने पर भी, अपनी मूल अवस्था का ज्ञान अब भी नहीं होता। यह अज्ञान स्थूल संस्कारों के अवांछित (यद्यपि आवश्यक) बोझ के कारण होता है जो स्थूल संस्कार प्राप्त हुई पूर्ण चेतना से अब भी चिपटे रहते हैं।

वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मनुष्य अवस्था में परमात्मा इन सीमित संस्कारों का बोझ हटाने के लिये संघर्ष करता है ऐसी प्रक्रिया है जो विपरीत संस्कारों के माध्यम से होती है, और वह पुनर्जन्म१९ की प्रक्रिया कहलाती है।

चेतना के ऊपर से सीमित संस्कारों का बोझ हटाने का प्रयत्न करने में परमात्मा की स्थूल चेतना को इन संस्कारों का अनुभव आवश्यकरूप से करना पड़ता है और फिर उन्हें पुनर्जन्मों की एक श्रृङ्खला से गुजर कर असंख्य विपरीत संस्कारों के द्वारा समाप्त करना पड़ता है। स्वभाव से विपरीत अनुभव संस्कारों को समाप्त करने के लिये बिल्कुल आवश्यक होते हैं, क्योंकि केवल विपरीत अनुभव ही गहरी जड़ जमाये हुये अथवा दृढ़ता से स्थापित हुये विविध संस्कारों की जड़ों को हिला सकते हैं।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया में मनुष्य में स्थित पूर्णतया स्थूल-चैतन्य परमात्मा, जो पूर्णतया विकसित सूक्ष्म एवं कारण शरीरों से युक्त होता है, जिन शरीरों का उपयोग अटल रूप से, यद्यपि अचेतनतया, करता है, अनिवार्यरूप से विविध और असंख्य अनुभवों की अनन्त श्रृङ्खलाओं का अनुभव करता है, जो अनुभव स्वभाव से विपरीत होते हैं, जिससे कि द्वन्द्वों के संस्कार समाप्त हो सकें। इन संस्कारों की छाप निरन्तर मनुष्य के कारण शरीर अथवा मन पर पड़ती रहती है, अथवा वह उनका चयन करता रहता है, और मनुष्य में विद्यमान आन्तरिक चेतना उन संस्कारों को धारण किये रहती अथवा उन्हें मुक्त करती रहती है। मनुष्य में स्थित, मनुष्यवत् परमात्मा की आन्तरिक चेतना और पूर्ण चेतना के द्वारा जब ये संस्कार मुक्त होते हैं, तब उसको मुक्त हुये संस्कारों की विविधता और प्रगाढ़ता के अनुसार विविध अनुभव होते हैं। जबकि

मनुष्य का सूक्ष्म शरीर, जो शक्ति का केन्द्र है, मनुष्य को उसके स्वप्न अथवा जागृत अवस्था के (जैसी भी अवस्था हो) दैनिक जीवन में कर्म करने के निमित्त क्रियाशील करने के लिये इन संस्कारों को शक्ति प्रदान करता है। ये कर्म भी स्वभाव में विविध सम्बन्धित विपरीत संस्कारों के विपरीत होते हैं।

इस प्रकार स्थूल भूमिका पर स्थित मानव अवस्था में, यद्यपि प्राण (*Energy*) और मन का पूरा विकास हो जाता है और उनका उपयोग निरन्तर तथा अविचल रूप से किया जाता है, तो भी वे परोक्ष और अचेतन रूप से काम में लाये जाते हैं। प्राण भूमिका पर होने के समय (यानी सूक्ष्म भूमिकाओं पर), इस प्राण शक्ति (*Energy*) का उपयोग दिव्य रूप से और चेतनतया किया जाता है; लेकिन सूक्ष्म भूमिकाओं पर मन का उपयोग परोक्षरूप से तथा अचेतनतया किया जाता है। मनो भूमिकाओं पर, जबकि इस मन का उपयोग दिव्य रूप से तथा चेतनतया किया जाता है, प्राण शक्ति का उपयोग केवल परोक्षरूप से तथा अचेतनतया किया जाता है।*

इससे अनिवार्यरूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि जबकि मानव अवस्था में यह स्थूल-चैतन्य परमात्मा स्थूल जगत में द्वन्द्वों का अनुभव करता है, वह विविध जातियों, धर्मों, राष्ट्रीयताओं और रंगों में तथा विविध विभिन्न, स्थानों और महाद्वीपों में, कभी पुरुष के रूप में, कभी स्त्री के रूप में, असंख्य बार पुनर्जन्म लेता है, और हमेशा द्वैध संस्कारों का पुनर्निरीक्षण करता तथा उन्हें द्वन्द्वों के अनुभव द्वारा समाप्त करता है।

इन विविध द्वन्द्वात्मक संस्कारों और क्रमशः उनके विपरीत अनुभवों के द्वारा ही सदैव स्थूल-चैतन्य परमात्मा मानव अवस्था में पृथ्वी पर, सम्भवतः एक दिन, लाखों पुनर्जन्मों के बाद, गहरे गड़े संस्कारों को क्षीण कर सकता है। मानव-योनियों की तथाकथित मृत्युओं और जन्मों के इस कालचक्र की प्रक्रिया ही अन्ततः मानव अवस्था में स्थित स्थूल-चैतन्य परमात्मा की चेतना को प्रतिवर्धन के लिये उत्प्रेरित करती है।

---

* [इसे भी पढ़िये : मेहेरबाबा, "प्राण शक्ति और द्रव्य के ऊपर मन का नियंत्रण", सर्वोत्तम जीवन, आईवी ओ० ड्यूस (सैनफ्रांसिसको : सूफ़ीज्म रिओरियेण्टेड, इनकारपोरेटेड, १९५७), द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ३८ । सम्पादक]

चेतना के प्रतिवर्धन की यह प्रक्रिया क्रमशः साकार होती है जब स्थूल संस्कार क्रमशः अधिक क्षीण और अधिक न्यून होते जाते हैं।

मानव स्थिति में परमात्मा की चेतना का प्रतिवर्धन केवल तब सम्भव होता है जब द्वैध संस्कार, एक बहुत-बहुत लम्बी प्रक्रिया के बाद, क्रमशः अटल पुनर्जन्मों की प्रक्रिया के द्वारा, जो स्थूल संस्कारों की सीमा की ओर ले जाती है, धीरे-धीरे क्षीण होते हैं।

जब स्थूल संस्कारों की हद आ जाती है, तब वह स्थिति प्राप्त होती है जहाँ मानव अवस्था में स्थित स्थूल-चैतन्य परमात्मा क्रमशः स्थूल जगत से विच्छिन्न हो जाता है जैसे ही चेतना का प्रतिवर्धन चेतना को अन्तर्मुखी *(Infold)* करने लगता है। उसके साथ-साथ, चेतना के प्रतिवर्धन के प्रारम्भ के साथ, मानव स्थिति में परमात्मा स्थूल जगत के द्वन्द्वों के संस्कारों का अनुभव करने से क्रमशः अलग होता जाता है।

यह देखा गया था कि परमात्मा ने चेतना के विकास की प्रक्रिया के द्वारा पूर्ण चेतना प्राप्त की थी; लेकिन प्राप्त हुई वह पूर्ण चेतना ऐसी चेतना थी जो संस्कारों से भरी थी। पूर्ण चेतना प्राप्त हुये इन संस्कारों का सफाया करने के लिये, पुनर्जन्म की प्रक्रिया और चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया से गुजरना अवश्यम्भावी है।

परमात्मा की चेतना के विकास की प्रक्रिया की तुलना मनुष्य की आँखें धीरे-धीरे खुलने से की गई थी। जब मनुष्य ने अपनी आँखें पूरीतौर से खोल दीं तो उसकी तुलना चेतना के विकास के अन्त से की गई थी, क्योंकि तब परमात्मा ने भरपूर चेतना प्राप्त कर ली थी।

मानव स्थिति में परमात्मा के पुनर्जन्म की प्रक्रिया की तुलना उस मनुष्य से की जा सकती है जो पूरी तरह से जागृत है और पूर्णतया चैतन्य है और उसकी आँखें पूरी खुली हैं, और वह विविध अनुभव प्राप्त कर रहा है जो उन संस्कारों के विपरीत थे जो उसने अपने जीवन के वर्षों में सञ्चित कर लिये थे, और जिनका अनुभव वह अब अपने मौजूदा जीवन काल में क्रियात्मक रूप से करता है, और अपने नानाविधि क्रियाकलाप के करने में खुद अपने को भूल जाता है।

अब मानव स्थिति में स्थित परमात्मा की चेतना के प्रतिवर्धन के लिये उत्प्रेरणा की तुलना एक आदमी से की जा सकती है जिसे, अपने दिन के क्रियाकलाप में व्यस्त रहने के बाद, आखिरकार समय मिलता है, जब उसका दिन का काम प्रायः समाप्त हो जाता है, जिससे

वह अपना ध्यान अपने क्रियाकलाप के बजाय खुद अपनी ओर कर सकता है। इस प्रकार उत्प्रेरित होने पर मनुष्य का ध्यान अपने बाहरी क्रियाकलाप से खुद अपनी ओर उचित ध्यान देने की ओर अपनेआप खिंच जाता है।

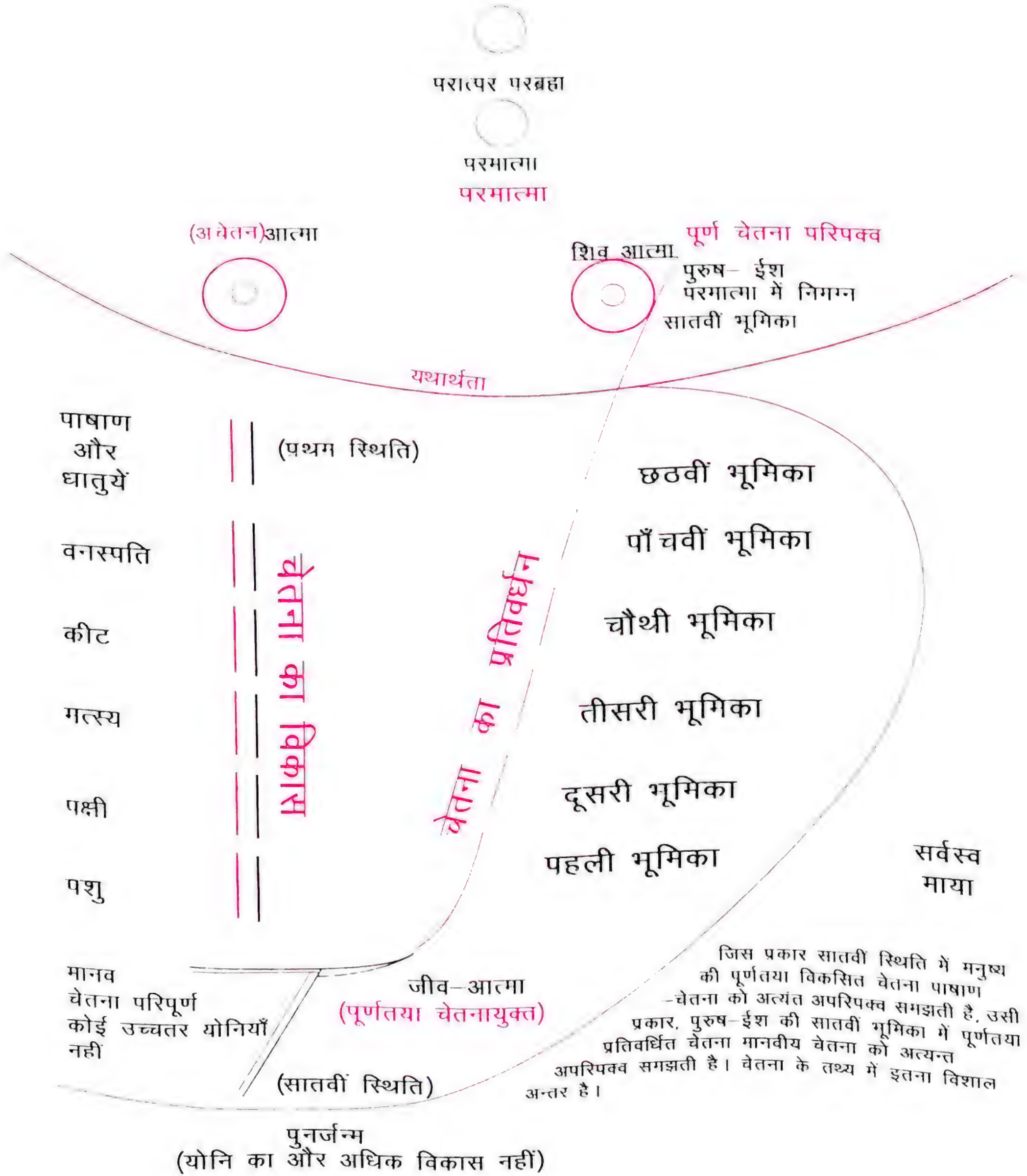
ठीक जिस तरह पूर्ण चेतना का विकास सात विभिन्न क्रमों में हुआ था, उसी प्रकार विकसित पूर्ण चेतना का पूर्ण विकास सात विभिन्न क्रमों में प्रतिवर्धन की प्रक्रिया के द्वारा होता है। चेतना के प्रतिवर्धन की ये सात स्थितियां "चेतना की सात भूमिकायें" कहलाती हैं। सातवीं भूमिका चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया में सातवीं और अन्तिम स्थिति है जहां चेतना पूर्ण रूप से विकसित है और परमात्मा चैतन्य रूप से अपने शाश्वत अनन्त सत् का अनुभव करता है; अर्थात्, परमात्मा को, जो मूल रूप में अचैतन्य था, अब स्वयं विस्मृति की विस्मृति हो जाती है।

मानव अवस्था में स्थित परमात्मा की चेतना के क्रमिक प्रतिवर्धन की इन सात स्थितियों की तुलना मनुष्य के पूरे खुले नेत्रों से की जा सकती है, जो पहले ठीक अपने से आगे और अपने से दूर टकटकी लगाये हुये है। फिर, खुद अपनेआप को देखने के प्रयास में, वह अपने नेत्र क्रमशः नीचे को करता है, और उनको सात श्रेणियों में घुमाता है, जब तक कि आखिरकार उसकी दृष्टि का विस्तार उसको खुद अपने में समाविष्ट नहीं कर लेता।

निश्चित, असंख्य पुनर्जन्मों के माध्यम से, जहां स्थूल अनुभवों की एक सीमा पहुँच जाती है, और जब स्थूल संस्कार क्षीण और प्रायः निर्जीव हो जाते हैं, तब मानव अवस्था में स्थित स्थूल-चैतन्य परमात्मा की स्थूल चेतना क्रमशः प्रतिवर्धित होने लगती है, और मनुष्य की अवस्था में स्थित परमात्मा चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया में प्रवेश करता है।

इस स्थिति में प्रतिवर्धित होती हुई स्थूल चेतना सूक्ष्म जगत की पहली अवस्था अथवा भूमिका का आंशिक अनुभव प्राप्त करती है; और इन अनुभवों को मानव अवस्था में स्थित परमात्मा पहले ही पूर्णतया विकसित सूक्ष्म शरीर के माध्यम से करता है। पहली भूमिका के पहले यही मूल स्थिति है जहां मानव अवस्था में स्थित स्थूल-चेतनायुक्त परमात्मा की विकसित स्थूल चेतना को सूक्ष्म जगत की प्रथम भूमिका की पहली झलकें प्राप्त होती हैं, और वह उनके संस्कारों का अनुभव आंशिक रूप से स्थूल शरीर के द्वारा और आंशिक रूप से सूक्ष्म शरीर

विकास और प्रतिवर्धन



द्वारा करता है। इस स्थल पर स्थूल और सूक्ष्म दोनों इन्द्रियों का एकसाथ प्रयोग किया जाता है।

यह वह स्थिति है जहाँ मानव अवस्था में स्थित परमात्मा, मानो सीमान्त रेखा पर खड़ा होता है, जो स्थूल जगत और सूक्ष्म जगत के बीच की सीमा स्थिर करती है और जहाँ मानव अवस्था में स्थित परमात्मा की चेतना को विचित्र चीज़ों के अनुभव प्राप्त होते हैं। अपने स्थूल नेत्रों के द्वारा उसको सूक्ष्म भूमिका की झलकें प्राप्त होती हैं, उसको अपने स्थूल कानों के द्वारा सूक्ष्म भूमिका का आलौकिक सङ्गीत सुनाई पड़ता है, और अपनी स्थूल नासिका के द्वारा वह सूक्ष्म सुगन्धित वस्तुओं का आनन्द लेता है। संक्षेप में, मानव अवस्था में स्थित स्थूल-चैतन्य परमात्मा, आंशिक रूप से सूक्ष्म जगत की पहली भूमिका पर, स्थूल इन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म संस्कारों का अनुभव करता है।

स्थूल चेतना का और अधिक प्रतिवर्धन होने पर, स्थूल-चैतन्य परमात्मा को सूक्ष्म जगत की पहली भूमिका का अनुभव क्रमश: पूर्णरूप से हो जाता है। अब मानव अवस्था में स्थित परमात्मा की स्थूल चेतना और अधिक स्थूल चेतना नहीं रहती, वरन् वह सूक्ष्म चेतना होती है।

मानव स्थिति में सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा को क्रमश: सूक्ष्म जगत की दूसरी भूमिका की चेतना आ जाती है जैसे-जैसे चेतना का प्रतिवर्धन चेतना को उघारने के लिये आगे और आगे अग्रसर होता है।

यह सूक्ष्म जगत अनन्त प्राणशक्ति का प्रदेश है। अनन्त और असीमित शक्ति, जो परमात्मा की अनन्त त्रि-प्रकृति का एक अंग होती है, जब वह असीमित अनन्तता के केन्द्र से फैलकर माया के सीमित जगतों में जाती है, सीमितता में परिवर्तित होती है और सूक्ष्म जगत की अनन्त प्राण शक्ति के रूप में सूक्ष्म जगत के प्रदेश में अभिव्यक्त होती है।

इस प्रकार, दूसरी भूमिका में, मानव-रूपधारी परमात्मा सूक्ष्म चेतना से सम्पन्न होता है, और इसलिये उसको स्थूल शरीर की और कारण शरीर, अर्थात् मन, की चेतना नहीं होती। किन्तु मानव-रूपधारी परमात्मा निश्चय ही स्थूल शरीर के माध्यम से और मन (कारण शरीर) के माध्यम से कार्य करता है—प्रत्यक्ष रूप से नहीं, किन्तु सूक्ष्म भूमिका पर और सूक्ष्म भूमिका से कार्य करता है।

इसलिये यदि मानव अवस्था में स्थित सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा को

स्थूल शरीर की और कारण शरीर की चेतना नहीं भी होती, और उसको अन्न भुवन तथा मन भुवनों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तब भी मानव अवस्था में स्थित परमात्मा स्थूल शरीर का उपयोग स्थूल जगत के विविध अङ्गों के माध्यम से करता है (प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् सूक्ष्म भूमिका से), और इसलिये वह सकल बाह्य रूपों से साधारण स्थूल-चैतन्य मानववत् दिखाई पड़ता है जो खाता है, पीता है, सोता है, देखता है, महसूस करता है, सुनता है इत्यादि, इत्यादि। इसी प्रकार, मानव अवस्था में स्थित परमात्मा, जब उसको सूक्ष्म जगत की दूसरी भूमिका की चेतना प्राप्त होती है, अपने कारण शरीर (अर्थात् मन) का निश्चित रूप से प्रयोग करता है—प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् विविध अङ्गों के माध्यम से जिनसे वह बाहरी दिखावों में, विचारों, वासनाओं, भावनाओं से युक्त साधारण स्थूल-चैतन्य मानव-रूप में दिखाई पड़ता है।

इस स्थिति पर, चेतना के और अधिक प्रतिवर्धन से सम्पन्न, दूसरी भूमिका पर स्थित सूक्ष्म-चेतनायुक्त परमात्मा को प्राण भुवन की अनन्त प्राण शक्ति का और अधिक भान प्राप्त होता है और अब वह इस अनन्त प्राणशक्ति को मुक्त करने के द्वारा नीचे दर्जे के छोटे छोटे चमत्कार अथवा खेल करने में समर्थ होता है, और ऐसी शक्तियाँ प्रदर्शित कर सकता है जैसे सूखे पेड़ को हरा पेड़ बना देना और हरे पेड़ को सूखा बना देना, रेलगाड़ियों को और मोटरकारों को रोक लेना, सूखे कुयें को पानी से भर देना, इत्यादि।

दूसरी भूमिका पर मानव-अवस्था में स्थित यह सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा सूक्ष्म जगत का अनुभव अपने सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा करता है। अब उसको स्थूल जगत की बिल्कुल चेतना नहीं होती, यद्यपि समस्त बाहरी दिखावों में वह एक साधारण पुरुष की तरह रहता और कार्य करता है, जैसे खाना, सोना, सुख और दुख की भावनायें रखना, इत्यादि, फिर भी यथार्थ में उसकी प्रतिवर्धित चेतना अन्न भुवन का नहीं बल्कि प्राण भुवन का अनुभव करती है और उसकी सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा नये सूक्ष्म संस्कार पैदा करती है, जिनकी संख्या तीन होती है, और जिनमें केवल देखने, सूँघने और सुनने की आन्तरिक शक्तियाँ होती हैं।

चेतना का और अधिक प्रतिवर्धन होने पर मानव अवस्था में स्थित परमात्मा के लिये प्राण भुवन की तीसरी भूमिका का अनुभव

करना सम्भव हो जाता है। इस स्थल पर सूक्ष्म चेतना को प्राण भुवन की अनन्त प्राणशक्ति का और अधिक भान प्राप्त हो जाता है, और मानव अवस्था में स्थित परमात्मा को और अधिक सीमित शक्ति का अनुभव प्राप्त होता है। इस स्थिति में उसको बड़े चमत्कार करने की, जैसे अन्धों को आँखें देना, लँगड़े-लूलों को फिर से अङ्ग प्रदान करना और कभी-कभी मुर्दों को जिन्दा करने तक की क्षमता‡ प्राप्त होती है। इस अवस्था में मानव अवस्था में स्थित सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा को प्राण भुवन की विभिन्न भूमिकाओं और दुनियाओं का अनुभव करने की भी क्षमता होती है, ठीक जिस प्रकार से स्थूल-चैतन्य मानव-रूप को, उसको प्राप्त स्थूल माध्यम का उपयोग करते हुये, एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप की यात्रा करने की क्षमता प्राप्त होती है।

प्राण भुवन की दूसरी और तीसरी भूमिकायें वे दो बड़ी भूमिकायें हैं जो केवल प्राण भुवन के प्रदेश के अन्तर्गत होती हैं। पहली भूमिका आंशिकरूप से प्राण भुवन के प्रदेश में और आंशिकरूप से अन्न भुवन के प्रदेश में होती है। इसी प्रकार से चौथी भूमिका आंशिकरूप से प्राण भुवन की और आंशिकरूप से मन भुवन की होती है। इस कारण से चौथी भूमिका मन भुवन का प्रवेशद्वार कही जाती है।

अब, मानव अवस्था में स्थित सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा की चेतना के प्रतिवर्धन में हुई क्रमिक यद्यपि प्रगतिशील प्राप्ति के साथ, परमात्मा की चेतना सूक्ष्म-घन-कारण (*Subtle-Cum-mental*) जगत की चौथी भूमिका का अनुभव करती है।

चौथी भूमिका में परमात्मा को मानव अवस्था में सूक्ष्म शरीर की भरपूर चेतना प्राप्त होती है और उसको प्राण भुवन का पूर्ण अनुभव प्राप्त होता है, और इसलिये उसको प्राण भुवन की सूक्ष्म प्रकृति का पूरा भान रहता है जो अनन्त प्राण शक्ति है। यह वही अनन्त प्राण शक्ति है जो, परमात्मा की उस अनन्त एवम् असीमित शक्ति की शून्यता में सीमित अङ्ग है, जो शक्ति परमात्मा की सबकुछ की अवस्था में अन्तर्हित थी।

चौथी भूमिका में मानव अवस्था में स्थित परमात्मा अनन्त प्राण शक्ति से पूर्णतया सम्पन्न होता है और इस प्रकार अब उसको मुर्दों को

---

‡ चेतना की तीसरी भूमिकाओं में स्थित आत्मायें केवल उप-मानव योनियों के मुर्दों को ही जिन्दा कर सकती हैं।

ज़िन्दा करने की तथा नवीन जीवित योनियों तक की रचना, नये जगतों में, करने की क्षमता होती है। चौथी भूमिका में मानव अवस्था में सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा यथार्थ में मूर्तमान अनन्त प्राण शक्ति होता है।

सूक्ष्म-घन-मन भुवनों की चौथी भूमिका की यह अनन्त प्राण शक्ति स्थूल जगत की तथाकथित मामूली शक्ति नहीं है। यह वह अनन्त प्राण शक्ति है जो "समग्र जीवन की श्वास", अथवा "प्राण" कहलाती है और जो सब चीज़ों को ज़िन्दा कर सकती है। यह वह प्राण शक्ति है जो, अनन्त होने पर, ख़ाक से जीवित चीज़ें पैदा कर सकती है।

यद्यपि यह प्राण शक्ति अनन्त है, फिर भी यह किसी प्रकार से भी परमात्मा की उस अनन्त शक्ति की यथार्थता के बराबर नहीं होती। परमात्मा की यह अनन्त शक्ति, जब वह माया के रूप में परिणत होती है, सूक्ष्म-घन-कारण जगतों की चौथी भूमिका की अनन्त शक्ति का सीमित पहलू बन जाती है।

मानव अवस्था में स्थित सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा, जिसके हाथ में चौथी भूमिका की अनन्त प्राण शक्ति के भण्डार की कुन्जी होती है, अब कारण जगत के प्रवेशद्वार पर दृढ़ता के साथ स्थापित होता है, और उसका सामना प्रचण्ड इच्छाओं, भावनाओं, और विचारों के पूरे तूफ़ान से होता है। ये इच्छायें, भावनायें और विचार कारण जगत के मन के पहलू होते हैं।

यद्यपि चौथी भूमिका चेतना की उच्च स्थिति है जहाँ परमात्मा मानव अवस्था में चैतन्य रूप से अपनेआप को मूर्तमान अनन्त प्राण शक्ति के रूप में अनुभव करता है, फिर भी यह तथा-कथित "निबिड़ अँधेरी रात" के अनुभवों की अवस्था है, क्योंकि यहाँ मानव अवस्था में स्थित परमात्मा की चेतना मानो "दैत्य और सिन्धु" *(Devil and the deep)* के बीच फँसने के अनुभव से गुज़रती है। प्रचण्ड इच्छाओं और भावनाओं से उत्तप्त होने की दशा में, परमात्मा को अपने अधिकार में प्राप्त अनन्त शक्ति का प्रयोग करने की प्रबल उत्तेजना अथवा प्रलोभन, इस वेला में एक धोखेबाज़ दुश्मन सिद्ध होता है जबकि मानव अवस्था में स्थित सूक्ष्म-चैतन्य परमात्मा की चेतना का प्रतिवर्धन अटल और तीव्र गति से मन भुवन की ओर अग्रसर होता है जहाँ उसको सकल इच्छाओं, भावनाओं और विचारों के ऊपर प्रभुता प्राप्त हो जायगी।

यद्यपि मन भूमिका से निकली अपने शिखर पर पहुँची हुई

इच्छायें, जो चौथी भूमिका में मानव अवस्था में स्थित परमात्मा की चेतना का सामना करती हैं, (चौथी भूमिका पर मानव अवस्था में स्थित) परमात्मा के ऊपर हावी हो जाती हैं, और यदि परमात्मा अनन्त प्राण शक्ति से पैदा हुई शक्तियों को, जो उसके अधिकार में होती हैं, विमुक्त कर देता है, तब इस बेला में अनन्त प्राण शक्ति की विमुक्ति का अनुभव बहुधा प्राणघातक सिद्ध होता है, खासकर उस समय जब वह अनन्त शक्ति द्वारा विमुक्त हुई शक्तियों का भद्दा दुरुपयोग अविवेक के साथ स्वार्थी उद्देश्यों की तुष्टि करने के लिये करता है।

इस बेला में चौथी भूमिका पर यदि प्राण भुवन की अनन्त प्राण शक्ति की शक्ति अविवेकपूर्वक विमुक्त की जाती है, तो उस प्राण शक्ति की पूर्ण विमुक्ति के परिणाम स्वरूप होने वाला प्रभाव स्थूल चेतना के लिये प्राय: अकल्पनीय होता है। तथापि, उस परिणाम का अनुमान अणु शक्ति की विमुक्ति के मनमौजी अनुभवों से लगाया जा सकता है, जो अणुशक्ति प्राण भुवन की अनन्त शक्ति का केवल एक स्थूल अंग होती है।

इस प्रकार, यदि मानव अवस्था में स्थित परमात्मा की प्रतिबिंबित चेतना चौथी भूमिका में अनन्त शक्ति की पूर्ण विमुक्ति का अनुभव करने के प्रलोभन के अधीन हो जाती है तो उसका अनिवार्य अनुभव इतना कठोर होता है कि प्राप्त हुई पूर्ण चेतना, और अनुभव हुई सूक्ष्म चेतना बिल्कुल खण्ड-खण्ड होकर अत्यन्त-सीमित चेतना के रूप में हो जाती हैं, और एक बार फिर से परमात्मा की एकरूपता पत्थर की अत्यन्त सीमित स्थूल योनि से कर देती हैं। इसके फलस्वरूप, पाषाण-चेतनायुक्त परमात्मा की चेतना को अनिवार्यरूप से एक बार फिर चेतना की पूरी प्रक्रिया से होकर गुज़रना होता है, और उसको अपनी एकरूपता स्थूल रूपों से करनी पड़ती है जब तक कि वह मनुष्य से एकरूपता नहीं कर लेता और फिर से पूर्ण चेतना प्राप्त नहीं कर लेता।

यह एक सत्य बात है कि जब चेतना एक बार प्राप्त हो जाती है तो फिर उसका कभी ह्रास नहीं हो सकता, किन्तु चौथी भूमिका से चेतना का खण्डित होना इस नियम का एकमेव अपवाद है। चेतना का यह खण्डन केवल चौथी भूमिका की चेतना के उदाहरण में होता है और वह भी केवल बहुत-बहुत दुर्लभ होता है, जब परमात्मा उस भूमिका की शक्तियों का दुरुपयोग करने के प्रलोभन के अधीन हो जाता है।

यद्यपि परमात्मा मानव अवस्था में चौथी भूमिका में अनन्त

शक्ति की शक्तियों का दुरुपयोग नहीं करता वरन् उनका प्रयोग विवेकपूर्वक करता है, और इच्छाओं के वशीभूत नहीं होता,* तब चेतना के और अधिक प्रतिवर्धन के साथ सूक्ष्म-चेतना से सम्पन्न परमात्मा मानव अवस्था में मन भुवन की छठवीं भूमिका का प्रत्यक्ष अनुभव करता है, जबकि वह मन भुवन की पाँचवीं भूमिका के अनुभवों को लाँघ कर निकल जाता है।

किन्तु, यदि चौथी भूमिका में मानव अवस्था में परमात्मा अनन्त प्राण शक्ति का न तो उपयोग करता है और न दुरुपयोग करता है, तब क्रमशः, चेतना के और अधिक प्रतिवर्धन के साथ, मानव अवस्था में सूक्ष्म चेतनायुक्त परमात्मा चेतना की चौथी भूमिका में मन भुवन के प्रवेशद्वार को लाँघ जाता है और चेतना की पाँचवीं भूमिका का अनुभव करने लगता है।

चेतना की पाँचवीं और छठवीं भूमिकायें मूल रूप से मन के मनो-लोक की भूमिकायें होती हैं। मनो-जगत में मानव अवस्था में स्थित मनो-चेतनायुक्त परमात्मा अपने मन का स्वामी होता है, जबकि स्थूल और सूक्ष्म जगतों में, जब वह स्थूल- और सूक्ष्म-चेतनायुक्त था, तब वह अपने मन का दास था।

मानव अवस्था में स्थित सूक्ष्म चेतनायुक्त परमात्मा की चेतना के प्रतिवर्धन की प्रगति के साथ, मन भुवन की पाँचवीं भूमिका के अनुभव मनो-इन्द्रिय द्वारा होते हैं जो केवल देखने का अनुभव होता है।

---

* (इच्छाओं को "चैतन्यरूप से" सफ़ाया हो जाना चाहिये क्योंकि वे नये संस्कार पैदा कर सकती हैं और अगली पारी में और आगे इच्छायें पैदा कर सकती हैं जो और अधिक बन्धनकारी कर्मों की ओर अग्रसर कर सकती हैं। चेतना, यथार्थ "खुदी" के साथ लगी रहने के बजाय, ऐसे संस्कारों और उनके भौतिक आविर्भाव के साथ पहले से ही लगी रहती है। यदि ये संस्कार चैतन्यरूप से मिट जाते हैं, तो "आत्मा सत्य" को देखना प्रारम्भ कर देगी, और अपनेआपको सांसारिक इच्छाओं की क्रूरता से मुक्त करना प्रारम्भ कर देगी। व्यक्ति (जीवात्मा), इच्छाओं का जीवन से निकल जाने पर, आत्मा बन जाता है, और वह सदैव अचैतन्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा होता है। हमारे जीवित रहने के समय में ही जीवन को अवश्य त्याग देना चाहिये। अचैतन्यता की चेतनता क़ायम रखने के समय सांसारिक इच्छाओं का त्याग करना जीवन का लक्ष्य है। —सम्पादक)

मानव अवस्था में स्थित, जब परमात्मा मनो-चेतना से युक्त होता है तो उसको स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीरों की चेतना नहीं होती किन्तु वह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर द्वारा, सीधेसीध नहीं बल्कि मन भूमिका पर, और मन-भूमिका से, कार्य करता है। इस प्रकार मानव अवस्था में स्थित मनो-चेतनायुक्त परमात्मा को स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की चेतना नहीं होती, और इसलिये उसको स्थूल और सूक्ष्म जगतों के अनुभवों की अनुभूति नहीं होती; वह अब भी अचैतन्य रूप से स्थूल शरीर का उपयोग स्थूल के विविध अङ्गों के द्वारा कर सकता है। इस प्रकार वह खाता, पीता, सोता, देखता, सुनता, और महसूस करता दिखाई पड़ता है जैसा मामूली स्थूल चेतनायुक्त मनुष्य-रूप में होता है, यद्यपि उसे पूरे समय केवल "देखने" की अपनी मनो-इन्द्रिय के द्वारा केवल कारण शरीर की चेतना रहती है। इसी प्रकार वह अचैतन्य रूप से अपने सूक्ष्म शरीर का उपयोग अनन्त शक्ति के विविध पहलुओं के द्वारा कर सकता है और इस प्रकार वह तेज़ी के साथ इधर-उधर घूमता फिरता और काम करता देखा जाता है जबकि सारे समय उसे केवल कारण शरीर-मन-की चेतना रहती है और वह केवल चैतन्य रूप से मनो-जगत का अनुभव अपनी मनो-इन्द्रिय से करता है। मानव अवस्था में मनो-लोक में मनो-चेतनायुक्त परमात्मा को अब केवल एक इन्द्रिय ज्ञान रहता है और वह है "देखने" का। मन चेतना की पाँचवीं भूमिका के आर-पार बलात् क़ायम रहता है। चेतना की छठवीं भूमिका में, मन स्वयं अन्तर्चक्षु बन जाता है और परमात्मा को देखता है। चेतना की सातवीं भूमिका में, मन का नाश हो जाता है।

अतः यही कारण है कि मानव अवस्था में पाँचवीं भूमिका पर मानसिक-चेतनायुक्त परमात्मा उन संस्कारों का अनुभव करता है जो उसके "देखने" के मानसिक बोध के द्वारा पैदा होते हैं और उसके फलस्वरूप वह मन भुवन का अनुभव कारण शरीर (मन) के द्वारा करता है। अब उसको केवल मन की चेतना प्राप्त रहती है। इस स्थिति में, मानव अवस्था में परमात्मा, सूक्ष्म चेतनायुक्त और स्थूल चेतनायुक्त मानवरूपों में, स्थूल चेतनायुक्त और सूक्ष्म चेतनायुक्त अवस्थाओं के मनों के ऊपर नियन्त्रण रखने की क्षमता रखता है।

किन्तु पाँचवीं भूमिका में, मनो-चैतन्य परमात्मा मानव स्थिति में कोई भी चमत्कार करने में बिल्कुल असमर्थ होता है क्योंकि अब वह

मनो-भुवन में होता है और अनन्त शक्ति के सूक्ष्म लोक में नहीं होता, जो अनन्त शक्ति, विमुक्त होने पर, चमत्कारी शक्तियों के रूप में फलीभूत होती है। फिर भी, क्योंकि वह मानव-चेतनायुक्त होता है और मूर्तमान "मन" बनने के लगभग होता है, इसलिये वह परमात्मा की सूक्ष्म-चेतनायुक्त अवस्था के मनों का नियन्त्रण करता है और वह स्रोत बन जाता है जो सूक्ष्म चेतना की अवस्था में होने वाले व्यक्तियों को चमत्कार करने के लिये उकसाता है। वह, वह एक है जो, मानव-चैतन्य अवस्था में, अपने मन की इच्छा तथा मर्ज़ी के अनुसार, सूक्ष्म-चैतन्य भूमिकाओं में स्थित लोगों के मनों को चमत्कार करने अथवा न करने में रोकने, नियन्त्रण करने अथवा पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होता है, यद्यपि वह खुद अपनी मानव-चैतन्य अवस्था में कोई चमत्कार नहीं कर सकता।

परमात्मा मानसिक चेतना की मानव अवस्था में, स्थूल और सूक्ष्म-चेतन अवस्थाओं में स्थित सब मनों के विचारों, इच्छाओं और भावनाओं को पैदा करने और उन पर नियन्त्रण रखने में समर्थ होता है। वह खुद स्थिर होता है जैसे ही उसको पाँचवीं भूमिका की अवस्था का अनुभव होता है, जिस अवस्था से इतनी दूर तक प्रतिवर्धित हुई चेतना कभी अधःपतित अथवा खण्डित नहीं हो सकती।

जैसे-जैसे मानव अवस्था में स्थित मनो-चेतनायुक्त परमात्मा की चेतना का प्रतिवर्धन क्रमशः गहरा और गहरा होता है, वैसे-वैसे उसको मन के ऊपर अपनी प्रभुता का अनुभव होता है, और मनो-चैतन्य परमात्मा की चेतना मूर्तमान मन कही जाती है। इस प्रकार मानव अवस्था में परमात्मा को अब मन अथवा कारण शरीर की भरपूर चेतना प्राप्त हो जाती है और उसे मनो-चेतना की छठी भूमिका में समस्त मनो-लोक अथवा मन भुवन का अनुभव होता है। यह अनुभव परमात्मा को उसकी मूल अवस्था में आमने-सामने "देखने" का होता है। यह "देखना", "देखने" के मानसिक बोध द्वारा मानसिक चेतना को देखने का है। दूसरे शब्दों में, मानव अवस्था में परमात्मा परमात्मा को हर जगह और हर चीज़ में देखता है।

ठीक पहली भूमिका से छठवीं भूमिका तक, चेतना का प्रतिवर्धन क्रमशः और अटलरूप से उन्नत होता गया जैसे जैसे, परमात्मा की चेतना विविध और बहुमुखी विपरीत संस्कारों के अधिक कम और अधिक दुर्लभ अनुभवों से गुज़रती गई, और वे विपरीत संस्कार क्षीण और क्षीण

होते गये। इसलिये, परमात्मा की चेतना के प्रतिवर्धन की प्रगति की अवधि में, विविध विपरीत संस्कार क्रमशः कम होते गये और क्षीण होते गये जब तक कि परमात्मा की प्रतिवर्धित चेतना को छठवीं भूमिका में कारण शरीर की पूर्ण चेतना प्राप्त न हुई और उसने मन भुवन का अनुभव किंचित्मात्र संस्कारों के बग़ैर भरपूर न किया, सिवाय द्वन्द्वों के शेष संस्कारों के एक अन्तिम क्षीण निशान के। दूसरे शब्दों में, प्रतिवर्धित चेतना मन के साथ पूर्ण एकरूपता करती है और परमात्मा यह अनुभव करने की ओर झुकता है कि वह मन है। अब परमात्मा मानव अवस्था में मन के रूप में अन्तिम सीमित संस्कार रखता है कि वह मन के रूप में परमात्मा को सब चीज़ों में, सिवाय खुद अपने में, आमने-सामने देखता है। परमात्मा की यह अवस्था मानव अवस्था में चेतना की छठवीं भूमिका की है।

छठवीं भूमिका की मानव अवस्था में स्थित मनो-चैतन्य परमात्मा का सामना, जो इस बिन्दु पर प्रायः सक्रिय रूप से सकल संस्कारों से रहित होता है और उसे केवल मन की चेतना रहती है, अब खुद परमात्मा से होता है और वह उसको आमने-सामने देखता है, और वह उसको प्रत्येक चीज में भी देखता है, किन्तु वह अपनी सत्ता को परमात्मा में नहीं देखता क्योंकि उसमें अब भी मन की चेतना का संस्कार रहता है और वह अपने को मन के रूप में मानता है।

मानव अवस्था में स्थित इस मनो-चैतन्य परमात्मा को, जो मन से अपना साहचर्य रखता है, मन के रूप में खुद अपनी चेतना होती है और वह अब भी अपने को ईश्वर के अलावा और कोई होने का अनुभव करता है, क्योंकि वह यथार्थ में परमात्मा को अपनी मनो-चेतना के द्वारा आमने-सामने देखता है। तब, वह परमात्मा को, परमात्मा की स्थूल अथवा सूक्ष्म अवस्थाओं में देखने की अपेक्षा, अधिक स्पष्ट और घने रूप में देखता है; वह स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को स्थूल और सूक्ष्म जगतों में देख सकता है।

इस क्रम में परमात्मा की चेतना, जिसने विविध और असंख्य विपरीत संस्कारों का अनुभव किया था, अब द्वन्द्वों के द्वैध संस्कारों के अन्तिम चिन्ह का अनुभव करती है। इसलिये, मानव अवस्था में मनो-चैतन्य परमात्मा को छठवीं भूमिका पर अब भी दुई की चेतना रहती है, अर्थात् वह अपनी अनुरूपता मन के रूप में करता है और अपने

को परमात्मा से भिन्न मानता है।

मन भुवन में चेतना के प्रतिवर्धन को अधिक स्पष्टरूप से समझने के लिये, यह समझना आवश्यक है कि चेतना की पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं का मानसिक क्षेत्र मन का प्रदेश है। मनो-भूमिकाओं के इस मन के दो विभाग होते हैं।

पहले भाग में मन की अवस्था जांच पड़ताल करने वाली अथवा प्रतिबिम्बित करने वाली होती है। इस अवस्था में मन विचारों के रूप में कार्य करता है—ऊँचे विचार, नीचे विचार, अच्छे विचार, बुरे विचार, भौतिक विचार, आध्यात्मिक विचार तथा हर प्रकार, नमूना और अवस्था के विचार।

दूसरे भाग में मन की अवस्था प्रभावकारी अथवा सहानुभूतियुक्त होती है। इस अवस्था में मन सम्वेदनों के रूप में कार्य करता है—कष्ट भोगने और भावनाओं के सम्वेदन, इच्छाओं और आकांक्षाओं के सम्वेदन, वियोग की पीड़ा के सम्वेदन और हर प्रकार, नमूना तथा अवस्था के सम्वेदन।

चूँकि मनोलोक [*Sphere*] का मन स्पष्ट द्वैध क्रियायें करता है इसलिये यह अनिवार्य है कि मन के क्षेत्र में (अर्थात् मनोलोक में) अनुभवों को भी स्पष्ट रूप से दो प्रकार के होना चाहिये।

इस प्रकार मनोलोक में दो प्रदेश होते हैं। इसलिये चेतना की पाँचवीं भूमिका का प्रदेश विचारों का होता है, और चेतना की छठवीं भूमिका का प्रदेश सम्वेदनों का होता है।

इसके फलस्वरूप, मानव अवस्था में स्थित मनो-चैतन्य परमात्मा की चेतना पाँचवीं भूमिका में मन के पहले भाग से एकरूपता करती है, जो जाँच पड़ताल करने वाली अथवा मन को प्रतिबिम्बित करने वाली होती है। इसलिये यह मनो-चेतनायुक्त परमात्मा पाँचवीं भूमिका की मानव अवस्था में विचारों का विधाता और प्रभु होता है, क्योंकि वह मूर्तमान "विचार" होता है, और तदनुसार वह परमात्मा की सभी स्थूल- और सूक्ष्म-चैतन्य अवस्थाओं के सभी मनों के केवल विचार भाग पर नियन्त्रण रखने की क्षमता रखता है। इसका बहुधा ग़लत अर्थ लगाया जाता है कि यह परमात्मा की सकल स्थूल- और सूक्ष्म-चेतन्य अवस्थाओं के मनों का नियन्त्रण करता है, लेकिन सच बात यह है कि चेतना की पाँचवीं भूमिका में परमात्मा समग्र मन के ऊपर नियन्त्रण

नहीं रखता, किन्तु मन की केवल उस अवस्था पर नियन्त्रण रखता है जो विचारों के रूप में कार्य करती है।

मानव अवस्था में मनो-चैतन्य परमात्मा चेतना की पाँचवीं भूमिका में, केवल विचार उत्पन्न करने वाले, जाँच करने वाले अथवा प्रतिबिम्बित करने वाले मन के रूप में अपनी एकरूपता करता हुआ, मन के दूसरे भाग से अपनी एकरूपता नहीं करता और इसलिये वह अब भी संवेदनों (अर्थात् भावनाओं और इच्छाओं) के ऊपर प्रभुता स्थापित करने में असमर्थ होता है।

चेतना का प्रतिवर्धन और अधिक होने के साथ, मनो-चैतन्य परमात्मा पाँचवीं भूमिका की मानव अवस्था में अग्रसर होकर चेतना की छठवीं भूमिका में पहुँच जाता है जहाँ उसको मनोलोक के मन के दूसरे भाग की चेतना प्राप्त होती है और इस प्रकार वह मन के उस दूसरे भाग (अर्थात् प्रभावकारी अथवा सहानुभूति युक्त मन) की चेतना से अपना तादात्म्य करने के लिये प्रवृत्त होता है।

मानव अवस्था में चेतना की छठवीं भूमिका में मनो-चैतन्य परमात्मा को मनो-जगत का अनुभव होता है, और यह अनुभव उसको भावनाओं की पूर्ण एकरूपता के द्वारा "देखने" के मनो बोध से होता है, और इस प्रकार मानव अवस्था में परमात्मा विचार नहीं होता बल्कि मूर्तमान भावनायें होता है। इसलिये वह परमात्मा को आमने-सामने निरन्तर सब चीज़ों में और सब जगह देखने की भावनाओं का अनुभव चैतन्य रूप से करता है। उसे परमात्मा को निरन्तर हर जगह देखने की अनुभूति होती है किन्तु उसको खुद अपने को परमात्मा में परमात्मावत् देखने की अनुभूति नहीं हो सकती। इस कारण से वह परमात्मा को देखने की भावनाओं का पुनः मेल खुद अपनी ईश्वरवत् एकरूपता से नहीं कर पाता, क्योंकि वह अब भी अपनी एकरूपता भावनाओं से करता है। वह ईश्वर से मिलन प्राप्त करने के लिये तीव्र भावना रखता है, उत्कण्ठा करता है, और पीड़ित होता है, जिसको उसे इस स्थिति में आमने-सामने देखने की अनुभूति होती है।

मन के दूसरे भाग (संवेदनाओं) के साथ यह एकरूपता मानव अवस्था में ईश्वर की अवस्था है जहाँ ईश्वरीय प्रेम का प्रबल पहलू, जो अन्ततः ईश्वर से मिलन (अर्थात् चैतन्यरूप से ईश्वरीय अवस्था का साक्षात्कार) करा देता है, अत्यन्त शक्तिपूर्वक प्रगट होता है।

इसलिये यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि मनो-भुवन की पाँचवीं भूमिका केवल विचारों की पूर्ण चेतना की अवस्था मात्र है। केवल विचारों के नियन्त्रण और उत्पत्ति के ऊपर प्रभुता स्थापित होती है, और इच्छाओं तथा भावनाओं की अनुभूतियों के ऊपर प्रभुता अथवा नियन्त्रण नहीं रहता। किन्तु मनो-भुवन की छठवीं भूमिका भावनाओं की भरपूर चेतना की अवस्था है, और इस प्रकार नियन्त्रण के ऊपर तथा भावनाओं की उत्पत्ति के ऊपर प्रभुता स्थापित होती है और अब भावनाओं के प्रदेश में घुसकर जाने के लिये केवल एक विचार तक के लिये गुन्जाइश नहीं रहती।

छठवीं भूमिका की चेतना विचार-रहित होती है और वह परमात्मा की सब स्थूल- और सूक्ष्म-चेतन्य अवस्थाओं की भावनाओं पर नियन्त्रण करती है। इसका बहुधा ऐसा ग़लत अर्थ लगाया जाता है कि वह उन सब लोगों के हृदयों के ऊपर प्रभुता है जो परमात्मा की स्थूल- और सूक्ष्म-चैतन्य अवस्थाओं में हैं। वह तथाकथित हृदयों का संचालन अथवा नियमन नहीं करता किन्तु वह मनो-भुवन में मन के उस दूसरे भाग का नियन्त्रण और संचालन करता है जिससे भावनाओं और इच्छाओं की अनुभूतियों का प्रादुर्भाव होता है।

ईश्वर से प्रेम करना और उससे मिलने की उत्कण्ठा करना चेतना की छठवीं भूमिका में यथार्थरूप में और पूर्णतया प्रदर्शित होता है। केवल जब मन-भुवन की छठवीं भूमिका पार कर ली जाती है, तब माया का लोप संस्कारों के अन्तिम चिन्हों के लोप के साथ-साथ हो जाता है, और सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

मनो-चैतन्य परमात्मा मानव अवस्था में छठवीं भूमिका पर अब भी दुई का अनुभव करता है, क्योंकि चेतना की इस अवस्था में परमात्मा अपने को मन के रूप में पाता है और परमात्मा के रूप में नहीं पाता।

दुई का यह अनुभव आगे और आगे बढ़ता ही जाता है जब तक कि चेतना का अन्तिम प्रतिवर्धन चेतना की सातवीं भूमिका को प्राप्त नहीं कर लेता। चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया में यह अन्तिम और सातवीं स्थिति है जबकि मानव अवस्था में परमात्मा की पूर्ण चेतना अब पूरी तरह से अन्तर्मुखी हो गई है, इतनी पूरी तरह से अन्तर्मुखी हो गई है कि अब वह स्वयं अपनी ही सृष्टि की चीज़ों में लिप्त रहने के बजाय खुद अपने में चिपट और केन्द्रित हो गई है।

अब चूंकि पूरी चेतना का प्रतिवर्धन भरपूर हो गया है, अतः शून्यता के पदार्थ, जो दिखाव में अस्तित्व रखते हुये प्रतीत होते थे, अपने संस्कारों के साथ पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं।

शून्य के समागमों के संस्कारों के पूर्णरूप से नष्ट हो जाने के साथ, मानव अवस्था में परमात्मा की संस्कारों से लिप्त चेतना अपनेआप ईश्वर की संस्कारों से अछूती अथवा संस्काररहित चेतना के रूप में बदल जाती है, जिससे मानव अवस्था में परमात्मा को अपनी निपट रिक्तता की मूल अवस्था के अन्तर्गत चले जाने (*Passing-away-in*) का अनुभव होता है। यह निपट स्वाभाविक बात है कि पूरी चेतना को, जो भरपूर प्रतिवर्धित हो चुकी है, और जो अब किसी भी संस्कार के नामो निशान से भी मुक्त है, परमात्मा की मूल, परम शून्य अवस्था के सिवाय और कोई दूसरा अनुभव प्रदान न करना चाहिये, जो किसी समय प्रबलता से छाया था और जिसका अब चैतन्यरूप से अनुभव होता है।

पूर्णतया प्रतिवर्धित यह भरपूर चेतना अलौकिक-चेतना अथवा महा-चैतन्य है। अचैतन्य परमात्मा को जो मूल, परम शून्य अवस्था में है, अब परात्पर परब्रह्म अवस्था में अपनी परमात्मा की मूल अवस्था की, अथवा अति-चेतना की, पूर्ण चेतना होती है।

परमात्मा की मूल अवस्था के इस परम शून्यता (*Vacuum*) के "अन्तर्गत चले जाने" को चेतना की सातवीं भूमिका के फ़ना का प्राप्त होना कहते हैं।

सूफ़ी भाषा में फ़ना का अर्थ है "अन्तर-में-चला-जाना"। फ़ना की दो श्रेणियाँ होती हैं : फ़ना की पहली श्रेणी निपट शून्य अवस्था का चैतन्य अनुभव है, और फ़ना अथवा फ़ना-फ़िल्ला की दूसरी श्रेणी "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का चैतन्य अनुभव है।

फ़ना-फ़िल्ला, की दूसरी श्रेणी, मानव अवस्था में परमात्मा का लक्ष्य है जहाँ मानव रूप में, अर्थात् मनुष्यवत्, परमात्मा अन्ततः पूर्ण चैतन्यता के साथ "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अनुभव करता है। यह अन्तिम मजज़ूबियत की अवस्था है जैसा सूफ़ी भाषा में कहा जाता है।

फ़ना की प्रथम श्रेणी के प्राप्त होने के बहुत पहले, मनुष्य रूप में परमात्मा को, मनुष्य रूपवत्, सीमित अहं अथवा "मैं", मन, शक्ति, शरीर और दुनियाँ की भरपूर चेतना एक साधारण जागृत अवस्था में

थी, क्योंकि मनुष्य अवस्था में, मनुष्यवत्, परमात्मा की पूर्ण चेतना उनके ऊपर उनके सीमित संस्कारों के द्वारा सीधेसीध केन्द्रित थी। और जैसे ही परमात्मा की चेतना मानव अवस्था में, मनुष्यवत्, प्रतिवर्धित होना शुरू हुई, वैसे ही प्रतिवर्धित चेतना को क्रमशः संस्कारों के द्वारा, जो हर छठवीं भूमिका में संचित और खर्च हुये थे, अधिमानस की छः भूमिकाओं का अनुभव क्रमशः हुआ। जब उप-अधिमानस पूर्णतया प्रतिवर्धित हो गया, अर्थात् खुद उसकी ओर भीतर को खिंच गया, तब मनुष्य अवस्था में परमात्मा ने, मनुष्यवत्, अधिमानस की सातवीं भूमिका प्राप्त की जो सब संस्कारों से रहित थी। उद्देश्य को प्राप्त करने में यह अन्तिम क्रम था।

चेतना के पूर्ण प्रतिवर्धन के साथ-साथ, और अधिमानस प्राप्त कर लेने पर, मन अन्तिम रूप से पूर्णतया नष्ट हो जाता है और सभी संस्कारों के साथ हमेशा के लिये लुप्त हो जाता है। सीमित अहं अथवा "मैं", मन, प्राणशक्ति, शरीर और दुनियाँ के मिथ्या अनुभव सबके सब हमेशा के लिये नष्ट हो जाते हैं, और उनका पूर्ण लोप हो जाता है, क्योंकि ये सब अनुभव उन संस्कारों की उपज मात्र थे जिनका उद्भव शून्य से हुआ था, जिनका शब्दशः कोई अर्थ न था और जो कुछ न थे।

इसके फलस्वरूप, सीमित अहं अथवा "मैं", मन, प्राणशक्ति, शरीर (आनन्द के प्रतिरूप में) और जगत अपने समस्त साजो सामान के सहित लुप्त हो जाने पर, परम शून्यता की एक अवस्था का अनुभव चेतना को स्वतः होता है, जो एकबार प्राप्त हो जाने के बाद शाश्वत रूप से बना रहता है। इस स्थल पर परमात्मा को, मानव अवस्था में मनुष्यवत्, अधिमानस के रूप में पूर्ण चेतना के साथ अब केवल परम शून्यता की चेतना होती है—अब चेतना स्वयं "परम शून्यता" पर स्थिर और केन्द्रित होती है।

यह शून्यता *[Vacuum]* अपनी पूर्णता के शिखर पर होती है; केवल शून्यता की प्रधानता रहती है और शून्य का तथा साथ-साथ सबकुछ का पूर्ण अभाव रहता है। इसलिये इसको "दिव्य, परम शून्यता", कहते हैं और इसका जन्म माया से नहीं होता, बल्कि इसकी उत्पत्ति सत्यता से होती है।

दिव्य शून्यता की यह अवस्था ठीक उस क्षण प्रबल होती है जब

शून्य का लोप हो जाता है अथवा नाश हो जाता है और तत्क्षण, उसके पहले कि सबकुछ "मैं-परमात्मा-हूँ" की अवस्था की यथार्थता का चैतन्य अनुभव देने के लिये, उस शून्यता में भर जाता है।

यह फ़ना की पहली स्थिति है जहाँ शून्य का सबकुछ पूर्णतया समाप्त हो जाता है और जहाँ अधि-मानस केवल निपट शून्यता पर केन्द्रित होता है, जो अब इस प्रकार व्याप्त होती है जैसी वह शाश्वतरूप से परमात्मा की मूल ईश्वर-है अवस्था में उसकी मूल, दिव्य, गहरी निद्रा में व्याप्त रहती है।

इसलिये, फ़ना की पहली अवस्था में परमात्मा की चेतना, मानव अवस्था में मनुष्यवत्, सीमित सत्व की अथवा अहं अथवा "मैं", मन, शक्ति, शरीर और जगतों की नहीं होती, और न तो वह ईश्वर तक की अथवा असीमित सत्व अथवा अहं अथवा "मैं" की, विराट मन, असीमित प्राणशक्ति, विराट शरीर और विश्वों की होती है; क्योंकि फ़ना की इस पहली स्थिति में केवल परम शून्यता की चेतना व्याप्त रहती है। यह शून्यता भी दिव्य शून्यता है; यह माया की नहीं है बल्कि यह सत्य की है। फ़ना की इस पहली स्थिति में परमात्मा की अति-चैतन्यता, मनुष्य अवस्था में मनुष्यवत्, मूल परमात्मा-है अवस्था की परम शून्य अवस्था के अन्तर-प्रवेश का अनुभव करती है, और अब उसको इस प्रकार केवल परम शून्यता की चेतना होती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, यह परम शून्य अवस्था भी एक साधारण मनुष्य की गहरी निद्रा अवस्था में प्रतिदिन स्थापित होती है जहाँ सीमित अहं अथवा "मैं", मन, प्राणशक्ति, शरीर एवं जगतों का भी लोप हो जाता है और प्राप्त हुई चेतना प्रसुप्त बनी रहती है।

एकमेव अन्तर, जो मनुष्य की प्रतिदिन की गहरी निद्रा की अवस्था की परम शून्य अवस्था के और फ़ना की पहली स्थिति में निपट शून्यता के अनुभव के बीच, वास्तव में बहुत भारी अन्तर पैदा करता है; वह यह है कि यद्यपि वही निपट शून्यता फ़ना में भी स्थापित होती है, फिर भी फ़ना में चेतना और अधिक प्रसुप्त नहीं रहती। इस स्थिति में वह पूर्ण और भरपूर परिपक्व चेतना होती है, जो अब यथार्थ में उसी परम शून्य अवस्था का अनुभव परमात्मा की मूल अवस्था के रूप में करती है।

फ़ना की पहली स्थिति का अनुभव निर्वाण अवस्था का होता है।

निर्वाण वह अवस्था है जहाँ प्रत्यक्ष रूप में "परमात्मा नहीं है"। केवल यही स्थिति है जहाँ "परमात्मा नहीं है" और "चेतना है"। फ़ना की पहली स्थिति का यह अनुभव वह है जिस पर बुद्ध ने ज़ोर दिया था, किन्तु बाद में इसका ऐसा ग़लत अर्थ लगा लिया गया जैसे बुद्ध ने इस बात पर बल दिया हो कि परमात्मा नहीं है। तथापि वास्तविकता यह है कि परमात्मा है; लेकिन फ़ना की पहली स्थिति की निपट शून्य अवस्था में केवल चेतना रहती है, और निपट शून्यता का अनुभव करती है।

चूंकि ऐसा कभी नहीं हो सकता कि परमात्मा का अस्तित्व न रहे, अतः निर्वाण की अवस्था में परमात्मा स्वयं चेतना का पार्ट अदा करता है, जो चेतना कभी-कभी अति-चेतना अथवा महा-चैतन्य कही जाती है।

फ़ना की दूसरी स्थिति इस निर्वाण अवस्था के पीछे-पीछे लगी आती है और "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अनुभव चैतन्य रूपसे होता है।

तथापि, केवल कुछ उदाहरणों में फ़ना की पहली स्थिति के तत्काल पीछे फ़ना की दूसरी स्थिति आती है, जिसे "फ़ना-फ़िल्लाह" कहते हैं, जहाँ नष्ट हुआ मिथ्या और सीमित अहं अथवा "मैं" का स्थान यथार्थ एवं अनन्त असीमित "मैं" ले लेता है जिसके ऊपर अब महा-चैतन्य अपनेआप केन्द्रित हो जाता है। इसी के साथ-साथ निपट शून्यता अपनेआप अनन्त के अनुभव से भर जाती है।

मानव अवस्था में, मानववत्, परमात्मा का महा-चैतन्य, जो अब असीमित "मैं" पर स्थिर और केन्द्रित होता है, स्वतः मनुष्य की एकरूपता अनन्त परमात्मा के साथ कर देता है। उसी समय एकरूपता के साथ-साथ, अनन्त परमात्मा के महा-चैतन्य को "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था के अनुभव प्राप्त होते हैं। यही लक्ष्य है।

लक्ष्य की प्राप्ति करना निर्विकल्प समाधि* को प्राप्त करना है।

---

* आत्मा को मुक्ति प्राप्त करने के लिये 'निर्वाण' की अवस्था से अनिवार्य रूप से गुज़रना पड़ता है। जन्म और मरण के चक्र से छुटकारा 'निर्वाण' और 'निर्विकल्प' दोनों में प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि 'निर्वाण' को 'लक्ष्य' माना जाता है, किन्तु यथार्थ बात यह है कि मानव रूप में स्थित मनुष्य के लिये वास्तविक 'लक्ष्य' 'निर्विकल्प' की प्राप्ति करना है। और, लक्ष्यवत् 'निर्वाण' तथा 'निर्विकल्प' लक्ष्य के बीच, ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है।

ठीक जिस प्रकार मनुष्य रोज़ रात को सोता है और प्रतिदिन मनुष्य की अवस्था में उसे अनिवार्य रूप से जागना पड़ता है उसी तरह जब कोई मनुष्य दैवी निद्रा में हो जाता है तो उसे भी दिव्यता में जागृत होना अनिवार्य है। इसी प्रकार फ़ना की पहली स्थिति पूरी चेतना से सम्पन्न गहरी निद्रा अवस्था है, और फ़ना का दूसरा क्रम, जो फ़ना फ़िल्लाह है, परमात्मा में परमात्मावत् जागरण की अवस्था है।

सारांश यह है कि, जब फ़ना की पहली स्थिति के पश्चात् तत्काल और अनिवार्यरूप से फ़ना-फ़िल्लाह[२०] की दूसरी अवस्था आती है, तब कुछ उदाहरणों में सीमित "मैं", "आत्मा", मन, प्राणशक्ति, शरीर और दुनियाओं की चेतना वापिस नहीं आती; किन्तु चेतना, अब केवल असीमित "मैं" की महाचैतन्यता के रूप में विद्यमान रहती है और वह विश्वव्यापी "आत्मा" अर्थात् परमात्मा से एकरूप होने के रूप में विद्यमान रहती है। अब महा-चैतन्यता "मैं-परमात्मा-हूँ", "अहं ब्रह्मास्मि" अथवा "अनल हक़" अवस्था का अनुभव करती है। यह निर्विकल्प समाधि का अनुभव है, जिसका अर्थ है "मैं निःसन्देह परमात्मा हूँ"। इसका अनुभव इस कारण से होता है क्योंकि फ़ना-फ़िल्लाह में आत्मा चैतन्यरूप से परमात्मा में पूरी तरह समा जाती है, अथवा फ़ना-फ़िल्लाह में आत्मा को परमात्मा से पूर्ण योग प्राप्त हो जाता है।

यह अनुभव लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति केवल चेतना के विकास के बाद, जो शून्य में प्रसुप्त था, हुई थी जब प्रसुप्त सीमित शून्य का आविर्भाव अनन्त शून्यता के रूप में हुआ था। विकसित हुई चेतना ने, जब वह अपने को शून्यता के क्षेत्र में अपार रूप से फँसाये थी, इस मिथ्या और सीमित शून्यता का अनुभव यथार्थ एवं अनन्त के रूप में किया। अन्ततः, जब इस चेतना का प्रतिवर्धन हुआ, वह अनन्त मिथ्या शून्यता की अनन्त असत्यता का अनुभव क्रमशः करने में समर्थ हुई, और अन्ततः अनन्त-परमात्मा की अनन्त सत्यता का यह अनुभव करने में समर्थ हुई कि वह निःसन्देह, और सीमितताओं के परे, सबकुछ है और फ़ना-फ़िल्लाह की "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था में शाश्वत सत् है।

यह फ़ना-फ़िल्लाह वह लक्ष्य है जहाँ "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अनुभव होता है; उदाहरण के लिये, उन लोगों को अनुभव होता है जो "मजज़ूब" (ऐसा मनुष्य जो परमात्मा द्वारा पराभूत हो गया है; अथवा ऐसा आदमी जिसका नियन्त्रण परमात्मा करता है) कहलाते हैं।

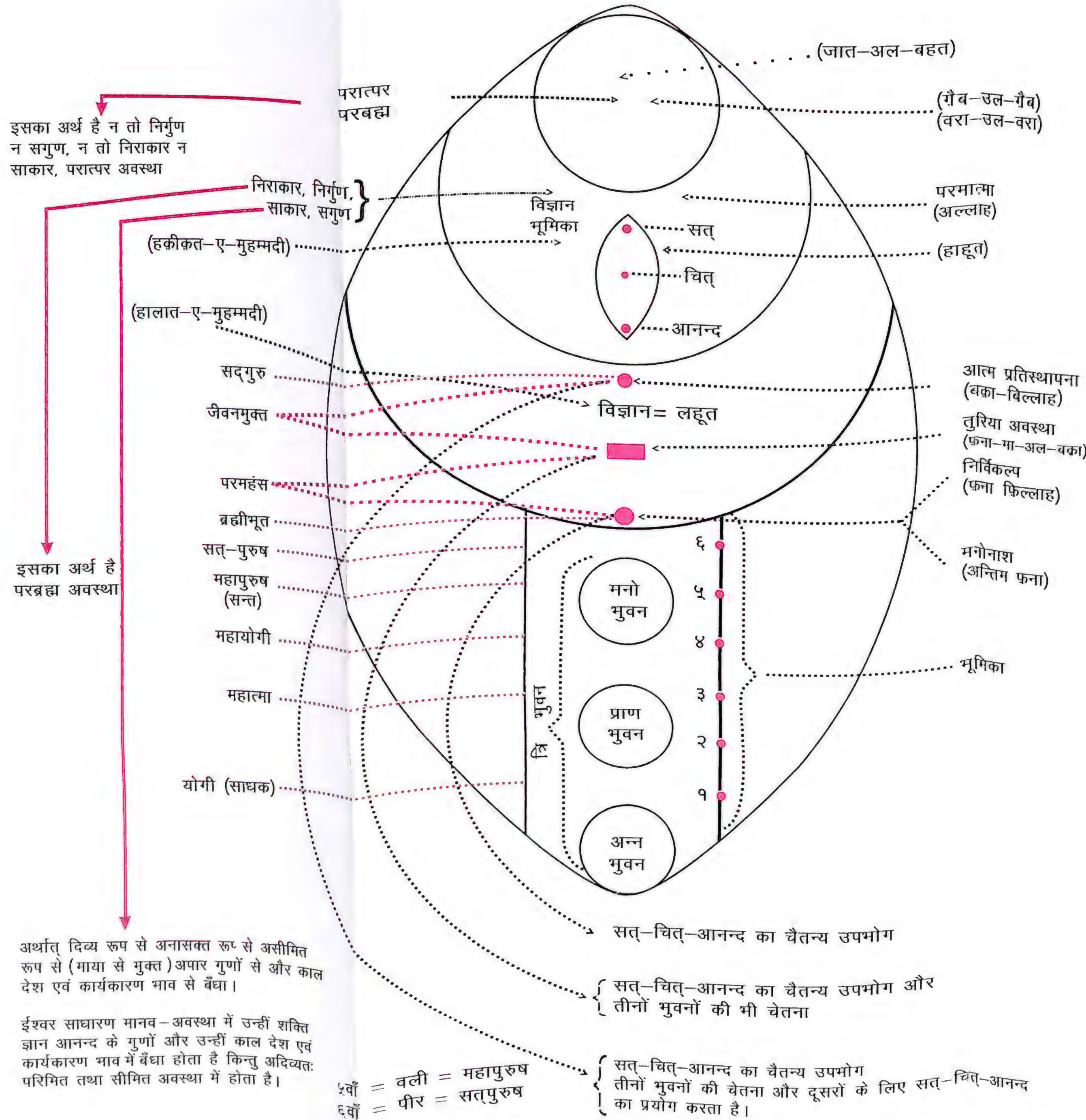
ये लोग "ब्रह्मीभूत" भी कहे जाते हैं। इस अवस्था में मनुष्य लगातार निरन्तर और चैतन्यरूप से "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अनुभव करता है और उसके साथ-साथ वह परमात्मा की अपार त्रि-प्रकृति "सत्-चित्-आनन्द" (अर्थात् अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द) का अनुभव चैतन्यरूप से खुद अपनी अनन्त प्रकृति के रूप में सतत् और चैतन्य रूप से करता है।

इस प्रकार ही वह आत्म-चैतन्य परमात्मा, मानव अवस्था में मानववत् सातवीं भूमिका में, अब अनन्त और शाश्वत रूप में आत्म *[Self]* की पूर्ण चेतना रखता है। अब उसको प्राणशक्ति और मन के स्रोत की भी चेतना होती है जो खुद उसकी अनन्त शक्ति और अनन्त ज्ञान के केवल सीमित पहलू थे, जिनका अनुभव अब वह सतत् अनन्त आनन्द में रहते हुये करता है।

आत्म-चेतना प्राप्त करने के अपने श्रम में, अखण्ड्य, शाश्वत् परमात्मा ने, जिसको अपनी अनन्त अवस्था की चेतना न थी, असंख्य विविध संस्कारों का सञ्चय एवं अनुभव किया, और पूरे समय अपना साहचर्य सीमित एवं नश्वर अस्तित्वों से किया और उसके द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगतों का प्रसार किया, जबकि स्थूल जगत की स्थूल चेतना को विकसित किया और जबकि सूक्ष्म और कारण जगतों की सूक्ष्म और कारण भूमिकाओं की चेतना को प्रतिबंधित किया। परमात्मा की चेतना का अन्तिम प्रतिवर्धन अपनी चरमसीमा पर परमात्मा की अनन्त अवस्था में उसके सत्व के चेतन साक्षात्कार में हुआ।

इसके फलस्वरूप जब परमात्मा की चेतमा को खुद की चेतना प्राप्त हो गई और उसको अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं आनन्द का अनुभव हुआ, तो परमात्मा ने अनुभव किया कि वह शाश्वत रूप से अनन्त आनन्द में विद्यमान है; और आत्म-चेतना प्राप्त करने के श्रम के पूरे दौरान में, संस्कार, अनुभव तथा स्थूल, सूक्ष्म और मनो-देहों और भुवनों के संसर्ग एवम् विच्छिन्नतायें शून्य के थे और खाली स्वप्न थे। उसने यह भी अनुभव किया कि स्थूल शरीरों, जीवधारियों और मानव-प्राणियों के साथ एकरूपता, तथा तीनों भुवनों के और छः भूमिकाओं के सम्पूर्ण अनुभव, उनके साजो-सामान सहित, अपने सापेक्ष अस्तित्व स्थित और धारित थे जब तक कि परमात्मा की चेतना अपरिपक्व थी। परिपक्वता केवल सातवीं भूमिका में प्राप्त हुई थी जिसमें चेतना पूर्णरूप

यात्रा



चार्ट – ९

वेदान्तिक	गूढ़	सूफ़ी
परात्पर परब्रह्म	ईश्वर की परात्पर परब्रह्म अवस्था	गैब–उल–गैब वरा–उल–वरा
परमात्मा	ईश्वर परब्रह्म अवस्था मे	अल्लाह
अनन्त	अपार	ला महदूद
निर्गुण	गुणातीत	ला सिफ़ात
निराकार	रूपरहित	ला सूरत
सत्–चित्–आनन्द	शक्ति.ज्ञान.आनन्द	कुदरत.मारेफत.मसर्रत
विज्ञान भूमिका	प्रभुत्व का प्रदेश	आलम ए हाहूत अर्श ए आला
आत्मप्रतिस्थापना सहज समाधि	ईश्वर के जीवन मे स्थापित	बक़ा बिल्लाह
विज्ञान	सर्वोच्च दिव्य चेतना	अहादियत आलम ए लहूत
सगुण	गुणयुक्त	बा सिफ़ात
साकार	रूप मे प्रकट	बा सूरत
ब्रह्मा	कर्ता	अफ़रीदगार
विष्णु	भर्ता	परवरदिगार
महेश	हर्ता	फ़नाकर
मनोभुवन	मनोलोक	आलम ए जबरूत
प्राणभुवन	सूक्ष्मलोक	आलम–ए–मलाकूत
अन्नभुवन	स्थूल लोक	आलम–ए–नासूत
उत्क्रान्ति	विकास	इरतेक़ा
पुनर्जन्म	पुनरावतरण	रिज'अत अथवा आवागवन
भूमिका	प्लेन	आसमान
आत्मा	जीवात्मा	जान अथवा रूह
जीवात्मा	देहधारी आत्मा	जान ए जिस्मी
मानव	व्यक्ति	इन्सान
योगी (साधक)	जिज्ञासु	रहरव
साधू	उन्नत आत्मा	मुतवस्सित
महात्मा	महानआत्मा	अख्यार
महापुरुष (सन्त)	सन्त	अबरार – वली
सत्पुरुष	प्रवीण तीर्थ यात्री (सन्त)	अफ़राद = पीर
मनोनाश (निर्वाण)	मन का नाश (आत्म)	अन्तिम फ़ना
निर्विकल्प	ईश्वर से ऐक्य	फ़ना फ़िल्लाह
ब्रह्मीभूत	दिव्यतः निमग्न	मजज़ूब–ए–कामिल
तुरिया अवस्था	दिव्य सन्धि	फ़ना मा अल बकाअत मुक़ाम–ए–फ़ुरूतात
परमहंस	दिव्य उन्नत–पुरुष	मजज़ूब सालिक अथवा सालिक मजज़ूब
जीवन मुक्त	बन्धन मुक्त देहधारी	आजाद–ए–मुतलक़
सद्गुरु	नर–नारायण	कुतुब
अवतार	ईश–पुरुष	साहब–ए–जमाँ

वेदान्तिक और वेदान्तिक के निकट अर्थ वाले शब्द

से प्रतिवर्धित हो गई थी। इस प्रक्रिया से परमात्मा को अपना साक्षात्कार हो गया, अथवा उसको ईश्वर-साक्षात्कार की पूर्ण चेतना प्राप्त हो गई। दूसरे शब्दों में, स्वयं परमात्मा की अपार अवस्था का साक्षात्कार चैतन्य रूप से स्वयं परमात्मा ने किया जब उसने "मैं-ईश्वर-हूँ" अवस्था प्राप्त की।‡

दूसरे शब्दों में, परमात्मा पहले स्थूल में निर्मित होने की प्रक्रिया से होकर गुजरता है; अर्थात्, स्थूल में, परमात्मा अन्न भुवन का शरीर बन जाता है। इसके पश्चात् वह सूक्ष्म शरीर में प्राण भुवन *[Subtle Sphere]* की प्राणशक्ति बन जाता है। इसके पश्चात् वह मन के प्रदेश में मनो भुवन *[Mental Sphere]* का मन बन जाता है। इसके परे विज्ञान में परमात्मा परमात्मा बन जाता है—अर्थात् वह बन जाता है जो वह था और जो वह है और जो वह सदैव रहेगा। इसलिये परमात्मा, जो मूल रूप में अचैतन्य था, अब खुद विस्मृत को भूल जाता है और अपने मूल प्रथम शब्द, "मैं कौन हूँ ?" का यथार्थ और अन्तिम उत्तर "मैं परमात्मा हूँ" पाता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और मनो लोकों में परमात्मा वास्तव में वह बन जाता है जो वह वास्तव में नहीं है; और विज्ञान में वह यथार्थ में वह बन जाता है जो वह यथार्थ में है। मूल अवस्था में परमात्मा परमात्मा था; अब परमात्मा परमात्मा बन गया है।

क्योंकि परमात्मा, फना के पहले क्रम में परम शून्यता की अपनी मूल अवस्था में प्रविष्ट हो जाने के बाद, फना की दूसरी स्थिति में "मैं-परमात्मा-हूँ" की खुद अपनी अनन्त अवस्था का साक्षात्कार करता है, इसलिये यह फ़ना (अर्थात् फना-फिल्लाह) का लक्ष्य बन जाता है और लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति का अर्थ है प्रथम ईश्वरीय-यात्रा का अन्त, जो ज्ञान-मार्ग से शुरू हुई थी, और जो चेतना की सभी भूमिकाओं को

---

‡ ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त करने का आनन्द सकल सृष्टि का उद्देश्य है। वास्तविक आनन्द जो ईश्वर का अनुभव प्राप्त करने से होता है वह विश्व में सकल शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं के महत्व के बराबर होता है। तब सभी क्लेश ऐसा होता है जैसे वह हुआ ही नहीं था। ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त करने का आनन्द आत्म-शान्ति होता है, शाश्वतरूप से नवीन और अटल होता है, असीमित और अकथनीय होता है; और इसी आनन्द के लिये दुनियाँ अस्तित्व में आई है।

पार करने के बाद देवत्व की प्राप्ति में समाप्त हुई थी।

फना की दूसरी स्थिति ईश्वरत्व प्राप्त करने की क्रिया है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य परमात्मा बन गया है। मनुष्य अब परमात्मा है और परमात्मा के ज्ञान का, परमात्मा की शक्तियों का और परमात्मा के आनन्द का अनुभव करता है; किन्तु यह अब भी "पूर्णता" नहीं है, यद्यपि यह लक्ष्य है। फना अथवा फना-फिल्लाह की दूसरी स्थिति में, जो पहली ईश्वरीय यात्रा का अन्त है, मनुष्य ईश्वर में प्रविष्ट हो गया है और इस प्रकार परमात्मा बन गया है, किन्तु वह अब भी ईश्वर के जीवन में प्रविष्ट नहीं हुआ। मनुष्य पहली ईश्वरीय यात्रा के अन्त में केवल अनुभव करता है कि वह परमात्मा है और साधारण रूप से "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अनुभव करता है और उसके साथ-साथ अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द के अनुभव करता है, और अनन्त आनन्द की अवस्था का रस लेता है।

पहली ईश्वरी यात्रा के अन्त में लक्ष्य प्राप्त हो जाने के बाद, किन्तु बहुत-बहुत दुर्लभ स्थिति में, मानववत् परमात्मा, अब परमात्मा की स्थिति में, अनन्त आनन्द को छोड़ सकता है और महा-चैतन्य "मैं-ईश्वर-हूँ" अवस्था से उतर कर साधारण चेतना में आ सकता है और बक़ा की अवस्था का अनुभव करने लगता है, और इस प्रकार वह दूसरी ईश्वरी यात्रा में प्रवेश कर सकता है।

सूफ़ी शब्द "बक़ा" का अर्थ होता है "अन्तर-में-निवास करना।"२१

महा-चैतन्य अवस्था "मैं-परमात्मा-हूँ" की अवस्था से उतर कर साधारण चेतना में आने और परमात्मा अवस्था में "अन्तर-निवास" का अनुभव करने का अर्थ होगा स्वयं ईश्वर के ही जीवन में स्थापित होना। इस प्रकार बक़ा में एक मानव प्राणी के अन्तर में परमात्मा का जीवन स्थापित होता है। इसका अर्थ यह है कि बक़ा में मनुष्य अपने को चैतन्य रूप से परमात्मा के रूप में स्थापित करता है। यह चेतना "सुलूकियत" अथवा "परमात्मा के जीवन में स्थापित होने" की साधारण चेतना कहलाती है। इस अवस्था से भिन्न, मजज़ूबियत अथवा "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था में "अनन्त आनन्द में डूब जाना अथवा समा जाना है।" तदनुसार, मानववत् परमात्मा, बक़ा की अवस्था का अनुभव करता हुआ सूफ़ी शब्दावली में यथार्थ "सालिक" कहलाता है। यथार्थता

और ईश्वरत्व का यह बका "बका-बिल्लाह" कहलाता है। वेदान्त में उसको "आत्म-प्रतिष्ठापना" कहते हैं।

सालिक को न केवल अनन्त शक्ति और अनन्त ज्ञान का अनुभव अनन्त आनन्द की अवधि में होता है, जैसाकि मजजूबियत में होता है, बल्कि अब वह सालिक होते हुये, चैतन्य रूप से सम्पूर्ण अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का सञ्चय करता है जबकि वह अपनी सुलूकियत की साधारण चेतना के सहित परमात्मा के जीवन में स्थापित होता है।

किन्तु अन्तिम फना-फिल्लाह अवस्था की यथार्थता में अन्तिम तथा यथार्थरूप से "प्रविष्ट होने" के पहले—जो भरपूर चेतना से पूर्णतया परिपक्व होती है, और ईश्वरत्व के अन्तिम बका-बिल्लाह में स्थापित होने के पहले—आमतौर पर माया के शब्दों में प्रकट किया जा सकता है कि फना-बका के व्यक्तिगत अनुभव इतने अधिक होते हैं जितने कि सृष्टि में जीवन की विविध और असंख्य उपजातियाँ एवं अवस्थायें होती हैं।

तथापि, फना-बका के तीन मूल प्रकारों के अन्तर्गत फना-बका के सम्पूर्ण व्यक्तिगत अनुभव शामिल होते हैं।

तीन मूल प्रकारों में से पहला प्रकार अविकसित होता है। यह प्रकार माया के अन्तर्गत चमत्कारिक मिथ्या जीवन का फना-बका है जिसका अनुभव उन सबको होता है जो, फना में प्रतिदिन "प्रविष्ट-रहते-हुये", हर रोज़ माया में निवास करने के लिये *(Abide-in)*, बका प्राप्त करते हैं। साधारण चमत्कारी मिथ्या जीवन का यह अविकसित फना-बका सामान्य गहरी निद्रा अवस्था और सामान्य जागृत अवस्था से गठित होता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, उस समय भी जब मनुष्य माया के सम्पूर्ण संस्कार लिये हुये गहरी निद्रा में "चला जाता है" तब भी ईश्वर-है अवस्था की वही मूल ईश्वरीय परम शून्यता स्थापित हो जाती है, जहाँ कभी किसी चीज़ का अस्तित्व न था और जहाँ कभी किसी चीज का अस्तित्व नहीं रहता, सिवाय एक अनन्त और एकमेव सत्य सबकुछ के रूप में रहता है, जो अपनी परमात्मा-है अवस्था में परमात्मा की अनन्तता कहलाती है। जब माया के संस्कार, जिनको लिये हुये मनुष्य सोता है, मनुष्य को जगाते हैं, तब मनुष्य जागृत अवस्था में स्वयं

माया में वास करता है और माया के अन्तर्गत दैनिक जीवन स्थापित करता है।

तदनुसार, दैनिक जीवन में, जब मनुष्य गहरी नींद में सो जाता है, तब फ़ना स्थापित हो जाता है जैसे ही मनुष्य प्रतिदिन चेतना के बग़ैर मूल परमात्मा अवस्था में "प्रविष्ट होता है"। और जब मनुष्य प्रतिदिन जागता है, तब उसको माया के प्रतिदिन के जीवन में "वास करने के लिये" बक़ा प्राप्त होता है, जब तक कि गहरी निद्रा उसको, एकबार फिर, दैनिक फ़ना की अवस्था में—जो मनुष्य की परम शून्यता की मूल दिव्य अवस्था है—बलात् घसीट नहीं ले जाती।

दूसरे प्रकार का फ़ना-बक़ा लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में मार्ग पर भूमिकाओं का होता है और वह माया में अविकसित प्रकार के साधारण चमत्कारिक मिथ्या जीवन से भिन्न होता है, यद्यपि भूमिकाओं का यह दूसरी प्रकार का फ़ना-बक़ा भी भ्रम है।

प्रत्येक भूमिका में, पथ में पहली भूमिका से लेकर छठवीं भूमिका के आर पार, विकसित हुई पूर्ण चेतना क्रमशः अन्तर की ओर खिंच रही है अथवा प्रतिबम्बित हो रही है। अस्तु भूमिकाओं का फ़ना-बक़ा उन संस्कारों के अनुसार होता है जो प्रतिवर्धित होती हुई चेतना में भरे रहते हैं और वह संस्कारों से रञ्जित चेतना के अविकसित फ़ना-बक़ा के प्रथम प्रकार से भिन्न होता है—जो संस्कारयुक्त चेतना पूर्णतया विकसित होती है अथवा अब भी विकास की प्रक्रिया में होती है।

फ़ना-फ़िल्लाह के लक्ष्य की दिशा में मार्ग पर प्रत्येक भूमिका को अपना फ़ना-बक़ा प्राप्त होता है जबकि पूर्ण विकसित हुई चेतना, भूमिकाओं में प्रगतिशील उन्नति के योग से, क्रमशः प्रतिवर्धित हो रही है।

किन्तु आमतौर पर सूफ़ी शब्द "फ़ना" का अर्थ होता है—मूल परमात्मा-है अवस्था की परम शून्यता में "समा जाना"। इसलिये, फ़ना चाहे साधारण चमत्कारी मिथ्या जीवन के अविकसित प्रकार का है अथवा मार्ग पर भूमिकाओं के दूसरे प्रकार का है, इससे बिल्कुल कोई अन्तर नहीं पड़ता। दोनों प्रकारों में फ़ना ("अन्तर में समा जाना") मूलरूप से वही है, क्योंकि प्रतिदिन गम्भीर निद्रा की अवस्था में संस्कारों से भरी चेतना, दोनों सूरतों में, परम शून्यता की उसी अवस्था में समा

जाती है, और माया के संस्कारों के प्रकारों में भरे सकल भेदों पर कोई ध्यान नहीं देती।

यद्यपि फना विकसित होती हुई चेतना और प्रतिवर्धित होती हुई चेतना दोनों में सदैव वही रहती है, फिर भी चेतना माया के संस्कारों के प्रकारों से भरी होती है, जबकि वह जागृत अवस्था के दौरान में माया के अन्तर्गत वास करती है, वह वास्तव में महत्वपूर्ण होती है, और वह भिन्नता पैदा करती है जबकि वह गम्भीर निद्रा अवस्था में अथवा फना की अवस्था में समा जाती है।

उदाहरण के लिये, किसी पशु अथवा जीवधारी का फना गहरी निद्रा अवस्था में, अपने निजी खास मायावी संस्कारों को लिये हुये, परम शून्यता में "प्रविष्ट होता हुआ", एक मानव प्राणी के फना से बिल्कुल भिन्न होता है जो माया के अपने निजी खास संस्कारों के साथ परम शून्य की गहरी निद्रा अवस्था में होता है। इसी प्रकार से, एक साधारण मानव प्राणी के मायावी संस्कार एक मानव प्राणी के मायावी संस्कारों से, मार्ग की भूमिकाओं में, बिल्कुल भिन्न होंगे।

सब दशाओं में, यद्यपि फना के विभिन्न प्रकार सदैव फना के रूप में बने रहते हैं, फिर भी विभिन्न संस्कार जो जागृत अवस्था के बक़ा में व्यक्तिगत चेतना में भरे होते हैं, सृष्टि में जीवन की प्रत्येक और सब उप-जातियों के एवं अवस्थाओं के व्यक्तिगत हुये फना को जन्म देते हैं।

उसके विपरीत, जब व्यक्तिगत हुये जीवन का बक़ा, फ़ना की गहरी निद्रा अवस्था के बाद, जागृत अवस्था में प्राप्त हो जाता है, तब बक़ा, जिसका अर्थ सूफ़ी शब्दों में "अन्तर-में-निवास" करना है, माया में प्रतिदिन व्यक्तिगत हुये मायावी जीवन को स्थापित करता है और यह स्थापना वह उन प्रबल संस्कारों के अनुसार करता है जिनके साथ व्यक्तिगत हुआ जीवन "गुज़र गया" था—गम्भीर निद्रा अवस्था में, उसके व्यक्तिगत हुये फना की अवस्था में माया के विविध संस्कारों की विविधता से गुज़र गया था। इस रूप में, प्रत्येक व्यक्तिगत हुआ बक़ा प्रत्येक अन्य बक़ा से पूर्णतया भिन्न होता है, क्योंकि जब यह व्यक्तिगत हुआ बक़ा जागृत अवस्था में प्राप्त होता है, तो प्रत्येक व्यक्तिगत हुये जीवन के संस्कारों से भरी चेतना के संस्कार ही माया के व्यक्तिगत हुये जीवन को माया में स्थापित करने के ज़िम्मेदार होते हैं।

अस्तु, इसी प्रकार से ही नियमित, अटल अनुक्रम में माया के फ़ना के पीछे, गहरी निद्रा अवस्था में, माया का बक़ा जागृत अवस्था में अनिवार्यरूप से आता है, जो अपनी पारी में अनिवार्य फ़ना में लुप्त हो जाता है—केवल बार-बार बदलने और पुनः स्थापित करने के लिये, दिन प्रतिदिन, वर्ष के बाद वर्ष, जीवन के बाद जीवन तक—इस पर कोई ध्यान न देकर कि यह फ़ना अथवा बक़ा साधारण चमत्कारिक मिथ्या जीवन का है या मार्ग पर भूमिकाओं का है। यह कभी स्थिर नहीं होता जब तक कि यह माया का होता है।

जब तक व्यक्तिगत हुआ जीवन सत्यता के फ़ना-फ़िल्लाह में यथार्थ एवं अन्तिमरूप से नहीं "समा जाता" और ईश्वरत्व के स्थायी बक़ा-बिल्लाह में स्थापित नहीं हो जाता, तब तक यह स्पष्ट है कि माया के फ़ना-बक़ा के असंख्य और विविध प्रकारों के वर्ग अनिवार्यरूप से होंगे और वे बलात् क़ायम रहने वाले संस्कारों के अनुसार होंगे जो अटलरूप से बक़ा के अन्तर्गत व्यक्तिगत हुये जीवन की विकसित और प्रतिवर्धित होती हुई चेतना पर संस्कार पैदा करते हैं।

प्रत्येक भूमिका में भी, प्रतिवर्धित होती हुई चेतना की पहली भूमिका से लेकर छठवीं भूमिका तक, प्रत्येक ६ भूमिकाओं के लिये एक खास प्रकार का बक़ा, प्रत्येक भूमिका की माया के खास संस्कारों के अनुसार, होना अनिवार्य है।

जब किसी मनुष्य को पहली भूमिका पर स्थित कहा जाता है तो उसकी पूर्णतया विकसित हुई चेतना प्रतिवर्धित होना शुरू हो रही है, और उसकी पूर्ण चेतना सूक्ष्म लोक की पहली भूमिका पर केन्द्रित बनी रहती है, क्योंकि पहली भूमिका के संस्कार उसकी प्रतिवर्धित होती हुई चेतना में दृढ़तापूर्वक भरते हुये उसको पहली भूमिका में रहने के लिये विवश करते हैं और उसको माया की इस भूमिका का अनुभव करने के लिये अग्रसर करते हैं। यद्यपि पहली भूमिका पर स्थित मनुष्य का स्थूल शरीर बिल्कुल उस आदमी के स्थूल शरीर के समान होता है जो पहली भूमिका पर स्थित नहीं है, और यद्यपि पहली भूमिका पर स्थित मनुष्य भी, बिल्कुल एक साधारण मनुष्य की तरह, जो प्रतिदिन के प्रपंचीय, मिथ्या जीवन का होता है, सोता है और जागता है, फिर भी, क्योंकि उसकी प्रतिवर्धित होती हुई चेतना पहली भूमिका पर सीधेसीध केन्द्रित

होती है, इसलिये वह पहली भूमिका के फना की गम्भीर निद्रा अवस्था में "प्रविष्ट हो जाता है" और पहली भूमिका की माया के संस्कारों को साथ लिये रहता है, और पहली भूमिका में "निवास करने" के लिये, और उस भूमिका के संस्कारों का अनुभव करने के लिये, पहली भूमिका के बक़ा में स्थापित होने के निमित्त रोज़-रोज़ जागता है।

उस आदमी के फ़ना-बक़ा में जो मार्ग की भूमिकाओं में प्रवेश करता है, और उस मनुष्य के फना-बका में जो मार्ग की भूमिकाओं पर नहीं है, यह अन्तर है कि प्रथम फ़ना-ब़क़ा की समानता उस मनुष्य से की जा सकती है जो, अनेक वर्षों से एक खास स्थान में रहने के पश्चात् अपने सब पिछले सम्बन्ध अलग कर लेता है और एक विश्व यात्रा पर चल पड़ता है, और एक जगह से दूसरी जगह की यात्रा करता है, तथा एक के बाद दूसरे महाद्वीपों को पार करता है। यद्यपि यह मनुष्य रोज़ सोवेगा, और दूसरे दिन जागेगा, जैसा वह अपनी पहली दशा में प्रतिदिन सोने और जागने का आदी था, फिर भी अब वह अपनी विश्व यात्रा के दौर में गहरी निद्रा में "प्रविष्ट" होगा और रोज़ जागेगा, और उसका यह जागरण स्पष्टरूप से उसके पूर्णतया परिवर्तित परिसरों एवं नवीन अनुभवों२२ के प्रबल संस्कारों से युक्त होगा।

संक्षेप में, जो मनुष्य प्रतिवर्धित होती हुई चेतना की पहली भूमिका में प्रवेश करता है उसको अन्ततः पहली भूमिका का भरपूर अनुभव प्राप्त होता है। यह मनुष्य, जो पहली भूमिका में स्थापित हो रहा है, अपना जीवन इस "अपनी निजी दुनियाँ में" स्थापित करता है और इसलिये वह इस भूमिका में सोता है और इस भूमिका में रोज़ जागता भी है। ठीक इसी प्रकार से, समस्त व्यक्तिगत हुई चेतना अन्य सब भूमिकाओं में उन खास भूमिकाओं के फना में "प्रविष्ट होती" है, और ऐसी भूमिकाओं में जागृत होने के लिये तथा इन खास भूमिकाओं में दैनिक जीवन के बक़ा को स्थापित करने के लिये, जागती है।

फिर भी, पथ की प्रत्येक भूमिका का फ़ना-बक़ा मूल रूप से उसी प्रकार का होता है, क्योंकि वह केवल चेतना से सम्बन्ध रखता है जो क्रमशः प्रतिवर्धित हो रही है और उसका सम्बन्ध न तो विकसित होती हुई चेतना के फ़ना-बका से होता है और न विकसित हुई चेतना के फ़ना-बका से होता है। एक भूमिका के फ़ना-बका का भेद दूसरी भूमिका के फ़ना-बका से करने के लिये जो भी अन्तर है वह केवल ऐसा होगा

जैसा दो पुरुषों के बीच में होगा जो उसी दुनियाँ के दो विभिन्न महाद्वीपों में रह रहे हैं, और उस दुनियाँ के उस विशिष्ट भाग के, जिस पर उनमें से प्रत्येक रहता है, और खुद अपने व्यक्तिगत संस्कार लिये रहता है। अमरीका का आदमी अपने व्यक्तिगत हुये जीवन के अपने निजी संस्कार और सम्बन्धित अनुभव रखता है; यही बात एशिया के मनुष्य के विषय में सही है जिसको अपने महाद्वीप से सम्बन्वित, जो अमरीका से बिल्कुल भिन्न है, अपने निजी संस्कार और अनुभव प्राप्त होते हैं।

किन्तु यह मूलभूत तथ्य स्थिर बना रहता है कि वे दोनों पुरुष उसी पृथ्वी पर रहते हैं। इन दोनों पुरुषों के संस्कारों और उनके फलस्वरूप हुये अनुभवों के बीच भारी अन्तर होने के बावजूद, फिर भी जब दोनों सो जाते हैं, तो वे दोनों गहरी निद्रा में "समा जाते" हैं। और, चाहे उनमें से एक मखमल के बिछौने पर सोता हो और दूसरा घास के बिछौने पर सोता हो, यह बिल्कुल सारहीन बात है जब वे दोनों उसी गहरी निद्रा अवस्था का आनन्द बराबर ले सकते हैं। इसी रीति से, जब वे दोनों जागते हैं तो वे दोनों उसी पृथ्वी पर माया के अन्तर्गत अपने व्यक्तिगत जीवन व्यतीत कर सकते हैं चाहे उनके संस्कारों और विभिन्न महाद्वीपों पर रहने से पैदा हुये सम्बन्धित अनुभवों में कुछ भी अन्तर रहा हो। इस प्रकार पथ पर सब भूमिकाओं का फ़ना–बका किसी भी रीति से मूलरूप से भिन्न नहीं है, यद्यपि मार्ग पर प्रत्येक भूमिका अपना निजी फना और बका रखती है जब भूमिकाओं पर व्यक्तिगत हुआ जीवन विचाराधीन होता है।

ठीक जिस प्रकार फना और बका के प्रथम अविकसित प्रकार में कुत्तों, घोड़ों, ऊँटों, हाथियों के और समस्त जीवधारियों एवं मानव प्राणियों के, जो स्थूल जगत में माया के प्रपंच का मिथ्या जीवन व्यतीत करते हैं, समस्त व्यक्तिगत हुये फनाओं और बकाओं का समावेश होता है, उसी प्रकार पथ पर भूमिकाओं के दूसरी प्रकार के फना और बका में भी, मायावी सूक्ष्म एवं कारण जगतों की पहली भूमिका से लेकर छठवीं भूमिका के आर-पार तक, प्रत्येक और सब भूमिका के व्यक्तिगत हुये फना-बकाओं का भी समावेश होता है।

जब कोई आदमी किसी खास भूमिका में, जिसकी चेतना क्रमशः प्रतिवर्धित हो रही है, चेतना के प्रलोभनकारी अनुभवों से बिल्कुल चौंधिया जाता है, तब उस आदमी को इस खास भूमिका का

मजज़ूब कहा जाता है।* ऐसा मजज़ूब भूमिका की माया के संस्कारों से, जो निरन्तर दृढ़तापूर्वक उसकी चेतना में भरे रहते हैं, बिल्कुल लीन और पराभूत होता है। जागृत अवस्था में भी भूमिका का यह मजज़ूब ऐसा व्यवहार करता है जैसे वह बिल्कुल नशे में चूर हो और भूमिका की माया में निमग्न हो। ऐसा मनुष्य आमतौर पर "मस्त" कहलाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि वह आदमी "परमात्मा के नशे में चूर है"।

दूसरी ओर, यदि कोई आदमी किसी खास भूमिका के मनमोहक अनुभवों में निमग्न और पराभूत नहीं होता, किन्तु वह लगातार अपना सन्तुलन बनाये रखता है जिस समय उसकी प्रतिवर्धित होती हुई चेतना उस भूमिका की माया के संस्कारों से दृढ़तापूर्वक प्रभावित होती है, तब वह उस खास भूमिका का "सालिक" कहा जाता है।‡ ऐसा सालिक, सकल बाहरी दिखाओं में, दुनियाँ के बहुत साधारण मनुष्यों की तरह आचरण करता है यद्यपि उसकी चेतना प्रगति के साथ प्रतिवर्धित हो रही है और स्थूल जगत से बिल्कुल विच्छिन्न हो गई है, जहाँ तक उसकी चेतना का, जो खास भूमिका पर पूर्णतया केन्द्रित है, सम्बन्ध है। प्रत्येक भूमिका की सुलूकियत और मस्ती भिन्न-भिन्न होती है।

जो भी हो, कुछ ऐसी खास दशायें हैं जबकि मनुष्य एक खास भूमिका के अनुभवों के प्रलोभन में कभी-कभी बिल्कुल मग्न और लीन हो जाता है और एक मजज़ूब की तरह आचरण करता है, और अन्य अवसरों पर वह अपना सन्तुलन पुनः प्राप्त कर लेता है और उस भूमिका के सामान्य साधारण सालिक की तरह आचरण करता है। भूमिका पर स्थित ऐसा मनुष्य भूमिका का मजज़ूब–सालिक कहा जाता है यदि उसका प्रमुख आचरण एक मजज़ूब का होता है, और भूमिका के एक सालिक–मजज़ूब का होता है यदि उसका प्रमुख व्यवहार सालिक का होता है। माया के अन्तर्गत ऐसी अवस्था की तुलना सत्यता में दैवी सन्धि पर तुर्यावस्था से की जा सकती है।

फना–बका का तीसरा प्रकार चेतना के अन्तिम प्रतिवर्धन की

* भूमिकाओं के 'मजज़ूब' और 'सालिक' को भ्रमवश सातवीं भूमिका का 'असली मजज़ूब' न समझना चाहिये जो 'मजज़ूब-ए-कामिल" (पूर्ण मजज़ूब) कहलाता है, और न सातवीं भूमिका का 'असली सालिक' समझना चाहिये।

‡ (देखिये इसी पृष्ठ के नीचे दी गई टिप्पणी। सम्पादक)

सातवीं भूमिका का होता है और वह सत्यता का वास्तविक फना-फिल्लाह होता है तथा ईश्वरत्व का असली बका–बिल्लाह होता है। जब व्यक्तिगत हुये जीवन की संस्कार-रंजित चेतना बिल्कुल और अन्तिम रूप से माया के समस्त संस्कारों से मुक्त हो जाती है, और जब यह बोझ से मुक्त हुआ अथवा संस्काररहित हुआ व्यक्तिगत हुआ आत्म [*Self*] चैतन्यरूप से मूल, दैवी परम शून्यता में, फना–फिल्लाह अथवा "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था प्राप्त करने के लिये "अन्तर-प्रविष्ट" हो जाता है, तब अन्ततः लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। यह असली मजज़ूबियत२३ की अवस्था है।

समस्त विभिन्न व्यक्तिगत हुई उपजातियों और मायावी जीवन की अवस्थाओं तथा दिव्य जीवन के अन्तिम एवं वास्तविक फ़ना के बीच, एकमेव किन्तु अनन्त अन्तर यह है कि पहली दशा में चेतना बिल्कुल नहीं होती जबकि बाद की दशा में पूर्ण चेतना की प्रबलता रहती है।

फना–फिल्लाह की अवस्था के बाद, बक़ा-बिल्लाह की अवस्था स्थापित होती है और वह अवस्था कुछ व्यक्तिगत हुई आत्माओं के द्वारा पृथ्वी पर "नर-नारायणवत्" परमात्मा का जीवन व्यवहार में लाने के लिये स्थापित होती है। ऐसा "नर-नारायन" एक ही समय जीवन की सभी अवस्थाओं में और सभी भूमिकाओं में, माया के अन्तर्गत मनुष्य का जीवन—माया को माया के रूप में जानते हुये—और सत्यता में ईश्वर का जीवन आचरित करता है। यह यथार्थ सुलूकियत की अवस्था है।

फ़ना-फ़िल्लाह की अवस्था प्राप्त करने के बाद और बक़ा-बिल्लाह की अवस्था स्थापित करने के पहले, फना-फिल्लाह और बका-बिल्लाह के बीच दैवी सन्धि के स्थल पर एक तुर्या अवस्था की अवस्था भी होती है। इस अवस्था में कभी-कभी फना-फिल्लाह की असली मजज़ूबियत का अनुभव होता है और कभी-कभी बका-बिल्लाह की असली सुलूकियत का अनुभव होता है। यह असली मजज़ूब-सालिक अथवा सालिक-मजज़ूब की अवस्था परिस्थितियों के अनुसार हो सकती है।

मिथ्या सीमित "मैं" की चेतना, जो फना के पहले वहाँ विद्यमान थी, प्रतिवर्धन की प्रक्रिया के द्वारा परिपक्व हुई, और सीमित मिथ्या "मैं" का स्थान फना–फिल्लाह में असली असीमित "मैं" ने ले लिया। बक़ा-बिल्लाह में अब यह परिपक्व चेतना एकबार फिर से केन्द्रित होती

है और "मैं" के ऊपर असली असीमित "मैं" के रूप में, मन के ऊपर विराट मन के रूप में, शक्ति के ऊपर अपरिमित प्राणशक्ति के रूप में और शरीर के ऊपर व्यापक शरीर के रूप में, जो महाकारण-शरीर कहलाता है, दृढ़ता से लगी रहती है। इस स्थल पर एक महत्वपूर्ण बात को ध्यान में रखना चाहिये :— कि बक़ा–बिल्लाह् की अवस्था में एक ही समय साथ-साथ वही चेतना सीमित अहं, मन, प्राणशक्ति और शरीर पर भी दृढ़तापूर्वक केन्द्रित एवं स्थिर रहती है, इसलिये सालिक चैतन्य-रूप से मिथ्या को मिथ्या के साथ मिथ्यावत् अनुभव करता है, और यथार्थता को यथार्थ के साथ यथार्थता के रूप में अनुभव करता है।

इसके फलस्वरूप, बक़ा–बिल्लाह् की परमात्मा अवस्था में, वही चेतना एक ही समय "मैं-परमात्मा-हूँ" और "मैं-मानव-हूँ" के द्वैध अनुभवों का अनुभव करती है। इस द्वैध अनुभव के साथ-साथ वही चेतना सहज-रूप से, लगातार परमात्मा के अपार ज्ञान, शक्ति और आनन्द के अनुभव भी, मानवजाति की निर्बलताओं और यातनाओं के अनुभवों के साथ-साथ, करती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बक़ा–बिल्लाह् की परमात्मा अवस्था में, परमात्मा, एक साधारण मनुष्य के रूप में, अपनेआपको अपने दैवी जीवन में स्थापित करता है अथवा, मनुष्य परमात्मा के जीवन में "वास-करता है"।

संक्षेप में, बक़ा-बिल्लाह् परमात्मा की वह अवस्था है जहाँ "वास करने" अथवा परमात्मा "में स्थापित होने" का अनुभव उन लोगों को होता है जिन्हें "सालिक" अथवा "जीवन मुक्त"२४, २५ कहा जाता है। सालिक निरन्तर और चैतन्यरूप से एक ही समय "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था और "मैं-मनुष्य-हूँ" अवस्था का द्वैध अनुभव करता है, और अनन्त ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द, संचित करता है और उसी के साथ-साथ मानवी कमज़ोरियों और यातनाओं का अनुभव करता है, यह जानते हुये कि उनका मिथ्यापन सीमित शून्य की अभिव्यक्ति पर आधारित है जो सबकुछ और अनन्त होने की खुद अपनी अवस्था प्रगट करता है।

बक़ा-बिल्लाह् में, मनुष्य-में-परमात्मा का जीवन स्थापित हो जाने से, मनुष्य ईश्वर के रूप में सहज–समाधि का अनुभव करता है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य परमात्मा के रूप में, किंचित्मात्र प्रयास के बग़ैर,

एकसाथ सतत् और स्वतः परमात्मा और मनुष्य का द्वैध अनुभव करता है। यह पूर्णता की अवस्था है।

पूर्णता [*Perfection*] में आमतौर पर चरम शिखर की, अथवा हद से ज्यादा प्रकार की, सिद्धि का, भाव भरा होता है, और इस रूप में पूर्णता और अधिक पूर्ण नहीं हो सकती। किन्तु जब "पूर्णता" शब्द का प्रयोग देवत्व के शब्द में किया जाता है, तो बक़ा-बिल्लाह की सुलूकियत की अवस्था में तीन प्रकार की पूर्णता होती है :—

पहला प्रकार "कामिल"—पूर्ण पुरुष—कहलाता है।

दूसरा प्रकार "अकमल"—अत्यन्त पूर्ण पुरुष—कहलाता है।

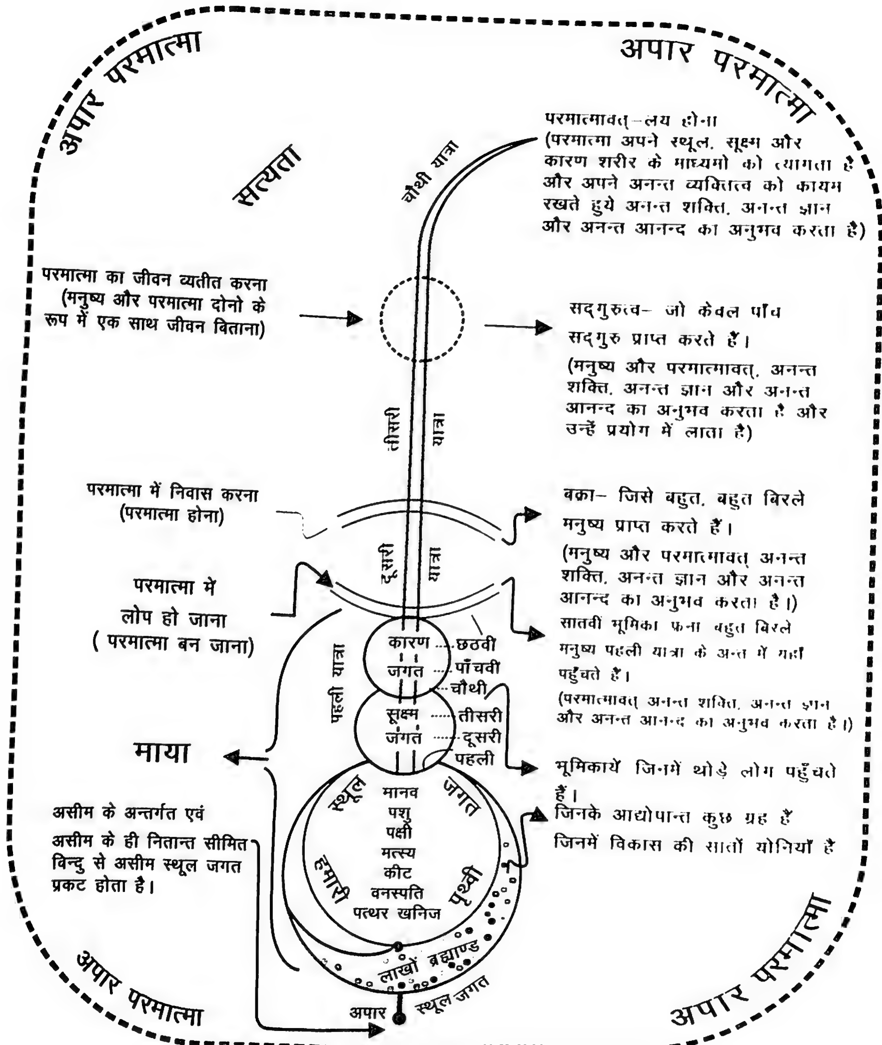
तीसरा प्रकार "मुकम्मिल"—परम पूर्ण पुरुष—कहलाता है।

शाश्वत सत्य के उनके नित्य और चैतन्य अनुभव में बिल्कुल कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु तुलना के जिन अन्शों का लगाव पूर्णता से होता है वह "पूर्णता" के कार्य व्यापार के भेद के कारण होता है। इसलिये, कार्य व्यापार में भेद होने के कारण, हर प्रकार की पूर्णता में विभिन्न गुणों का लगाव होता है।

कामिल केवल एक मनुष्य को सहजतया ईश्वर-साक्षात्कार का चैतन्य अनुभव प्रदान कर सकता है और केवल उसी आदमी को यथार्थता के सतत् अनुभव में अपने समान बना सकता है। अकमल अनुभव में अनेक पुरुषों को अपनी तरह बना सकता है; जबकि मुकम्मिल न केवल कितने ही जनों को, यहाँ तक कि सृष्टि में सब लोगों को,‡ शाश्वत सत्य के अनुभव में अपनी तरह बना सकता है, किन्तु वह सहजरूप से कितने ही लोगों को उनके भौतिक शरीरों को पुनर्जन्म दे सकता है और उनके शरीर को स्थूल जगत में खुद अपने भौतिक शरीर के समान आलोकित

‡ एक 'मुकम्मिल' अपनी इच्छानुसार सारी 'सृष्टि' को ईश्वर-साक्षात्कार प्रदान कर सकता है। सारी सृष्टि का अर्थ है समस्त मानव प्राणी एवं हर चीज जो सृष्टि में धूल के एक कण से लेकर एक हाथी तक है। किन्तु एक 'मुकम्मिल' ऐसा करने की कभी इच्छा न करेगा क्योंकि ऐसी इच्छा के पूरा करने का मतलब होगा ऐहिक माया (सारी सृष्टि) का अन्त। ऐहिक माया का अन्त करना ईश्वरीय लीला का अन्त करना होगा। और ईश्वरीय लीला का अन्त करना स्वयं परमात्मा की प्रकृति अथवा उसकी मूल अवस्था *II* के लक्षणों के विपरीत होगा जब वह अपारतया चैतन्य और साथ-साथ अपारतया अचैतन्य बना रहता है।

चार यात्रायें



मेहेर बाबा के संचालन में कार्यान्वित किया गया।

मेहेर हाऊस पब्लिकेशन्स, आस्ट्रेलिया द्वारा प्रकाशित 'सबकुछ और कुछनहीं' से पुनः मुद्रित

कर सकता है और जीवित रख सकता है और अनुभव करा सकता है, और साथ-साथ उनको सत्यता का शाश्वत चैतन्य अनुभव प्रदान कर सकता है।

बक़ा-बिल्लाह दूसरी ईश्वरीय यात्रा का अन्त है। फ़ना-फिल्लाह और बक़ा-बिल्लाह की अवस्थाओं के बीच में, दैवी सन्धि स्थल (मुकाम-ए-फुरूतत), पर तुरिया अवस्था (फ़ना-मये-अल-बक़ा) की स्थिति होती है।

तुरिया अवस्था वह अवस्था है जहाँ कभी-कभी महा-चैतन्यता "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अनुभव प्रदान करती है और जहाँ कभी-कभी महा-चैतन्यता सामान्य चेतना की "मैं-मानव-हूँ" अवस्था का अनुभव करती है।

इस अवस्था का अनुभव वे लोग करते हैं जो "मजजूब सालिक" अथवा "परमहंस" कहलाते हैं और जो तुरिया अवस्था की इस अवस्था में कभी-कभी चेतनापूर्वक "मैं अपना खुद परमात्मा हूँ" का अनुभव करते हैं और कभी-कभी चेतनापूर्वक "मैं खुद अपना जीवधारी हूँ" का अनुभव करते हैं।

ईश्वरीय सन्धि पर, पहली के अन्त और दूसरी ईश्वरी यात्रा के मध्य, "ईश्वरी" और "मानवी" दैवी चंचल अनुभवों का अनुभव पारी-पारी से होता है जब तक कि फ़ना-फिल्लाह की "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था क्रमशः बक़ा-बिल्लाह की अवस्था में स्थापित नहीं हो जाती जहाँ परमात्मा की अन्तर-वास [*Abiding-in*] अवस्था स्थापित होती है और जहाँ मनुष्य एक ही समय परमात्मावत्, किंचित्मात्र प्रयास किये बग़ैर, स्वतः एक ही समय परमात्मा और मनुष्य के द्वैध अनुभव से गुज़रता है।

जैसे ही दैवी सन्धि पार हो जाती है वैसे ही फ़ना-फिल्लाह की मजजूबियत बक़ा-बिल्लाह में सुलूकियत के रूप में स्थापित हो जाती है। मजजूबियत का मजजूब केवल उस समय अनन्त ज्ञान और शक्ति का चैतन्य अनुभव कर सकता था जिस समय वह अनन्त आनन्द में निमग्न था†। तथापि सुलूकियत का सालिक न केवल अनन्त ज्ञान, शक्ति और

† [मेहेरबाबा से पूछा गया, "यदि 'मजजूबों' को समस्त लोकों (स्थूल, सूक्ष्म और मानस) की, और 'मैं-ईश्वर-हूँ' अवस्था के सिवाय हर चीज की चेतना नहीं होती, तब यह कैसे होता है कि वे जीवन के भौतिक पहलू की

आनन्द का अनुभव चैतन्यरूप से करता है किन्तु वह चैतन्यरूप से उनको संचित भी करता है, यद्यपि वह इन अनन्त पहलुओं का उपयोग दूसरों के लिये नहीं करता जैसा कि कुतुबियत के कुतुब करते हैं।

दूसरी ईश्वरी यात्रा का अन्त तीसरी ईश्वरी यात्रा तक पहुँचा देता है जो कुतुबियत की अवस्था है जहाँ परमात्मा का जीवन व्यतीत करना यथार्थ में उन लोगों को अनुभव होता है जो "कुतुब" अथवा "सद्गुरु" अथवा "पूर्ण पुरुष" कहलाते हैं।

कुतुबियत की अवस्था, जो बका-बिल्लाह की सुलूकियत के बाद आती है, वहाँ होती है जहाँ मनुष्य परमात्मा के रूप में, बका-बिल्लाह में परमात्मा के जीवन में स्थापित हुआ, अब परमात्मा का जीवन कुतुबियत की अवस्था में कुतुब अथवा सद्गुरु के रूप में व्यतीत करना प्रारम्भ करता है। वह अब न केवल चैतन्यरूप से, अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का अनुभव करता है जैसा वह फ़ना-फ़िल्लाह की अवस्था में करता था, और न चैतन्यरूप से संचित करता है जैसा वह बका-बिल्लाह की अवस्था में करता था, किन्तु वह कुतुबियत की इस अवस्था में इन अनन्त पहलुओं का प्रयोग उन लोगों के लिये करता है जो अब भी माया में फँसे हैं। कुतुबियत की अवस्था का ऐसा नर-नारायण सद्गुरु२६ कहलाता है, जो मनुष्य के रूप में न केवल परमात्मा बन गया है और परमात्मा के अन्तर में स्थापित हो गया है वरन् वह माया के अन्तर्गत परमात्मा के व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में परमात्मा का जीवन आचरित करता है।

और प्रतिक्रिया करते हैं (खाना, पीना, कुछ चीज़ों के प्रति वरीयता प्रदर्शित करना, और अन्य चीज़ों के प्रति घृणा प्रगट करना) ?"

मेहेरबाबा ने उत्तर दिया, " 'मजजूब' दिखाव में पसन्द करे अथवा पसन्द न करे, याचना करे अथवा इनकार करे, खुश मालूम पड़े अथवा क्रोधित मालूम पड़े; यह एक स्वतः अनिच्छित क्रिया है जिसकी चेतना उसको नहीं होती, जिस तरह गहरी नींद में सोते हुये आदमी की खर्राटा लेने की आवाज़ होती है। जिस प्रकार रात्रि में सोते में चलते हुये मनुष्य के समान, जिसे अपने कर्मों की चेतना नहीं होती, चाहे वे कर्म जितने भी सामान्य अथवा विविध क्यों न हों, 'मजजूब' को अपने शरीर और पास-पड़ोस की स्मृति नहीं रहती, और उसको केवल अपनी दैवी अवस्था, 'मैं-परमात्मा-हूँ' की चेतना रहती है।"—सम्पादक]

"मैं-परमात्मा-हूँ" और "मैं-मानव-हूँ" की द्वैध भूमिका जो बक़ा-बिल्लाह में स्थापित हुई थी, अब एकसाथ न केवल उसका अनुभव होता है किन्तु कुतुबियत की दशा में उसका जीवनयापन भी होता है; और नर-नारायण (कुतुब, सद्‌गुरु अथवा पूर्ण पुरुष) अब एकसाथ परमात्मा का जीवन और मनुष्य का जीवन आचरित करता है और यह आचरण वह परमात्मा की अनन्त शक्ति, ज्ञान और आनन्द के बल से तथा मानव अवस्था की समस्त निर्बलताओं एवं त्रासों को भोगते हुये करता है।

तीसरी ईश्वरी यात्रा के अन्त में सद्‌गुरु न केवल एकसाथ शक्ति एवं कमज़ोरी की द्वैध भूमिका अदा एवं प्रदर्शित करता है, किन्तु वह साथ-साथ अनन्त बल के इस प्रदर्शन का उपयोग अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द, तथा अनन्त निर्बलता के द्वारा उन लोगों के लिये करता है जो अज्ञान में डूबे हैं और जो अब भी मिथ्या, सीमित भ्रम को अनन्त एवं यथार्थ समझते हैं। इस अवस्था के विपरीत, बक़ा-बिल्लाह की अवस्था में परमात्मा अपने ईश्वरत्व का अनुभव निरन्तर, एकसाथ अपने मानवपन के सतत् और निरन्तर अनुभव के साथ करता है; और फिर भी वह अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का प्रयोग नहीं कर सकता और अज्ञान में डूबे हुये मनुष्यों के लिये अनन्त निर्बलता एवं यातना का उपयोग भी नहीं कर सकता क्योंकि इस अवस्था में परमात्मा ईश्वर का जीवन व्यतीत नहीं करता जैसा वह कुतुबियत की अवस्था में करता है।

कुतुब अथवा सद्‌गुरु की अवस्था में अपनी तीसरी ईश्वरी यात्रा का आदि और अन्त करना बहुत, बहुत दुर्लभ है और केवल बहुत, बहुत कम लोगों के लिये है। इस अवस्था में मनुष्य अब ईश्वर के रूप में ईश्वर का जीवन आचरित करता है। वह अब अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का उपयोग करता है जिनका अनुभव उसको प्राप्त होता है। वह, वह "ईश्वर-और-मनुष्य" अथवा नर-नारायण है, जो एक अखण्ड्य सत् को अनेकता में उतार लाया है। वह, वह नर-नारायण है, जो स्वतन्त्र सत्य को माया में उतार लाया है और जो माया का नियन्त्रण अपनी परब्रह्म अवस्था विज्ञान भूमिका अथवा मुकाम-ए-मुहम्मदी[२७] के दैवी कार्यालय से करता है।

इस नर-नारायण अथवा पूर्ण पुरुष का स्वयं जीवन ही सहज समाधि है। ऐसा सद्‌गुरु साथ-साथ, एक ही समय में, सभी विश्वों में

और सभी लोकों में, सभी स्तरों तथा सभी भूमिकाओं में "एक का और सबका" जीवन आचरित करता है। उसका जीवन खास स्तरों पर और खास भूमिकाओं पर, प्रत्येक जीवधारी के रूप में, और उस खास स्तर तथा उस खास भूमिका के व्यक्ति के रूप में जीवन व्यतीत करने का भी होता है। उसी समय, ईश्वर का जीवन व्यतीत करने के साथ-साथ, वह इस पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन व्यतीत करता है।‡

कुतुबियत की इस अवस्था में यह कहा जा सकता है कि परमात्मा ईश्वरत्व के ऊपर आच्छादित हो जाता है, जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा की चेतना हर चीज़ में व्याप्त होने के बाद, ईश्वर की परात्पर परब्रह्म अवस्था की चेतना सतत् बनाये रखती हुई, परमात्मा की इस परब्रह्म अवस्था में अब भी अनन्त, असीमित और अपरिमित बनी रहती है।

चौथी ईश्वरीय यात्रा कुतुब का शरीर छूटने से सम्बन्धित है।

अपना शरीर छोड़ देने के बाद भी, कुतुब नित्य चैतन्यरूप से और व्यक्तिगतरूप से, अनन्त परमात्मावत् बना रहता है; और फना-फिल्लाह की अवस्था की "मैं-परमात्मा-हूँ" व्यक्तिगत एवम् अखण्ड्य अवस्था का, जो लक्ष्य है, अनुभव सदैव करता है। अर्थात्, चौथी दिव्य यात्रा में शरीर अथवा मनुष्य-योनि छोड़ देने के बाद भी, चैतन्य, अनन्त, अविभाज्य व्यक्तित्व का अनुभव शाश्वत रूप से, "मैं-परमात्मा-हूँ", सबकुछ हूँ, अनन्त और असीमित हूँ, "बिना किसी दूसरे के अद्वैत हूँ", सदैव बना रहता है।

इसी प्रकार से, बका-बिल्लाह की अवस्था में परमात्मा, जहाँ

---

‡ [मेहेरबाबा के शब्दों में, "पूर्णता ईश्वर के रूप में ईश्वर से सम्बन्धित नहीं होती, और न वह मनुष्य के रूप में मनुष्य की होती है।......सीमित प्राणी, जिसे अपने सीमित होने की चेतना प्राप्त होती है, स्पष्टरूप से अपूर्ण है; किन्तु जब उसको अनन्त परमात्मा के साथ एक होने की चेतना होती है, तब वह पूर्ण होता है......इस प्रकार हमको पूर्णता प्राप्त होती है जब हमारा सीमित अहं अपनी सीमाओं को लांघ जाता है और अपनी 'अनन्तता' का साक्षात्कार करता है, अथवा जब अनन्त आत्मा अपनी कल्पित पृथक्ता त्याग देती है और मनुष्य बन जाती है; इन दोनों दशाओं में सीमित और 'असीमित' एक-दूसरे के बाहर स्थित नहीं रहते। जब सीमित और असीमित का आनन्दमय एवं चैतन्य मिश्रण होता है तब हमको 'पूर्णता' प्राप्त होती है।"—सम्पादक]

स्पष्टरूप से "मैं-परमात्मा-हूँ" और "मैं-मनुष्य-हूँ" की चेतना की द्वैध भूमिका प्रगट होती है, स्वाभाविकरूप से नियमित होती है जब तक कि माया का जामा, जाने और अनजाने में धारण किये हुये, छूट नहीं जाता। अर्थात्, जब मनुष्य-योनि अथवा मनुष्य का शरीर छूट जाता है तव चैतन्य, अनन्त, अविभाज्य, व्यक्तित्व का अनुभव "मैं परमात्मा हूँ", "मैं सबकुछ हूँ", अनन्त हूँ और असीमित हूँ, "अद्वैत हूँ", शाश्वतरूप से स्थिर बना रहता है।

परमात्मा सनातन सत्, अनन्त और सर्वव्यापी है। क्योंकि परमात्मा शाश्वतरूप से अनन्त सत् है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमात्मा की अवस्थाओं की अनन्त संख्यायें हैं, जो अपार और सनातनरूप से अस्तित्व में हैं। किन्तु मूल रूप से परमात्मा की केवल दो अवस्थायें हैं : मूल अवस्था और अन्तिम अवस्था।

मूल अवस्था परमात्मा की परात्पर परब्रह्म अवस्था है जहाँ शाश्वतः परमात्मा "है" और चेतना "नहीं है"। अन्तिम अवस्था परमात्मा की परब्रह्म अवस्था हैं जहाँ परमात्मा की परात्पर परब्रह्म अवस्था की "परमात्मा-है" अवस्था की चेतना नित्य रहती "है"।

वही सत्, परमात्मा के रूप में, नित्य प्रचलित रहता है, चाहे वह परमात्मा की परात्पर परब्रह्म अवस्था के रूप में हो अथवा परमात्मा की परब्रह्म अवस्था के रूप में हो। उनमें एकमात्र भेद चेतना का होता है। परमात्मा की परब्रह्म अवस्था में, सत् अपनेआप को चैतन्यरूप से अनुभव करता है कि, वह "परमात्मा-है" की परात्पर परब्रह्म अवस्था के रूप में, सनातन रूप से नित्य विद्यमान है।

अतएव दैवी लक्ष्य है, "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अनुभव करना, जहाँ सत् चैतन्यरूप से खुद को अनुभव करता है कि वह परमात्मा-है की परात्पर परब्रह्म अवस्था के रूप में नित्य अस्तित्व में है। यही सत्यता है, और इस सत्यता का चैतन्य साक्षात्कार एकबार प्राप्त हो जाने पर सनातन रूप से स्थायी रहता है। अनिवार्य रूप से वह अपने को किन्हीं अन्य रूपों में अभिव्यक्त नहीं करता किन्तु पृथ्वी के मानव रूपों में, परमात्मा की विभिन्न ईश्वरीय अवस्थाओं में, मजज़ूबियत की विभिन्न ईश्वरीय स्थितियों के द्वारा, तुरियां अवस्था के अथवा फ़ना-मा-अल-बक़ा के सुलूकियत और क़ुतूबियत के माध्यम से प्रकट करता है।

परमात्मा की अन्य सब बीच वाली अवस्थायें मायावी अवस्थायें

हैं जहाँ वही सनातन, अनन्त, सर्वव्यापी, एक, अखण्ड्य, निराकार सत्, परमात्मा के रूप में, यद्यपि उसका अनुभव सनातन सत् के रूप में नहीं हुआ, स्वयं अपने अस्तित्व के माध्यम से प्रतिपादित करता है, और यह प्रतिपादन वह अनन्त सत् की शाश्वत वास्तविकता की पूर्ण चेतना प्राप्त करने की प्रक्रिया के दौरान में, परमात्मा की निर्जीव एवं जीवित अवस्थाओं के रूप में, अनन्त अगणित जड़ और चेतन चीज़ों एवं जीवधारियों के रूप धारण करने में करता है।

परमात्मा की ये सब बीच वाली मायावी अवस्थायें, ऐहिक सृष्टि की माया के अन्तर्गत माया के बहुविध एवं विविध स्थूल, सूक्ष्म एवं मनो-संस्कारों के द्वारा; और माया के अन्तर्गत सम्पूर्ण ऐहिक सृष्टि के माध्यम के द्वारा, पोषित होती हैं, फिर भी इससे एक ईश्वरीय अण्ड के पोषक का उद्देश्य सिद्ध होता है, जहाँ ईश्वरीय अण्ड-पोषकों की चेतना, और जहाँ ऐसा पोषण शाश्वत सत्य का साक्षात्कार करने की परिपक्वता पैदा करता है, और यह परिपक्वता वह, नाना रूपी, विविध और सीमित संस्कारों तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं मनो-रूपों और ऐहिक सृष्टि के जगतों के द्वन्द्वों के, नाना रूप, विविध तथा सीमित संस्कारों और अनुभवों के द्वारा, चेतना के परिपक्व और क्रमशः विकसित हो जाने के बाद, करता है।

परमात्मा की मायावी अवस्थाओं में, शाश्वत, निराकार, अनन्त परमात्मा, स्वयं अपनी लौकिक सृष्टियों से संस्कारबद्ध होता हुआ, पहले स्थूल योनियों की चेतना प्राप्त करता है और स्थूल जगतों का अनुभव करता है, फिर वह सूक्ष्म रूपों की चेतना प्राप्त करता है और सूक्ष्म जगतों का अनुभव करता है, फिर वह मानव रूपों की चेतना प्राप्त करता है और मनो-जगतों का अनुभव करता है और, अन्ततोगत्वा अपने अपरिमित सत् *[Self]* की चेतना प्राप्त करके, अपनी शाश्वत अवस्था का अनुभव करता है।

इसके फलस्वरूप, जब परमात्मा को अपने स्थूल रूपों की चेतना होती है तब वह स्थूल शरीरों से अपनी एकरूपता करता है और अपने को एक खास स्थूल शरीर के रूप में पाता है, और वह प्राप्ति उस स्थूल शरीर के विशेष संस्कारों के अनुसार होती है। इसका यह अर्थ है कि अनन्त, शाश्वत, निराकार परमात्मा अपने को सीमित, नश्वर और स्थूल रूप धारण किये हुये रूप में पाता है। इस अज्ञानता का कारण केवल संस्कार हैं।

इस प्रकार परमात्मा, जो शाश्वतरूप से परात्पर परब्रह्म अवस्था की परे और परे अवस्था में होता है अथवा परमात्मा-है की अवस्था की अनन्तता में होता है, प्रारम्भ में अज्ञानता प्राप्त करता है और वह प्राप्ति अपनी सत्यता का ज्ञान प्राप्त करने के द्वारा करने की बजाय संस्कारों से प्रभावित होने के द्वारा करता है।

इसलिये जब परमात्मा विशेष संस्कारों के अनुसार कोई खास रूप अथवा शरीर प्राप्त करता है, तब वह अपने को उसी खास रूप अथवा शरीर के रूप में महसूस और अनुभव करता है। परमात्मा अपनी पत्थर-योनि में अपने को पत्थर अनुभव करता है। तदनुसार, संस्कारों और उनकी चेतना के अनुसार, परमात्मा महसूस और अनुभव करता है कि वह धातु है, वनस्पति है, कीड़ा है, मछली है, पक्षी है, पशु अथवा मानव प्राणी है। स्थूल रूप चाहे जिस प्रकार का हो और रूप की शक्ल चाहे जिस प्रकार की हो, परमात्मा की विकसित होती हुई चेतना परमात्मा को उस रूप, शरीर और शक्ल से अपना साहचर्य स्वेच्छानुसार करने के लिये प्रवृत्त करती है और उसको संस्कारों के द्वारा अपनेआप को ऐसा अनुभव करने के लिये प्रेरित करती है कि वह वही रूप, शक्ल तथा शरीर है।

इसी प्रकार, जब परमात्मा को सूक्ष्म शरीर (प्राण) की चेतना होती है तब परमात्मा को प्राण भुवन का अनुभव होता है और वह अपने को सूक्ष्म शरीर अथवा प्राण के रूप में मानता है। इसी प्रकार से, परमात्मा को कारण शरीर (मन) की चेतना प्राप्त हो जाती है, वह मनो-जगत का अनुभव करता है और अपने को कारण शरीर अथवा मन के रूप में मानता है।

केवल संस्कारों के कारण ही अनन्त परमात्मा, जो निराकार और अनन्त है, यह अनुभव करता है कि वह अनिवार्यरूप से स्थूल जगत में एक सीमित स्थूल शरीर (अर्थात् अन्न भुवन में जीव-आत्मा) है, अथवा सूक्ष्म जगत में एक सूक्ष्म शरीर (अर्थात् प्राण भुवन में जीव-आत्मा) है, अथवा कारण जगत में कारण शरीर (अर्थात् मनो भुवन में जीव-आत्मा) है। परमात्मा, स्थूल रूपों के माध्यम से स्थूल जगत का अनुभव करता हुआ, असंख्य स्थूल रूपों के साथ साहचर्य करता है और उनसे सम्बन्ध विच्छेद करता है। स्थूल रूपों से उसका यह साहचर्य और विच्छिन्नता क्रमशः "जन्म" और "मृत्यु" कहलाते हैं।

संस्कारों के कारण ही शाश्वत, अनश्वर, निराकार ईश्वर, अथवा परमात्मा को, जन्मों और मृत्युओं के बग़ैर, असंख्य बार जन्मों और मृत्युओं का अनुभव करना पड़ता है। जब परमात्मा को संस्कारों के कारण इन असंख्य जन्मों और मृत्युओं का अनुभव करना पड़ता है, तब उसको न केवल स्थूल जगत का अनुभव करना पड़ता है जो सीमित है और इसलिये मिथ्या है, वरन् इसके साथ-साथ उसको उसके सुख और दुख का, उसकी बुराई और भलाई का अनुभव भी करना पड़ता है।

समस्त योनियाँ, आकृतियाँ और शक्लें, समस्त जगत *(World)* और भूमिकायें, समस्त जन्म और मृत्युयें, समस्त भला और बुरा, समस्त सुख और दुख, जिनका अनुभव ईश्वर करता है, जो शाश्वत, निराकार और अनन्त है, संस्कारों से रञ्जित हुई चेतना की उपज हैं। चूंकि समस्त संस्कार **शून्य** की उपज मात्र हैं जो **शून्यता** के रूप में अभिव्यक्त हुआ था, इसलिये इसका यह अर्थ है कि परमात्मा अपनी विकसित चेतना के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगतों में जोकुछ अनुभव करता है, वह **शून्य** का अनुभव है; और चूंकि यह **शून्य** स्वभावतः **कुछनहीं** है, इसलिये परमात्मा की बीच वाली मायावी अवस्थाओं में होने वाले सब अनुभव केवल शब्दशः माया हैं, और इस रूप में, वे मिथ्या और सीमित हैं।

केवल जिस समय संस्कारों से रंजित चेतना समस्त संस्कारों से स्वतन्त्र हो जाती है तभी मनुष्य योनि में **निर्वाण** अथवा **फ़ना** के रूप में **मुक्ति** प्राप्त होती है, जहाँ केवल चेतना "है" और जहाँ **शून्य** का अन्य सबकुछ, जो **शून्यता** के रूप में था, सदैव के लिये नष्ट हो जाता है। केवल उस आत्मा के उदाहरण में जो **निर्वाण** के बाद तीन से चार दिन‡ तक शरीर* को बनाये रखती है, मुक्त हुई (अथवा संस्कार से अछूती

‡ (मेहेरबाबा ने समझाया : "वे आत्मायें जो अपने शरीरों को तीन से चार दिनों तक बनाये नहीं रखतीं किन्तु 'निर्वाण' के बाद तत्काल अपने शरीर छोड़ देती हैं वे 'मुक्ति' प्राप्त करती हैं।" सम्पादक)

* [काल का अस्तित्व किसी के लिये भी नहीं रहता जो 'निर्वाण' में है अथवा उसके लिये नहीं रहता जिसको 'मुक्ति' प्राप्त हो गई है। ऊपर उल्लिखित अवधि (तीन से चार दिन) केवल उनकी समझ के लिये सार्थक होती है जो स्थूल-चेतनायुक्त हैं और समय से बंधे होते हैं। सम्पादक]

या संस्काररहित हुई) चेतना अनिवार्यरूप से फ़ना की दूसरी स्थिति में (अर्थात् फ़ना-फ़िल्लाह् में) शाश्वत ईश्वरत्व का अनुभव करती है और अपना प्रतिपादन निःसन्देह "मैं-परमात्मा-हूँ" के रूप में करती है। यह "मैं निःसन्देह परमात्मा हूँ" की निर्विकल्प अवस्था है जब, शब्दशः संस्कार रहित अथवा संस्कार मुक्त चेतना, मानव योनि से जुड़ी हुई, अनुभव करती है "मैं-परमात्मा-हूँ, मैं परमात्मा थी और सदैव सत् शाश्वत एवं चैतन्यरूप में परमात्मा बनी रहूँगी"। इस रीति से मनुष्य परमात्मा बन जाता है; और यह कहा जाता है कि मनुष्य ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त है, अथवा यह कि परमात्मा में जीव-आत्मा परमात्मा में शिव-आत्मा बन गई है, अथवा परमात्मा *(Over-Soul)* बन गई है।

शाश्वत सत्य यह है कि परमात्मा (अथवा *Over-Soul*), आत्मा (अथवा *Soul*) है; और इस सत्यता का अनुभव केवल तब होता है जब जीवात्मा के रूप में संस्कार बद्ध चेतना संस्कार रहित अथवा संस्कार मुक्त चेतना के रूप में शिव-आत्मावत् बन जाती है, और वह परमात्मा की एकरूपता का प्रतिपादन एवं अनुभव करने के लिये परमात्मा में निमग्न हो जाती है।

यदि वास्तव में आत्मा परमात्मा है, तब आत्मा को परमात्मा में निमग्न हो जाने के लिये कोई स्थिति कैसे पैदा हो सकती है ?

इस स्थिति को स्पष्ट करने, और 'परमात्मा वास्तव में आत्मा है' को समझने के लिये, हम परमात्मा की तुलना एक अनन्त, अपार और तटरहित महासागर से करते हैं। इसलिये आत्मा, जो परमात्मा है, अपार एवं तट-रहित महासिन्धु (अर्थात् परमात्मा) की सीमाओं के बाहर कभी नहीं हो सकती। आत्मा कभी भी परमात्मा के बाहर नहीं हो सकती क्योंकि परमात्मा, जिसकी तुलना हमने अपरिमित और तटरहित महासागर से की है, अनन्त और असीमित है। जब आत्मा परमात्मा है तब आत्मा किस प्रकार अपार, सीमारहित के विस्तार के बाहर आ सकती है और उसके परे स्थान रख सकती है ?

इसीलिये, आत्मा परमात्मा में भी है।

अब, यह समझने के लिये कि आत्मा जो परमात्मा में है वास्तव में स्वयं परमात्मा है, हम कल्पना करें कि सीमारहित, और तटरहित महासागर के असीम विस्तार के बाहर समुद्र की एक बूंद निकालना अथवा अलग करना सम्भव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समुद्र

की यह किंचित् बूंद, अपार महासागर में रहने के समय, पृथक्ता के पूर्व, स्वयं महासागर है, और वह सीमारहित महासागर में समुद्र की बूंद के रूप में न थी वरन् स्वयं महासागर के रूप में थी (क्योंकि महासागर की प्रत्येक बूंद जब वह बूंद होने की सीमितताओं से सीमित नहीं होती तब वह स्वयं असीमित महासागर होती है) ।

केवल जड़ समुद्र की बूंद अपरिमित महासागर से अलग हो जाती है, अथवा असीमित महासागर के बाहर, बूंद के रूप में, निकाल ली जाती है, तभी समुद्र से पृथक् हुई यह बूंद असीमित महासागर की सीमित बूंद के रूप में मानी जाती है ।

दूसरे शब्दों में, अनन्त, अपरिमित और तटरहित महासागर अब बूंद के माध्यम से, केवल उस अनन्त, अपरिमित और तटविहीन महासागर की सीमित बूंद के रूप में खुद को देखने लगता है; और अनन्त, असीमित तथा तटरहित महासागर की तुलना में, महासागर की यह बूंद, अत्यन्त परिमित, अत्यन्त सीमित है, और अब वह अनन्त सीमितताओं से युक्त होती है ।

इसी प्रकार से, आत्मा, अनन्त महासागर की बूंद से तुलना की जाने पर, कभी भी अपार, असीमित और अनन्त परमात्मा की सीमितताओं से बाहर नहीं हो सकती जब उसकी तुलना असीमित, अपरिमित और तटविहीन महासागर से की जाती है ।

किन्तु जिस तरह से समुद्र की बूंद अपनी सीमिततायें महासागर की सतह के ऊपर एक बुलबुले के माध्यम से प्राप्त करती है, और ठीक जिस तरह यह बुलबुला समुद्र की बूंद के ऊपर, अनन्त, अपार महासागर से अलग, एक प्रत्यक्ष अलगानेवाला एवं सीमित अस्तित्व प्रदान करता है, उसी प्रकार आत्मा, जो न केवल परमात्मा में है बल्कि जो स्वयं परमात्मा है, प्रत्यक्षरूप से अलगानेवाले अस्तित्व का अनुभव एवं प्रतिपादन करती है—ऐसा वह अनन्त, असीमित परमात्मा से संस्कारों के बुलबुलों की सीमितताओं के द्वारा करती है, जो चैतन्य अज्ञानता प्रदान करते हैं, और जिनसे आत्मा अपने को ढाँक लेती है और अपने को सीमित तथा परमात्मा से अलग अनुभव करती है ।

इन सीमितताओं के द्वारा, जो संस्कारों के बुलबुलों से निर्मित होती हैं, आत्मा द्वारा स्वयं-रचित होती हैं, आत्मा, परमात्मा से एक पृथक्कारी और सीमित अस्तित्व का प्रत्यक्ष उत्तराधिकार प्राप्त करती

है, और अनन्त परमात्मा से इस आत्मनिर्मित विलगता के कारण, आत्मा, जो स्वयं अनन्त, अपरिमित और असीमित है, संस्कारों द्वारा उपार्जित अनन्त परिमितताओं के साथ, अपने ऊपर अत्यन्त सीमित एवं अत्यन्त परिमित होने के पहलू धारण करती है।

जैसे ही चेतना के समूचे प्रतिवर्धन के पूर्ण हो जाने पर संस्कारों के बुलबुले का विस्फोट हो जाता है, और चेतन अज्ञानता, संस्कारों से रंजित चेतना के रूप में, चेतन ज्ञान के रूप में बदलकर, संस्काररहित चेतना का रूप ले लेती है, वैसे ही आत्मा के सीमित और अत्यन्त परिमित अनुभवों का लोप हो जाता है। आत्मा, प्रत्यक्ष अलगानेवाले सीमित अस्तित्व से मुक्त हो जाने पर, परमात्मा में अपनेआप निमग्न हो जाती है, अथवा अपने को परमात्मा के साथ तथा परमात्मा के अन्तर्गत एकरस पाती है—परमात्मा की परब्रह्म अवस्था के अन्तर्गत शाश्वतः अनन्त, अपरिमित और असीमित पाती है; और यह परमात्मा अथवा अल्लाह के साथ आत्मा का मिलन कहलाता है। चेतना की इस अवस्था में, अब आत्मा को परमात्मा की परे-अति-परे अचैतन्य परात्पर परब्रह्म अवस्था की पूर्ण चेतना प्राप्त हो गई है, जो परमात्मा की मूल अवस्था है, जब यह कहा जाता है कि "परमात्मा-है"। सूफ़ी शब्दों में, परब्रह्म परमात्मा अवस्था में परमात्मा को अल्लाह कहा जाता है, और परे-अति-परे परब्रह्म परमात्मा अवस्था में वह "वरा-उल-वरा" अथवा "गैब-उल-गैब" कहा जाता है।

मनुष्य रूप में परमात्मा का सर्वोच्च और अत्यन्त उन्नत ईश्वरीय दर्जा कुतुबियत का है जहाँ कुतुब, अथवा सद्गुरु अथवा पूर्ण पुरुष को, न केवल अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द तथा समस्त-भलाई और समस्त अनन्त सौन्दर्य और सार्थक महिमा का चैतन्य अनुभव होता है, किन्तु वह इन अनन्त पहलुओं का चैतन्य उपयोग उन जीव-आत्माओं के लिये करता है जो अब भी माया के अन्तर्गत परमात्मा की मायावी अवस्थाओं से गुज़र रहे हैं।

कुतुबियत की इस उन्नत ईश्वरीय स्थिति में मनुष्य न केवल ईश्वर बन जाता है वरन् मनुष्य ईश्वर का जीवन भी आचरित करता है। इस नर-नारायण की पूजा करना अनन्त गुणोंयुक्त परमात्मा की पूजा करना है।

मानव-रूप में चैतन्य रूप से परमात्मा का जीवन आचरण द्वारा प्रस्तुत करने का यह सबसे ऊँचा ईश्वरीय दर्जा बहुत-बहुत दुर्लभ रूप से बहुत-बहुत थोड़ी शिव-आत्माओं को प्राप्त होता है, और यह तब प्राप्त होता है जब अचैतन्य आत्मायें जीव-आत्माओं के रूप में विकास, पुनर्जन्म और चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया से होकर गुज़र चुकती हैं, और निर्वाण प्राप्त करती हैं, जिसके बाद कुछ उदाहरणों में महा-चैतन्य की निर्विकल्प समाधि तत्काल आकर शिव-आत्माओं के रूप में अपना प्रतिपादन करती है।

सर्व कालों और सब युगों में, और साथ-साथ एक ही समय में, इस पृथ्वी पर सदैव छप्पन शिव-आत्मायें अथवा ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मायें होती हैं। इन छप्पन शिव-आत्माओं में से कुछ मजज़ूबियत की अवस्था में रहती हैं; कुछ आत्मायें ईश्वरीय सन्धि की अवस्था में—तुरिया अवस्था में—जिसे सूफ़ी भाषा में "फ़ना-मल-बक़ा" कहते हैं रहती हैं; उनमें से बहुत थोड़ी आत्मायें, ईश्वरीय सन्धि को पार करती हुई, सुलूकियत की अवस्था में बनी रहती हैं; और उनमें से केवल पाँच आत्मायें सदैव वहाँ क़ुतुबियत की अवस्था में रहती हैं, जब तक ये सब मानव-रूप धारण किये रहती हैं।

इस प्रकार, सर्व कालों और सब युगों में, सदैव पाँच क़ुतुब (सद्गुरु अथवा पूर्ण-पुरुष) पृथ्वी पर मानवजाति के बीच में रहते हैं, और वे माया के क्षेत्र में सबकी प्रगतिशील मुक्ति के लिये अनन्त ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द के रूप में, परमात्मा की परब्रह्म अवस्था की विज्ञान भूमिका के विज्ञान अथवा अर्श-आला की अहदियत के अनन्त पहलुओं को सँभालते हैं।

ईश्वरीय विधान के अनुसार, ये पाँच क़ुतुब अथवा सद्गुरु अथवा पूर्ण पुरुष, प्रत्येक कालचक्र के अन्त में, परमात्मा को सीधे-सीध पृथ्वी पर मानवीय पुरुष (*Male*) के रूप में उतारते हैं। अस्तु, प्रत्येक कालचक्र के अन्त में, जब परमात्मा पृथ्वी पर मनुष्यरूप में प्रगट होता है और अपना ईश्वरत्व मानवजाति को प्रगट करता है, तब वह अवतार—मसीहा—सिद्ध पुरुष के रूप में पहिचाना जाता है। अवतार के रूप में पृथ्वी पर परमात्मा का सीधा अवतरण परमात्मा का वह स्वाधीन दर्जा है जब परमात्मा, विकास, पुनर्जन्म और चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रियाओं से होकर गुज़रने अथवा उनका अनुभव किये बग़ैर, सीधे-सीध

मनुष्य* बन जाता है। इसके फलस्वरूप, परमात्मा सीधे-सीध ईश-पुरुष बन जाता है, और मानवजाति के बीच मनुष्य का जीवन व्यवहार में लाता है और उस समय२८ के इन कुतुबों अथवा सद्गुरुओं अथवा पूर्ण पुरुषों के द्वारा, ऊँचे से ऊँचा, अथवा पुरातन पुरुष, के अपने ईश्वरीय दर्जे का अनुभव करता है।

मूल रूप से सत्यता के अनुभव में बिल्कुल कोई अन्तर नहीं होता, चाहे शिव-आत्मायें मजजूबियत, तुरिया अवस्था, सुलूकियत अथवा कुतूबियत की ईश्वरीय स्थिति में हों। एकबार लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर, सब शिव-आत्मायें सब ईश्वरीय स्थितियों में निस्सन्देह और चैतन्यरूप से सदैव-सदैव के लिये अनन्त आनन्द की उस दैवी विरासत के आनन्द का उपभोग करने लगती हैं, जबकि साथ-साथ वे स्वेच्छानुसार और निरन्तर अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द२९ की अपनी निजी त्रिमुखी प्रकृति का अनुभव करती रहती हैं।

जो भी हो, उनकी ईश्वरीय स्थिति में अन्तर उनकी अनन्त त्रिमुखी प्रकृति के अनुभव के कारण नहीं होता, बल्कि उनके खुद को अनन्त ज्ञान अथवा सुलूकियत, की विज्ञान भूमिका में स्थापित करने के बाद, और फिर, कुतुब के रूप में, नर-नारायण का जीवन आचरित करने के बाद जो अनन्त आनन्द का उपभोग करते हुये अपनी अनन्त शक्ति को व्यवस्थित करने के हेतु अपने अनन्त ज्ञान का उपयोग करते हैं, की विभिन्न सीमा *(Scope)* के कारण होता है।

कुतुब अथवा सद्गुरु की ईश्वरीय स्थिति के और युग-अवतार के बीच यह अन्तर है कि कुतुब, ऐहिक *(Cosmic)* विकास की पूरी प्रक्रिया से होकर गुज़रने के बाद, नर-नारायण के रूप में परमात्मा के जीवन में प्रवेश करता है और उसे आचरित करता है, जबकि अवतार को विकास की प्रक्रिया से होकर बिल्कुल नहीं गुजरना पड़ता क्योंकि अवतार परमात्मा की वह सर्वोच्च स्थिति है जहाँ परमात्मा सीधे-सीध

---

* फ़ना-उल-फ़ना = परमात्मा के मनुष्य बनने की अवस्था (पृथ्वी पर अवतार के रूप में परमात्मा का सीधा अवतरण)।

बक़ा-उल-बक़ा = परमात्मा की ईश-पुरुष बनने की अवस्था(परमात्मा को अवतार के रूप में खुद का ज्ञान)।

साधारण पुरुष की अवस्था मनुष्य रूप में परमात्मा की अवस्था है।

मनुष्य बन जाता है और पृथ्वी पर ईश-पुरुष के रूप में जीवन व्यतीत करता है।

ईश्वर का जीवन व्यतीत करने में, सद्‌गुरु (अथवा क़ुतुब) और अवतार (अथवा साहेब-ए-ज़माँ) दोनों एक समान अनुभव रखने में बराबर होते हैं। दोनों परमात्मा का जीवन आचरित कर रहे हैं और दोनों माया के अन्तर्गत जीवन के प्रत्येक स्तर और भूमिका पर भी होते हैं। दोनों एक ही समय निम्नतम से लेकर उच्चतम स्तर पर होते हैं। इसके बावजूद, अत्यन्त महत्वपूर्ण और एकमात्र भेद यह है कि क़ुतुब उस स्तर पर अभिनय करता है और अवतार उस स्तर पर वही बन जाता है[३०]।

"अभिनय करने" और "बन जाने" के विषय को स्पष्ट करने के लिये, अनेक और असंख्य उदाहरण उद्‌धृत किये जा सकते हैं, किन्तु साधारण मनुष्य की समझ के लिये उदाहरण के रूप में बीमारी को ले लीजिये।

उदाहरण के लिये, एक क़ुतुब अथवा सद्‌गुरु बीमार नहीं हो सकता और न बीमार होगा, और जब वह बीमार हो गया दिखलाई पड़ता है, तब वह उसका बिल्कुल बीमारी का "अभिनय" है। जब लोग उसको वास्तव में बीमार देखते हैं तो वे उसको बीमार नहीं देखते बल्कि वे वास्तव में उसकी बीमारी को पूर्णतया अभिनय के रूप में देखते हैं क्योंकि वह सद्‌गुरु है और मूर्तमान पूर्णता है; वह ऐसा अभिनय करता है जैसे वह बीमार हो। दूसरी ओर, जब लोग अवतार को बीमार देखते हैं, तब वह वास्तव में बीमार हो गया है और वह शब्दश: रोग ग्रस्त हो गया है। किन्तु यद्यपि अवतार सचमुच रोगग्रस्त हो गया है, तथापि उसी समय उसके साथ-साथ उसके पीछे अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द रहते हैं।

प्रत्येक स्तर पर, प्रत्येक अवस्था में और सब भूमिकाओं में सद्‌गुरु एकसाथ जीवधारी अथवा उस स्तर एवं अवस्था की चीज़ के रूप में और उस भूमिका के मनुष्य के रूप में आचरण करता है; जबकि अवतार उस स्तर एवं अवस्था और उस भूमिका के मनुष्य के रूप में एकसाथ सबकुछ बन जाता है। और, एक ही समय सबकुछ बनते और होते हुये, सब स्तरों, अवस्थाओं और सब भूमिकाओं में एवं सब स्तरों, अवस्थाओं और सब भूमिकाओं के परे, केवल एकमेव अवतार ही है जो सब

चीजों, सब जीवधारियों और समस्त मानवजाति को, विश्वव्यापी ठेल देने के लिये, उसी समय एकसाथ, चेतना की परिपक्वता की गति को तेज करने में अपारतया समर्थ होता है।

वास्तव में परमात्मा सबकुछ है और हरेक में व्याप्त है। परमात्मा का अवतार न केवल सबकुछ में और हरेक में व्याप्त है वरन् वह वास्तव में सबकुछ और हरेक बन जाता है।

अस्तु अवतार और सद्गुरु के बीच में मूल एवं एकमेव अन्तर यह है कि सद्गुरु प्रत्येक स्तर और सब भूमिकाओं पर अभिनय करता है जबकि अवतार अभिनय नहीं करता बल्कि यथार्थ में वही[३१] "बन जाता है।"

संक्षेप में, समस्त कालावधियों में और समस्त युगों में, सदैव छप्पन ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मायें अथवा शिव आत्मायें पृथ्वी पर मानव रूप में होती हैं[३२]।

यह बात ध्यानपूर्वक नोट करनी चाहिये कि ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त समस्त छप्पन आत्मायें पूर्ण पुरुष *[Perfect ones]* कही जा सकती हैं; किन्तु ये सब छप्पन पूर्ण पुरुष सबके सब सद्गुरु नहीं होते; यद्यपि ये सभी छप्पन पूर्ण पुरुष शाश्वत सत्य के उसी अनुभव का अनुभव करते हैं, और उस अनुभव में किंचित्मात्र अन्तर नहीं होता, और यद्यपि ये समस्त छप्पन अन्तिम लक्ष्य की चेतना में एक होते हैं—यथार्थ में, सर्वथा पूर्ण और ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त होते हैं, फिर भी उनके कार्य में अन्तर होता है। इसलिये इन छप्पन ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्माओं के लिये "पूर्ण पुरुष" शब्द हो सकता है किन्तु पूर्ण स्वामी *[Perfect Master]* अथवा सद्गुरु अथवा कुतुब नहीं हो सकता।

मानव रूप में विद्यमान छप्पन पूर्ण पुरुष अथवा शिव-आत्माओं में से, सब अवधियों में, सब युगों में, सदैव पाँच पूर्ण पुरुष अथवा सद्गुरु अथवा कुतुब होते हैं और ये पाँचों अखिल विश्व के कार्यों का नियन्त्रण करते हैं।

जब युग *[Age]* अवतारिक अवधि का नहीं होता, तब ये पाँच पूर्ण पुरुष एकसाथ मिलकर विश्व के कार्यों की देखभाल करते हैं, और पाँच सद्गुरुओं में से एक को जो अखिल विश्व के सभी कार्यों के ऊपर नियन्त्रण रखने के लिये उत्तरदायी होता है, सूफ़ी लोग "कुतुब-ए-इरशाद" कहते हैं।

किन्तु, जब युग कालचक्र‡ के अन्त में अवतारिक अवधि का होता है, तो अवतार (पुरातन पुरुष, ऊँचे से ऊँचा), स्वाधीन सत्यता (परमात्मा की परब्रह्म अवस्था की अनन्त चेतना), माया के अन्तर्गत सीधे पृथ्वी पर नर मानव प्राणी के द्वारा प्रगट की जाती है। परमात्मा की परब्रह्म अवस्था की इस अनन्त चेतना का यह प्रगटीकरण, पृथ्वी पर एक नर मानवरूप के द्वारा, आमतौर पर मनुष्य रूप में "पृथ्वी पर परमात्मा का सीधा अवतरण" कहा जाता है। परमात्मा का पृथ्वी पर यह अवतरण आमतौर पर "अवतार" माना जाता है।

अस्तु यह स्पष्ट है कि जब युग अवतारिक अवधि का होता है, और जब अवतार (अथवा सत्यता, अथवा परमात्मा की परब्रह्म अवस्था की ईश-चेतना) पृथ्वी पर माया के अन्तर्गत प्रगट होने के लिये आविर्भूत कराई जाती है, और इस आविर्भूत सत्यता को मानवरूप दिया जाता है जिससे वह दुनियाँ की मानवजाति के लिये उपस्थित होने के योग्य हो सके; यह अवतार, अथवा यह ईश-पुरुष, अनिवार्यरूप से छप्पन ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त आत्माओं के अलावा कोई और होना चाहिये।

उस समय विद्यमान, और कार्य करते हुये पांच सद्गुरु, अवतारिक अवधि के उपयुक्त समय में, व्यक्तिगत रूप से और सब एकसाथ मिलकर अवतार को पृथ्वी पर उतारते हैं; ३३ और अज्ञान में डूबे हुये सृष्टि के अन्तर्गत मायावी जीवन व्यतीत करते हुये, सबके लिये अपनी अनन्त दया एवं प्रेम का प्रयोग करके, इस अवतारिक अवतरण को उतारने के लिये अपनी शक्ति और कृपा का प्रयोग करते हैं और शाश्वत, अनन्त परब्रह्म अवस्था में ईश-चेतना को, माया के अन्तर्गत इस पृथ्वी पर प्रगट करते हैं; और वे अपनी अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं आनन्द के द्वारा सत्यता को नर मानवरूप की शक्ल में माया का एक अत्यन्त उपयुक्त "जामा" प्रदान करते हैं, जिससे सत्यता की दिव्यता, माया की दुनियाँ में, अत्यन्त दर्शनीय बनाई जा सके।

इस प्रकार, जब अनन्त सत्य (अर्थात् परमात्मा) पृथ्वी पर एक मनुष्य के रूप में प्रगट होता है और मानवजाति के प्रति अपना

---

‡ माया के अन्तर्गत सब कालचक्र ७०० से १४०० वर्ष के बाद समाप्त एवं प्रारम्भ होते हैं, और कालचक्रों के एक कालचक्र में लाखों और करोड़ों कालचक्र हुये हैं और होंगे; इस प्रकार माया का कोई अन्त नहीं है जो सदैव माया बनी रहती है।

ईश्वरत्व उजागर करता है, तब वह अवतार, मसीहा, सिद्ध पुरुष (*Prophet*) के रूप में माना जाता है, और इस प्रकार परमात्मा मनुष्य बन जाता है।

इस रीति से, अनन्त परमात्मा, युग-युग में, समस्त कालचक्रों के आद्योपान्त, अपनी अनन्त दया के द्वारा अपनी उपस्थिति मानवजाति के बीच करने की मरज़ी करता है, और ऐसा वह मनुष्य-रूप में मानवी स्तरों तक नीचे उतरने के द्वारा करता है, लेकिन मानवजाति के बीच उसकी शारीरिक उपस्थिति समझी नहीं जाती, इसलिये वह दुनियाँ के एक साधारण आदमी के समान माना जाता है। तथापि, जब वह अपनेआपको युग का अवतार होने की घोषणा करके पृथ्वी पर अपने ईश्वरत्व का प्रतिपादन करता है, तब कुछ लोग उसकी पूजा करते हैं जो उसको परमात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं; और कुछ लोग उसकी महिमा का गुणगान करते हैं जो उसको पृथ्वी पर विद्यमान परमात्मा के रूप में जानते हैं। किन्तु, शेष मानवजाति के भाग्य में अनिवार्यरूप से केवल उसकी निन्दा करना होता है जबकि वह शरीर रूप में उनके बीच विद्यमान होता है।

इसी तरह से ईश्वर ही मानवरूप में, अपने को अवतार घोषित करते हुये, अपने को मानवजाति द्वारा ताड़ना और दारुण दुख दिलवाता है, अपने को तिरस्कृत और निन्दित कराता है, जिस मानवजाति के लिये अपने अनन्त प्रेम के वश वह इतना नीचे उतरता है, जिससे मानवजाति, अवतार के रूप में परमात्मा के आविर्भाव की भर्त्सना करने की स्वयं क्रिया में, चाहे जितने परोक्षरूप से हो, परमात्मा के सत् का प्रतिपादन उसकी अनन्त, शाश्वत अवस्था की वास्तविकता में करें।

अवतार सदैव एक और वही होता है, क्योंकि परमात्मा सदैव एक और वही है.‡ शाश्वत, अखण्ड्य, अनन्त है जो अपनेआप को मानवरूप में अवतारवत्, मसीहा, सिद्ध पुरुष, बुद्ध, पुरातन पुरुष,—ऊँचे से ऊँचा के रूप में प्रगट करता है। यह शाश्वत एक और वही अवतार समय-समय पर, विभिन्न कालचक्रों में, विभिन्न नाम और विभिन्न

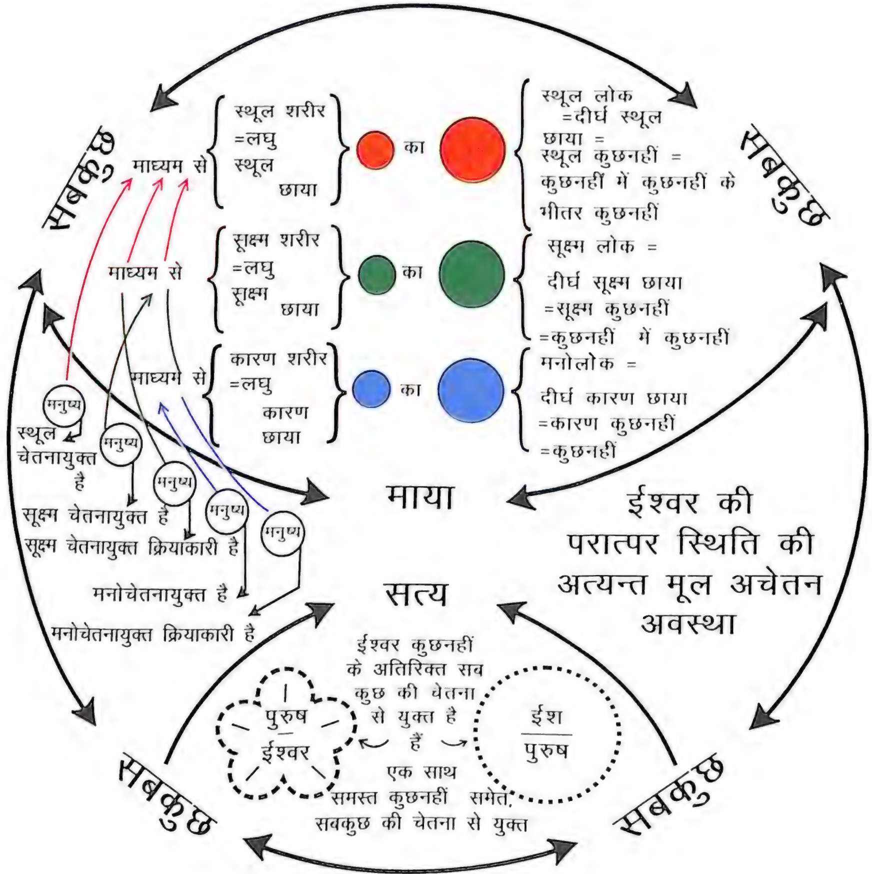
‡ [मेहेरबाबा से पूछा गया कि क्या सद्गुरु, शरीर छोड़ देने के पश्चात्, कभी पृथ्वी पर वापिस आता है, अर्थात्, क्या वह कभी पुनः जन्म लेता है ? बाबा ने उत्तर दिया, "नहीं, कभी नहीं। केवल अवतार पुनः जन्म लेता है।"
सम्पादक]

मानवरूप धारण करके, विभिन्न स्थानों में, अपने को बारम्बार प्रगट करता है। वह बारम्बार अपनी अभिव्यक्ति मानवजाति को अज्ञान के खड्ड से निकालकर ऊपर लाने और माया के बन्धन से छुटकारा पाने में उसकी सहायता करने के प्रयोजन से, सत्य को विभिन्न लिबासों और विभिन्न भाषाओं में उजागर करने के लिये करता है।

अवतारिक अवधि के दौरान में, उस समय के पाँच सजीव सद्‌गुरुओं में से एक, जो कुतुब-ए-इरशाद के रूप में कार्य किया करता था, अवतार के पृथ्वी पर आने पर इस दैवी पद को त्याग देता है और अपनी ड्यूटी एवं विश्व के कार्यों के लिये एकमेव उत्तरदायित्व का कार्यभार ईश-पुरुष के हाथों में सौंप देता है। जैसे ही वह क्राईस्ट—युगावतार—के रूप में अपने पद का कार्यभार सँभालने के योग्य हो जाता है, और जब तक वह खुद स्थूल शरीर धारण किये रहता है, तब तक वह वही पद धारण किये रहता है जैसे अन्य चार सद्‌गुरु धारण किये रहते हैं।

अवतार के अवतरण के बावजूद, छप्पन ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्माओं का मानव शरीर में रहना आवश्यक है, और इन छप्पन आत्माओं में से पृथ्वी पर पाँच सजीव सद्‌गुरुओं का होना आवश्यक होता है। जब इन पाँच सद्‌गुरुओं में से कोई एक अपना भौतिक शरीर त्याग देता है, तो वह पद कभी खाली नहीं छूटता; वह अनिवार्यरूप से एक अन्य सजीव ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मा द्वारा पूरा कर दिया जाता है जिस आत्मा ने उस समय शाश्वत सत्य का साक्षात्कार कर लिया होता है। अस्तु, उस समय भी जब अवतार पृथ्वी पर विद्यमान होता है, छप्पन ईश्वर-साक्षात्कार- प्राप्त आत्मायें होती हैं, जिनमें मानव रूप धारण किये पाँच सद्‌गुरु सम्मिलित होते हैं, किन्तु अवतार एकमेव सत्ता बन जाता है।

ईश्वर सत्य है और अन्य सब माया है



ईश्वर सबकुछ है और अन्य सब कुछनहीं है

इस पृष्ठ के सामने लगे ७ वें चार्ट के विषय में
मेहेरबाबा का स्पष्टीकरण

प्राण भुवनों की प्राणशक्ति से और मन भुवनों के प्रकाश से, शंख-महाशंख वर्षों तक भूतकाल में और भविष्य में, स्थूल जगत असंख्य तारागणों, सूर्यों, नक्षत्रों, लोकों, चन्द्रमाओं और उल्कापातों के रूप में निर्मित एवं खण्डित होता रहा है और भविष्य में होता रहेगा। फिर भी, वास्तव में, काल और देश जैसी कोई चीजें नहीं हैं। एकबार आत्मा को माया से मुक्ति मिल जाने पर, माया का अस्तित्व न केवल समाप्त हो जाता है, बल्कि तब मालूम पड़ता है कि उसका अस्तित्व कभी भी बिल्कुल न था।

स्थूल जगत की धातु, वनस्पति और पशु जगतों के माध्यम से, लाखों, करोड़ों और असंख्य वर्षों की निश्चित तथापि अपरिमित अवधि तक, क्रमश: विकास होने के बाद, चेतना मनुष्य में पूर्ण हो जाती है। तब मनुष्य को सहीरूप से ईश-चेतना प्राप्त होना चाहिये, किन्तु संस्कारी बन्धनों के कारण ऐसा नहीं होता जो चेतना के विकास के दौरान में सञ्चित हुये मायावी अनुभवों के संस्कारों से पैदा होते हैं। इस प्रकार मनुष्य को केवल स्थूल की पूर्ण चेतना बनी रहती है।

इसके पहले कि मनुष्य की पूर्ण किन्तु स्थूल चेतना ईश-चेतना की सत्यता में प्रतिवर्धित हो सके, उसको पहले सूक्ष्म चेतना के रूप में प्रतिवर्धित होना चाहिये, और सूक्ष्म चेतना से पूर्ण मनो चेतना के रूप में प्रतिवर्धित होना चाहिये। इसके निमित्त, स्थूल संस्कारों को सूक्ष्म संस्कारों के रूप में और सूक्ष्म संस्कारों से मनो संस्कारों के रूप में परिणत हो जाना चाहिये और, अन्त के अनुसार, प्रारम्भिक संस्कारों की क्षीणता एवं महीनता पुन: प्राप्त करनी चाहिये, जो संस्कार वनस्पति एवं धातु योनियों में सञ्चित हुये थे—मूल भेद चेतना में है।

विकास की प्रक्रिया में अनुसरण किये गये निश्चित मार्ग के असमान, मनुष्य, मनुष्य के रूप में अपनी चेतना का उपयोग पूर्णतया और स्वतन्त्रता से कर सकता है। इसलिये पूर्णतया स्थूल-चेतनायुक्त मनुष्य, अपने संस्कारी बन्धनों को फलत: जकड़ने अथवा ढीला करने के अनुसार, पूर्णरूप से सूक्ष्म-चेतनायुक्त हो सकता है, और उसके पश्चात् पूर्ण मनो-चेतनायुक्त हो सकता है—कभी-कभी कुछ अथवा कभी-कभी असंख्य मानवी पुनर्जन्मों के बाद अपनी चेतना के दो प्रतिवर्धनों में से प्रत्येक के बीच कर सकता है। और यदि किसी मनुष्य को किसी "ईश्वर

के प्रेमी" से दैवी प्रेम पाने का सौभाग्य प्राप्त होता है, अथवा यदि किसी व्यक्ति को सद्गुरु का पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है, तो उसको सब बन्धनों से मुक्ति, चाहे वे जितने बड़े और जटिल हों, बहुत सरलता से और तीव्रता से प्राप्त हो जाती है। इस नियम के कुछ अपवादों में एक भी पुनर्जन्म लेने के बग़ैर तत्काल मुक्ति प्राप्त करना भी सम्भव है।

जैसा भी हो, **माया** की दुई, अर्थात् दुख और सुख, भला और बुरा, पुरुष और स्त्री, बलवान और निर्बल, इत्यादि के विपरीत अनुभवों के द्वारा बन्धनों को स्वत: ढीला करने के लिये, मनुष्य को कुछ-कुछ पचास करोड़ मौत की निद्राओं के समान चौरासी लाख बार विविध अनुभवों की चेतना रखनी पड़ती है; तथापि, परमात्मा की सर्व-व्यापी कृपा के द्वारा मनुष्य, अनिवार्यरूप से सूक्ष्म-और मनो-चेतनायुक्त बन जाता है, और इस प्रकार बारम्बार होने वाले भौतिक जन्मों और मृत्युओं को थोड़ा-बहुत कम करने में समर्थ होता है।

अन्तत:, ईश-पुरुष अथवा नर-नारायण की कृपा से, मनुष्य एक क्षण से बहुत-बहुत कम समय में, पूर्ण चैतन्य परमात्मा बन जाता है और उसको मालूम होता है कि काल और देश खुद उसकी नित्यता एवं अनन्तता से पैदा हुये हैं, जिसमें काल और देश का बिल्कुल अस्तित्व नहीं होता।‡

‡ [और अधिक स्पष्टियाँ माँगे जाने पर, एरच बी० जसावाला ने उत्तर देते हुये लिखा :

"पचास करोड़ मृत्यु की निद्राओं के प्रसंग का उल्लेख लगभग वह है जिससे एक आत्मा को चेतना के विकास की प्रक्रिया के दौरान में गुज़रना पड़ता है—योनियों की चेतना का विकास और पुनर्जन्म का विकास माध्यमों में होते परिवर्तनों की सहायता से, अर्थात् विभिन्न उपजातियों के विभिन्न रूपों से साहचर्य एवं विच्छिन्नता के माध्यम से होता है।

"चौरासी लाख पुनर्जन्म मनुष्य योनि में होते हैं, किन्तु 'मृत्यु की पचास करोड़ निद्राओं' में पूर्व-मानवी रूपों से साहचर्य एवं माध्यम से विच्छिन्नता तथा उनके संस्कारों के अनुभव सम्मिलित होते हैं।

"मनुष्य को जितनी बार वह जन्म ले सकता है उसकी अपेक्षा अधिक समय तक मरना आवश्यक नहीं है। मनुष्य मन के जन्म के साथ एकबार जन्म लेता है, और मन के नाश के साथ मनुष्य एकबार मरता है। इस रूप में, वास्तव में कोई पुनर्जन्म नहीं होता; वह मन के लिये मृत्यु की करोड़ों निद्राओं की केवल एक प्रक्रिया है, जो एकबार पैदा होता है और एकबार मरता है। मन के जन्म में विकास, पुनर्जन्म और प्रतिवर्धन की प्रक्रियायें सन्निहित होती हैं। मन की मौत आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर लेना है।" सम्पादक]

परमात्मा की दस अवस्थायें

एरच बी० जसावाला कृत

"परमात्मा की दस अवस्थायें" जो नीचे दी गई हैं एरच बी० जसावाला ने मेहेरबाबा के प्रत्यक्ष संरक्षण में लिखी थीं। उनमें एक में मूल मानचित्र, "परमात्मा की दस अवस्थायें" का वर्णन और व्याख्या की गई है जिसका विचार मेहेरबाबा ने दिया था।

—सम्पादकगण

परमात्मा की दस मुख्य अवस्थायें

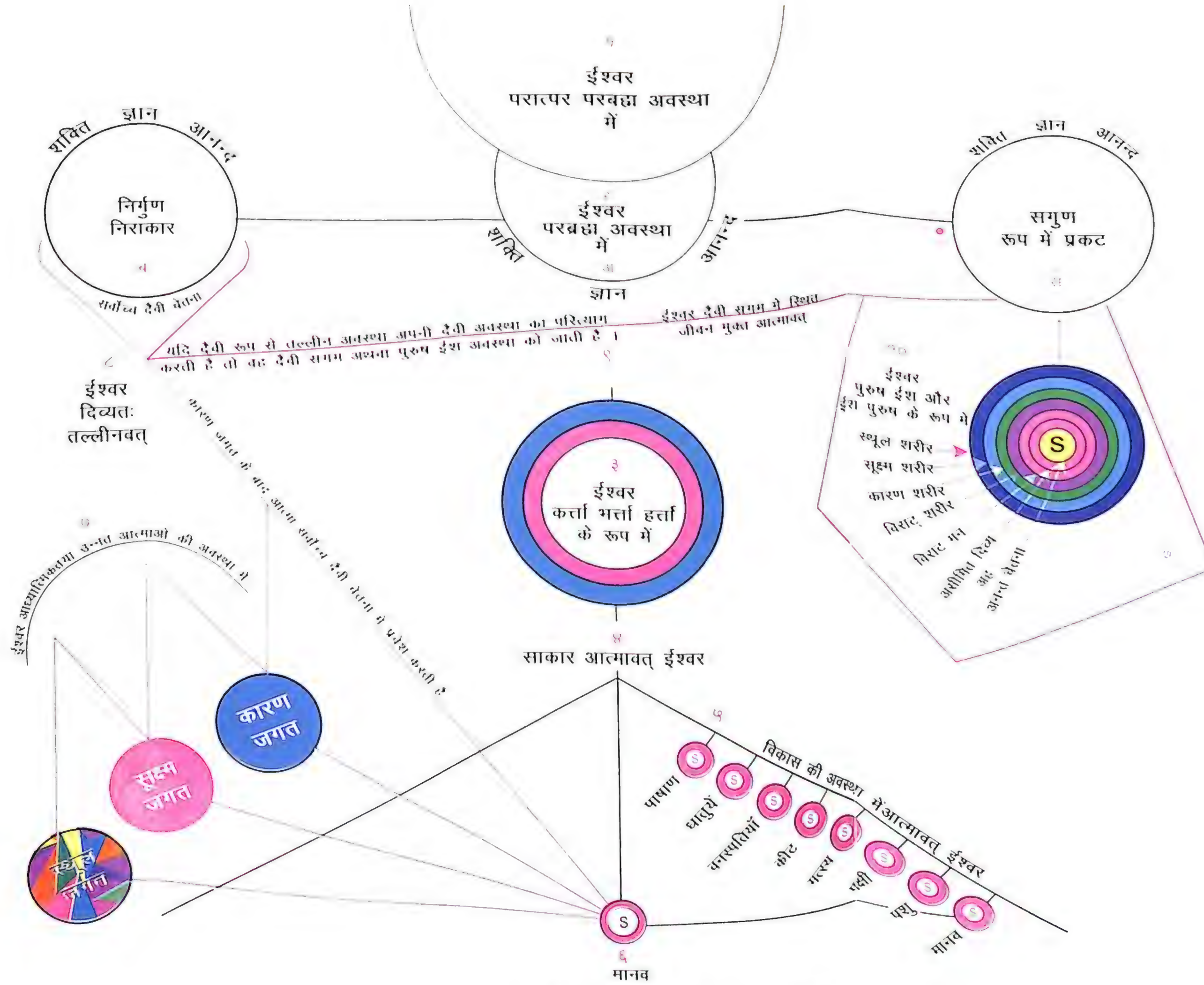
मेहेरबाबा द्वारा चित्रित‡

अवस्था १	परमात्मा	परे-अतिपरे अवस्था में
अवस्था २	परमात्मा	परब्रह्म उप-अवस्थाओं अ, ब, स में।
अवस्था ३	परमात्मा	कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता के रूप में
अवस्था ४	परमात्मा	साकार आत्मा के रूप में
अवस्था ५	परमात्मा	विकास की अवस्था में आत्मा के रूप में
अवस्था ६	परमात्मा	पुनर्जन्म की अवस्था में मानवी आत्मा के रूप में
अवस्था ७	परमात्मा	अध्यात्म में उन्नत आत्माओं की अवस्था में
अवस्था ८	परमात्मा	दिव्य रूप से निमग्न रूप में
अवस्था ९	परमात्मा	शरीर धारी मुक्त हुई आत्मा के रूप में
अवस्था १०	परमात्मा	नर-नारायण और ईश-पुरुष के रूप में

‡ ८ वाँ चार्ट देखिये।

ईश्वर की दस अवस्थायें

अ– ईश्वर न तो चेतनतया शक्ति, ज्ञान, आनन्द का अनुभव करता है और न उनका प्रयोग करता है
ब– ईश्वर चेतनतया शक्ति, ज्ञान, आनन्द का अनुभव करता है किन्तु उनका प्रयोग नहीं करता है
स– ईश्वर चेतनतया शक्ति, ज्ञान, आनन्द का अनुभव करता है और उनका प्रयोग करता है



ईश्वर–पुनर्जन्म की अवस्था में मानवी आत्मा के रूप में

वेदान्तिक	गूढ़	सूफ़ी
परात्पर परब्रह्म	ईश्वर की परात्पर परब्रह्म अवस्था	ग़ैब-उल-ग़ैब वरा-उल-वरा
परमात्मा	ईश्वर परब्रह्म अवस्था में	अल्लाह
अनन्त	अपार	ला महदूद
निर्गुण	गुणातीत	ला सिफ़ात
निराकार	रूपरहित	ला सूरत
सत्–चित्–आनन्द	शक्ति,ज्ञान,आनन्द	कुदरत,मारेफत,मसर्रत
विज्ञान भूमिका	प्रभुत्व का प्रदेश	आलम–ए–हाहूत अर्श–ए–आला
आत्मप्रतिस्थापना सहज समाधि	ईश्वर के जीवन में स्थापित	बक़ा बिल्लाह
विज्ञान	सर्वोच्च दिव्य चेतना	अहादियत आलम–ए–लहूत
सगुण	गुणयुक्त	बा सिफ़ात
साकार	रूप में प्रकट	बा सूरत
ब्रह्मा	कर्ता	अफ़रीदगर
विष्णु	भर्ता	परवरदिगार
महेश	हर्ता	फ़नाकर
मनोभुवन	मनोलोक	आलम–ए–जबरूत
प्राणभुवन	सूक्ष्मलोक	आलम–ए–मलाकूत
अन्नभुवन	स्थूल लोक	आलम–ए–नासूत
उत्क्रान्ति	विकास	इरतेक़ा
पुनर्जन्म	पुनरावतरण	रिज'अत अथवा आवागवन
भूमिका	प्लेन	आसमान
आत्मा	जीवात्मा	जान अथवा रूह
जीवात्मा	देहधारी आत्मा	जान–ए–जिस्मी
मानव	व्यक्ति	इन्सान
योगी (साधक)	जिज्ञासु	रहरव
साधू	उन्नत आत्मा	मुतवस्सित
महात्मा	महानआत्मा	अख्यार
महापुरुष (सन्त)	सन्त	अवरार = वली
सत्पुरुष	प्रवीण तीर्थ यात्री (सन्त)	अफ़राद = पीर
मनोनाश (निर्वाण)	मन का नाश (आत्म)	अन्तिम फ़ना
निर्विकल्प	ईश्वर से ऐक्य	फ़ना–फ़िल्लाह
ब्रह्मीभूत	दिव्यतः निमग्न	मजज़ूब–ए–कामिल
तुरिया अवस्था	दिव्य सन्धि	फ़ना मा–अल–बकाअत –मुक़ाम–ए–फ़ुरूतात
परमहंस	दिव्य उन्नत–पुरुष	मजज़ूब–सालिक अथवा सालिक–मजज़ूब
जीवन मुक्त	बन्धन मुक्त देहधारी	आजाद–ए–मुतलक़
सद्गुरु	नर–नारायण	कुतुब
अवतार	ईश–पुरुष	साहब–ए–ज़माँ

वेदान्तिक और वेदान्तिक के निकट अर्थ वाले शब्द

भाग ९

परमात्मा की दस अवस्थायें

इस अध्याय के पृष्ठ उस मानचित्र के चारों ओर बनाये गये हैं जो परमात्मा की दस अवस्थाओं का चित्रण करता है। यह मानचित्र स्वयं मेहेरबाबा ने प्रदान किया है; यह उनके परम ज्ञान के अथाह भण्डार का एक रत्न है। इस मानचित्र के आध्यात्मिक शब्द अत्यन्त सामान्यतः स्वीकार किये गये सूफी, वेदान्तिक और ईसाई रहस्यवादी समानार्थक शब्दों से जोड़े गये हैं।

यदि हम इस मानचित्र पर एक विहङ्गम दृष्टि डालें तो हमें मालूम होगा कि यह वह चित्रण करता है जो वास्तव में परमात्मा के मनुष्य रूप (इन्सान, जीवात्मा) की अवनति के सबसे नीचे बिन्दु तक की अधोमुखी यात्रा है, और उसकी ऊर्ध्वमुखी यात्रा पुनः चेतना की उधारती हुई भूमिकाओं से होकर, वापस मूल स्रोत तक है; पहले दिव्य रूप में निमग्न मजजूब-ए-कामिल के रूप में और अन्ततः सद्गुरु में (इन्सान-ए-कामिल, शिव-आत्मा) परम शिखर पर पहुँचने में। परमात्मा की दस विभिन्न अवस्थायें इस यात्रा पर मुख्य स्थितियाँ हैं—एक यात्रा जिसमें अचैतन्य परमात्मा, चैतन्य परमात्मा होने के लिये, चैतन्य पुरुष बन जाता है।

यद्यपि परमात्मा की ये अवस्थायें एक-दूसरे से प्रत्यक्ष रूप से भिन्न रूप में दिखाई गई हैं, तथापि वे प्रभाव में एक परमात्मा के दस पहलू हैं, जो परमात्मा अभी विद्यमान है, और सदैव विद्यमान, एक, रहेगा। परमात्मा का अवतरण और उर्ध्वगमन केवल कल्पना में है, और कल्पना के समाप्त हो जाने पर व्यक्तिगत आत्मा के लिये पूर्ण चैतन्यता के साथ यह अनुभूति आती है कि केवल एकमेव परमात्मा का अस्तित्व है और अन्य कोई भी चीज और सबकुछ, जो अस्तित्व में दिखाई पड़ता है, केवल उसकी छाया है।

मेहेरबाबा का ज्ञान-पथ, बिना किसी वक्र-उक्ति के, सारूप्यवाद (वहदत-उल-वुजूद)३४ का एवं अद्वैतवाद के सिद्धान्त दोनों का समर्थन करता है। "मेहेरबाबा द्वारा प्रदान की गई परमात्मा की दस अवस्थाओं" के चार्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एकमेव परमात्मा ही, यथार्थ और काल्पनिक विभिन्न भूमिकायें अदा करता है। आदि परमात्मा है और अन्त परमात्मा है; और बीच में आने वाली सभी स्थितियाँ परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकतीं। इस्लामिक शास्त्र का आध्यात्मिक सिद्धान्त है "हुवल अव्वल, हुवल आखीर, हुवल ज़ाहिर, हुवल बातिन" (वह आदि है, वह अन्त है, वह बाह्य है, वह आन्तरिक है)।

मौलाना शाबिस्तरी ने गुलशन-ए-राज़ में कहा है :

गर अन्दर आमद अव्वल हम बीदर शुद
अगर्चे दर माद अज़ दर बीदर शुद।

"वह पहले जिस दरवाज़े से बाहर आया था उसी दरवाज़े को वापिस आता है, यद्यपि वह अपनी यात्रा में दर-दर फिरा था।"

अब हम परमात्मा की इन दस अवस्थाओं में से प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन देने का प्रयत्न करेंगे जैसा मेहेरबाबा ने समझाया है।

स्थिति १

परमात्मा परे-अति-परे अवस्था में

परमात्मा की यह अवस्था इतनी ऊँची है कि वास्तव में इसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। यह बिल्कुल निर्मल और निष्कलंक है और उसमें "दूसरेपन" का लेशमात्र नहीं है। यह समस्त गुप्त ज्ञान का ज्ञान है और समस्त आन्तरिक सत्यताओं का आन्तरिक सत्य है। यह समस्त शब्दों के परे है, इसलिये इसका पर्याप्त वर्णन नहीं किया जा सकता। यह न तो सीमित है और न असीमित है, न तो निर्गुण है और न सगुण है। इस प्रदेश में विचार, हस्तक्षेप, भेदभाव और समझ के पङ्ख लँगड़े तथा निरर्थक हैं।

वेखयाल दर नगुन्जद, तू ख़याले खुद मरन्जान।
जे जहत बुअद मुबर्रा मतलब वेहिच सुयश।

"वह मन के द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता, अत: तुम उसको समझने की कोशिश न करो; वह सभी दिशाओं से स्वतन्त्र है, अत: उसको कहीं ढूंढ़ने का प्रयत्न न करो।"

मेहेरबाबा कहते हैं कि परमात्मा की इस अवस्था को प्राप्त हुआ मनुष्य जब इसका वर्णन दूसरे लोगों से करने का प्रयत्न करता है, तो इस क्रिया का परिणाम परमात्मा की पहली अवस्था के वर्णन में नहीं, बल्कि परमात्मा की दूसरी अवस्था—अर्थात् परमात्मा की परब्रह्म अवस्था—के वर्णन में होता है।

वह समस्त नित्यताओं (*Eternity*) की नित्यता (**अज़ल-उल-अज़ल**) है क्योंकि इसके पहले अथवा इसके बाद किसी भी नित्यता के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। इस स्थल पर समस्त लक्षणों का सफाया हो जाता है (**मुन्क़ाता-उल-इज़हारात**), क्योंकि किसी भी दूसरी चीज का अस्तित्व नहीं रहता जिसका संकेत किया जा सके अथवा उल्लेख किया जा सके। इस निर्मल तत्व (**ज़ात-अल-बहत**) को किसी भी चीज़ का, यहाँ तक कि खुद अपने का, भान नहीं रहता।

इस अवस्था का उल्लेख सूफी लोग **वरा-उल-वरा—अर्थात् परमात्मा की परे-अति-परे अवस्था—**के रूप में करते हैं। वेदान्त उसको **परात्पर परब्रह्म** कहता है।

यह वही अवस्था है जिसमें परमात्मा न तो **निर्गुण** (गुणरहित) है और न **सगुण** (गुण सहित) है, न तो **निराकार** (रूप रहित) है और न **साकार** (रूपधारी) है।

परमात्मा की सभी मुख्य दस अवस्थाओं में, प्रथम और अत्यन्त-मूल अवस्था परमात्मा की **परात्पर-परब्रह्म अवस्था** है।

जब परमात्मा के आदि के आदि के परे में परमात्मा की कोई दूसरी अवस्थायें न थीं, तब परमात्मा की केवल अत्यन्त-मूल अनन्त अवस्था (अर्थात्, "परमात्मा-है" अवस्था) परमात्मा की परात्पर-परब्रह्म अवस्था के रूप में व्याप्त थी।

परमात्मा की इस परात्पर-परब्रह्म अवस्था की अनन्तता में केवल **अनन्तता की** अनन्तता असीमित, अखण्ड, अनन्त, **ईश्वरीय शून्यता** (*Vacuum*) के रूप में प्रगट होती है; और परमात्मा की अन्य सब अवस्थायें, गुण तथा पहलू, अनन्त चेतना और अनन्त अचेतना के सहित, ये सब **शून्य** के रूप में उस असीमित, अखण्ड, अनन्त ईश्वरीय शून्यता

परमात्मा-है अवस्था की अनन्तता में उभरती है, तभी अनन्त परमात्मा "मैं कौन हूँ ?" के रूप में जानने-की-अनन्त मूल लहर की कल्पना कर सकता है—अर्थात्, केवल जिस समय परात्पर-परब्रह्म परमात्मा में अवस्था १ की पहलू रहित अवस्था परब्रह्म-परमात्मा अवस्था की अवस्था २ के पहलू को प्राप्त करती है। इस प्रकार परात्पर-परब्रह्म को परमात्मा का अनन्त रूप प्राप्त होता है।

इसे भी ध्यान से और बहुत सावधानी से नोट करना चाहिये कि चार्ट में २ के रूप में अङ्कित की गई परब्रह्म अवस्था मूलरूप से वही अवस्था है जो चार्ट में १ के रूप में अङ्कित परमात्मा की परात्पर-परब्रह्म अवस्था है। लेकिन चार्ट में ये दो अवस्थायें, अवस्था १ और अवस्था २, अलग से चित्रित की गई हैं, क्योंकि यद्यपि परब्रह्म-परमात्मा अवस्था की अवस्था २ परमात्मा की वही मूल अवस्था है, फिर भी वह परमात्मा की अत्यन्त-मूल अवस्था नहीं है जो परात्पर-परब्रह्म अवस्था है। इससे अनिवार्यरूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि चूँकि परमात्मा अनन्त मूल लहर के अनन्त उभार की कल्पना कर सकता था और, केवल अवस्था २ में, "मैं कौन हूँ ?" के रूप में, खुद को जानने-की अनन्त मूल लहर की अनन्त मूल अन्त: प्रेरणा प्राप्त कर सकता था, जब परमात्मा अवस्था १ में शाश्वतः, स्वयं अपनी शाश्वत अवस्था १ के अन्तर्गत, जो अत्यन्त-मूल परात्पर-परब्रह्म अवस्था है, अवस्था २ का अनन्त मूल रूप धारण करता है।

इसको और स्पष्टरूप में प्रकट करें; परमात्मा की इन दोनों अवस्थाओं में (अवस्था १ और अवस्था २), परमात्मा की शाश्वत अनन्तता की नित्य प्रगट अनन्तता के अलावा, (असीमित, अखण्ड, अनन्त दिव्य शून्यता के रूप में), सब गुण, सब पहलू, सब अवस्थायें, परमात्मा की अनन्त और अत्यन्त-सीमित चेतना एवं अचेतना, जिसमें परमात्मा की शक्ति, ज्ञान और आनन्द तथा अन्य सब चीजें खुद उसकी अनन्त त्रि-प्रकृति में सन्निहित होती हैं, सब असीमित, अखण्ड, अनन्त ईश्वरीय शून्यता में गुप्त होते हैं।

यह सब जो अनन्तता में गुप्त है केवल परमात्मा की अवस्था २ में ही प्रगट होने की गुन्जाइश रख सकता था, जो केवल इस अर्थ में अवस्था १ से भिन्न कहा जा सकता है, कि वह सबकुछ जो अनन्त रूप से, और अत्यन्त-सीमित रूप से, प्रगट होने की इस अनन्त गुन्जाइश

रखने की, सबकुछवत् परमात्मा की अनन्तता के शून्य रूप में गुप्त होती है ।

इसके फलस्वरूप, परमात्मा की अत्यन्त मूल लहर, जो एकवार उठ जाने पर, केवल परमात्मा की अवस्था २ में ही उठने की सम्भावना रखती थी; और जब वह लहर उभर पड़ी, तो वह परमात्मा की अनन्तता में एकरूपता के साथ उठी । किन्तु जब लहर उठी, तब इस लहर के उभार का अनुभव परमात्मा अपनी अपारतया अत्यन्त स्वतन्त्र परात्पर-परब्रह्म अवस्था की अवस्था १ में कभी न कर सकता था; उसका अनुभव परमात्मा ने, शाश्वतरूप से अत्यन्त-मूल परात्पर-परब्रह्म अवस्था में, केवल अपनी अवस्था २ के अनन्त पहलू के द्वारा "परब्रह्म-परमात्मा अवस्था में" परमात्मावत् किया ।

अस्तु, अनन्त मूल लहर का अनन्त उभार और उसके फलस्वरूप होने वाली अनन्त प्रतिक्रियायें वास्तव में परब्रह्म परमात्मा की अवस्था २ में प्रभावित *[Affected]* होती हैं ।

उस क्षण जब अनन्त मूल लहर उठी और परमात्मा को "मैं कौन हूँ ?" के रूप में, जानने की अनन्त मूल लहर प्राप्त हुई, तो लहर के अनन्त हिलोरन की अनन्त सरूपता ने स्वतः, परमात्मा की गुप्त अनन्त चेतना और गुप्त अनन्त अचेतना दोनों को एकसाथ परमात्मा की मूल परब्रह्म अवस्था में अभिव्यक्त किया, जो फिर भी शाश्वतः अत्यन्त-मूल परात्पर-परब्रह्म अवस्था में है ।

गुप्त अनन्त चेतना का और अनन्त अचेतना का एकसाथ हुआ यह स्वतः आविर्भाव, मानवी बुद्धि की पकड़ के परे होने के कारण समझ और विचार के परे है । यह वास्तव में यथार्थता के प्रदेश का असत्याभास है, और यह समस्त मानवी समझ को असफल कर देता है । परमात्मा स्वतः खुद अपनी अनन्त चेतना और अपनी अनन्त अचेतना एक ही समय कैसे प्राप्त कर सकता था ? इसको समझाते हुये, मेहेर-बाबा ने घोषित किया था कि यह एक सत्य बात है, और यह सत्यता के प्रदेश की बात है, किन्तु यह मन के द्वारा कभी भी समझी और पकड़ी नहीं जा सकती; इसको केवल सत्यता का साक्षात्कार होने पर अनुभव किया जा सकता है । इसके साथ-साथ, इस उद्देश्य से कि हम कम से कम सत्यता में प्रभावित इस तथ्य की कुछ कल्पना प्राप्त कर सकें, और हम इसको केवल एक असत्याभास पूर्ण रहस्य न समझें,

मेहेरबाबा ने हमको इस प्रत्यक्ष असत्याभास को माँ के गर्भ में एक बच्चे के उदाहरण के द्वारा समझाया है।

जब माँ गर्भ धारण करती है, तो बच्चा माँ के गर्भ में विकास की क्रिया में होता है; और जैसे ही विकास एक ऐसी स्थिति पर पहुँचता है जबकि, अन्य विकासों के साथ-साथ, बच्चे की आँखें पूरीतौर से ढल जाती हैं, तब बच्चे को एकसाथ "देखने" और "न-देखने" की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। चाहे बच्चा, जन्म लेने के बाद, देखता है अथवा नहीं देखता, स्वयं यह तथ्य कि आँखें उसकी माता के गर्भ में ढली हैं, बच्चे को खुद उसकी आँखों का द्वैत पहलू प्रदान करता है। आँखों में, जैसे ही वे विकसित हो जाती हैं, देखने और न-देखने की शक्तियाँ एकसाथ अन्तर्निहित होती हैं। जब बच्चा अपनी आँखें खोलता है तो वह देखेगा और जब वह अपनी आँखें बन्द करता है तब वह न-देखेगा; किन्तु यह तथ्य फिर भी क़ायम रहता है कि जैसे ही आँखें विकसित हुई थीं वैसे ही उनमें देखने और न-देखने की द्वैध शक्ति एकसाथ भर गई थी।

इसी प्रकार से, परमात्मा में उठी मूल अनन्त लहर के आलोड़न (*Insurge*) के साथ, अनन्त चेतना और अनन्त अचेतना दोनों, जो परमात्मा में अन्तर्हित थीं, एकसाथ अभिव्यक्त हुईं, जो सीमित मन को असत्याभास मालूम पड़ता है।

इस प्रकार परमात्मा ने अपनी परात्पर-परब्रह्म अवस्था (*Beyond-Beyond*) की अत्यन्त-मूल अवस्था १ में, परब्रह्म-परमात्मा की अपनी मूल अवस्था २ के द्वारा, खुद अपनी अनन्त चेतन अवस्था और खुद अपनी अनन्त अचेतन अवस्था, एकसाथ स्वतः प्राप्त कीं, जैसा चार्ट में "अ" और "ब" अवस्थाओं के रूप में क्रमशः दिखाया गया है।

इसके फलस्वरूप, एक ओर, अनन्त अचेतना की सहज अभिव्यक्ति के साथ, परमात्मा अपनी अनन्त अचैतन्य परब्रह्म परमात्मा अवस्था में, जैसा चार्ट में "अ" रूप में दिखाया गया है, न केवल नित्य रूप से खुद अपने शाश्वत, अनन्त अस्तित्व के प्रति अनन्ततः अचैतन्य बना रहता है, जैसा वह परम-अनन्तता (*Infinitude-absolute*) की अत्यन्त-मूल परात्पर-परब्रह्म अवस्था में होता है, किन्तु वह खुद अपनी पैदा की गई अनन्त मूल परब्रह्म-अवस्था के प्रति शाश्वतरूप से अपारतया अचैतन्य भी बना रहता है; यह चार्ट में २ के रूप में दिखाया गया है।

दूसरी ओर, अनन्त चेतना के स्वतः आविर्भाव के साथ-साथ, परमात्मा को अपनी अनन्त, चैतन्य परब्रह्म अवस्था में, जैसा चार्ट में "ब" के रूप में दिखाया गया है, शाश्वतरूप से न केवल खुद अपने शाश्वत अनन्त अस्तित्व की अपार चेतना प्राप्त हो जाती है, जैसा परम-अनन्तता की अत्यन्त-मूल परात्पर-परब्रह्म अवस्था में होता है, किन्तु उसको खुद अपनी पैदा की गई अनन्त मूल परे अवस्था की अत्यन्त स्पष्ट अनन्त चेतना भी प्राप्त हो जाती है, जो चार्ट में २ के रूप में दिखाया गया है।

दूसरे शब्दों में, परमात्मा की केवल परब्रह्म अवस्था में, जैसा चार्ट में अवस्था २ के रूप में दिखाया गया है, परमात्मा स्वतः, अनन्त मूल लहर के उभार के साथ ही साथ अपनी शाश्वत अनन्त अचेतन अवस्था को जन्म देता है जैसा उप-अवस्था "अ" में दिखाया गया है, और अपनी शाश्वत, अनन्त चेतन अवस्था पैदा करता है, जैसा उप-अवस्था "ब" में अंकित किया गया है।

उप-अवस्था अ परब्रह्म अवस्था में परमात्मा की अवस्था है, जैसा अवस्था २ के रूप में अंकित किया गया है। यह उप-अवस्था अ खुद परमात्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की अनन्त अचैतन्यता की अवस्था है। परमात्मा इस उप-अवस्था अ में न तो अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की खुद अपनी त्रि-प्रकृति का चैतन्य अनुभव करता है, और न उनका प्रयोग करता है।

उप-अवस्था ब भी परब्रह्म-परमात्मा अवस्था की अवस्था है, जो अवस्था २ के रूप में अंकित की गई है। यह उप-अवस्था ब निर्गुण और निराकार होती है, किन्तु यह खुद परमात्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की अनन्त त्रि-प्रकृति की सर्वोच्च दिव्य चेतना है। परमात्मा इस उप-अवस्था ब में चैतन्य रूप से खुद अपनी अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव करता है किन्तु वह उनका प्रयोग नहीं करता। उसको अपनी यथार्थता की चेतना होती है लेकिन माया की चेतना नहीं होती है।

वेदान्तिक शब्दों में, इस प्रकार से ही परात्पर-परब्रह्म की अवस्था १ परमात्मा की अवस्था २ की उत्पत्ति करती है; और इस अवस्था २ में, परमात्मा परमात्मा के रूप में नित्य अचैतन्य होता है और उसके साथ-साथ उसको परात्पर-परब्रह्म की खुद अपनी अत्यन्त-मूल

मेहेरबाबा ने हमको इस प्रत्यक्ष असत्याभास को माँ के गर्भ में एक बच्चे के उदाहरण के द्वारा समझाया है ।

जब माँ गर्भ धारण करती है, तो बच्चा माँ के गर्भ में विकास की क्रिया में होता है; और जैसे ही विकास एक ऐसी स्थिति पर पहुँचता है जबकि, अन्य विकासों के साथ-साथ, बच्चे की आँखें पूरीतौर से ढल जाती हैं, तब बच्चे को एकसाथ "देखने" और "न-देखने" की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं । चाहे बच्चा, जन्म लेने के बाद, देखता है अथवा नहीं देखता, स्वयं यह तथ्य कि आँखें उसकी माता के गर्भ में ढली हैं, बच्चे को खुद उसकी आँखों का द्वैत पहलू प्रदान करता है । आँखों में, जैसे ही वे विकसित हो जाती हैं, देखने और न-देखने की शक्तियाँ एकसाथ अन्तर्निहित होती हैं । जब बच्चा अपनी आँखें खोलता है तो वह देखेगा और जब वह अपनी आँखें बन्द करता है तब वह न-देखेगा; किन्तु यह तथ्य फिर भी क़ायम रहता है कि जैसे ही आँखें विकसित हुई थीं वैसे ही उनमें देखने और न-देखने की द्वैत शक्ति एकसाथ भर गई थी ।

इसी प्रकार से, परमात्मा में उठी मूल अनन्त लहर के आलोड़न (*Insurge*) के साथ, अनन्त चेतना और अनन्त अचेतना दोनों, जो परमात्मा में अन्तर्हित थीं, एकसाथ अभिव्यक्त हुईं, जो सीमित मन को असत्याभास मालूम पड़ता है ।

इस प्रकार परमात्मा ने अपनी परात्पर-परब्रह्म अवस्था (*Beyond-Beyond*) की अत्यन्त-मूल अवस्था १ में, परब्रह्म-परमात्मा की अपनी मूल अवस्था २ के द्वारा, खुद अपनी अनन्त चेतन अवस्था और खुद अपनी अनन्त अचेतन अवस्था, एकसाथ स्वत: प्राप्त कीं, जैसा चार्ट में "अ" और "ब" अवस्थाओं के रूप में क्रमश: दिखाया गया है ।

इसके फलस्वरूप, एक ओर, अनन्त अचेतना की सहज अभिव्यक्ति के साथ, परमात्मा अपनी अनन्त अचैतन्य परब्रह्म परमात्मा अवस्था में, जैसा चार्ट में "अ" रूप में दिखाया गया है, न केवल नित्य रूप से खुद अपने शाश्वत, अनन्त अस्तित्व के प्रति अनन्तत: अचैतन्य बना रहता है, जैसा वह परम-अनन्तता (*Infinitude-absolute*) की अत्यन्त-मूल परात्पर-परब्रह्म अवस्था में होता है, किन्तु वह खुद अपनी पैदा की गई अनन्त मूल परब्रह्म-अवस्था के प्रति शाश्वतरूप से अपारतया अचैतन्य भी बना रहता है; यह चार्ट में २ के रूप में दिखाया गया है ।

दूसरी ओर, अनन्त चेतना के स्वत: आविर्भाव के साथ-साथ, परमात्मा को अपनी अनन्त, चैतन्य परब्रह्म अवस्था में, जैसा चार्ट में "ब" के रूप में दिखाया गया है, शाश्वतरूप से न केवल खुद अपने शाश्वत अनन्त अस्तित्व की अपार चेतना प्राप्त हो जाती है, जैसा परम-अनन्तता की अत्यन्त-मूल परात्पर-परब्रह्म अवस्था में होता है, किन्तु उसको खुद अपनी पैदा की गई अनन्त मूल परे अवस्था की अत्यन्त स्पष्ट अनन्त चेतना भी प्राप्त हो जाती है, जो चार्ट में २ के रूप में दिखाया गया है।

दूसरे शब्दों में, परमात्मा की केवल परब्रह्म अवस्था में, जैसा चार्ट में अवस्था २ के रूप में दिखाया गया है, परमात्मा स्वत:, अनन्त मूल लहर के उभार के साथ ही साथ अपनी शाश्वत अनन्त अचेतन अवस्था को जन्म देता है जैसा उप-अवस्था "अ" में दिखाया गया है, और अपनी शाश्वत, अनन्त चेतन अवस्था पैदा करता है, जैसा उप-अवस्था "ब" में अंकित किया गया है।

उप-अवस्था अ परब्रह्म अवस्था में परमात्मा की अवस्था है, जैसा अवस्था २ के रूप में अंकित किया गया है। यह उप-अवस्था अ खुद परमात्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की अनन्त अचैतन्यता की अवस्था है। परमात्मा इस उप-अवस्था अ में न तो अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की खुद अपनी त्रि-प्रकृति का चैतन्य अनुभव करता है, और न उनका प्रयोग करता है।

उप-अवस्था ब भी परब्रह्म-परमात्मा अवस्था की अवस्था है, जो अवस्था २ के रूप में अंकित की गई है। यह उप-अवस्था ब निर्गुण और निराकार होती है, किन्तु यह खुद परमात्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की अनन्त त्रि-प्रकृति की सर्वोच्च दिव्य चेतना है। परमात्मा इस उप-अवस्था ब में चैतन्य रूप से खुद अपनी अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव करता है किन्तु वह उनका प्रयोग नहीं करता। उसको अपनी यथार्थता की चेतना होती है लेकिन माया की चेतना नहीं होती है।

वेदान्तिक शब्दों में, इस प्रकार से ही परात्पर-परब्रह्म की अवस्था १ परमात्मा की अवस्था २ की उत्पत्ति करती है; और इस अवस्था २ में, परमात्मा परमात्मा के रूप में नित्य अचैतन्य होता है और उसके साथ-साथ उसको परात्पर-परब्रह्म की खुद अपनी अत्यन्त-मूल

अवस्था की शाश्वत चेतना रहती है । परमात्मा अवस्था का यह अनन्त द्वैध पहलू चार्ट में क्रमशः अवस्था अ और अवस्था ब के रूप में दिखाया गया है ।

इसलिये, इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि परमात्मा की शाश्वत अचैतन्य अवस्था, जो अ के रूप में अंकित है, शाश्वत मूल परब्रह्म अवस्था में, २ के रूप में अंकित, परमात्मा की शाश्वत चैतन्य अवस्था को प्राप्त करने की नित्य अभिलाषा करती है, जो ब के रूप में अंकित है, जो मूल परब्रह्म परमात्मा अवस्था (परमात्मा) के द्वैध अनन्त पहलुओं में दूसरा पहलू है जो २ के रूप में अंकित है ।

इसके फलस्वरूप, दैवी लक्ष्य यह है कि अ में निहित ईश्वर की अचैतन्य अवस्था २ को ब में निहित परमात्मा की चैतन्य अवस्था की चैतन्य यथार्थता प्राप्त करनी चाहिये ।

संक्षेप में, जब अवस्था अ को अवस्था ब का चैतन्य अनुभव हो जाता है, तब दैवी लक्ष्य प्राप्त हो जाता है ।

अवस्था अ को अवस्था ब का चैतन्य अनुभव प्राप्त करने के लिये, इसके अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं है कि अवस्था अ आवश्यक रूप से क्रमशः अवस्था ब में परिवर्तन होने का अनुभव करे और अन्ततः सर्वथा चैतन्यरूप से अवस्था ब बन जाये ।

चेतन अनन्त अवस्था में ईश्वर की अचैतन्य अनन्त अवस्था का यह क्रमशः परिवर्तन, परमात्मा की दस अवस्थाओं के चार्ट में अवस्थाओं ३, ४, ५, ६ और ७ के द्वारा परमात्मा की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में दिखाया गया है । अवस्था ८ में, ईश्वर की अवस्था अ को अवस्था ब की पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है ।

इस अवस्था ८ में, परमात्मा की अचैतन्य अनन्त अवस्था को न केवल अवस्था ब की सर्वोच्च दिव्य चेतना प्राप्त हो जाती है, बल्कि परमात्मा खुद अपनी अनन्त चैतन्य अवस्था की सत्यता में दिव्य रूप से निमग्न हो जाता है और इस प्रकार वह परमात्मा की अनन्त चैतन्य अवस्था ब के साथ अपनी शाश्वत एकरूपता का अनुभव करता है ।

यदि परमात्मा, दिव्य रूप से निमग्न, जैसा अवस्था ८ में बताया गया है, अपने मानसिक, सूक्ष्म और स्थूल पहलुओं—मूर्तमान पूर्ण मानव प्राणीवत्—के द्वारा मानसिक, सूक्ष्म और स्थूल लोकों की सामान्य चेतना पुनः प्राप्त करता और उसे बनाये रखता है, तब अवस्था ९, ८ और १०

अवस्थाओं के बीच के ईश्वरीय संधिस्थल पर, प्राप्त हो जाती है। इस नवीं अवस्था के बाद, परमात्मा की १०वीं अवस्था चार्ट में दिखलाई गई है और परमात्मा अवस्था "स" के साथ सम्बद्ध की गई है।

परमात्मा की यह १०वीं अवस्था एक सद्‌गुरु के मनुष्य रूप में ईश्वरीय गुण एवं आविर्भाव से युक्त, परमात्मा की अवस्था है। अवस्था १० में परमात्मा को चेतनतया खुद अपनी अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की त्रि-प्रकृति का अनुभव प्राप्त होता है, और वह ईश-अवस्था १०, जो चार्ट में "स" के रूप में अंकित है, के ईश्वरीय पद (*Office*) के माध्यम से उनका प्रयोग भी करता है।

यह बात भी अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिये कि अनन्त अचेतन अवस्था अ में परमात्मा न तो **निर्गुण-निराकार** (गुण एवं रूप रहित) है, और न **सगुण-साकार** (गुण एवं रूप सहित) है। किन्तु अवस्था ब **निर्गुण-निराकार** की है, और अवस्था स (जो मूल परब्रह्म परमात्मा अवस्था की भी अवस्था है) **सगुण-साकार** की अवस्था है। यह **नर-नारायण** की वह सर्वोच्च अवस्था है जहाँ परमात्मा को सत्य और माया दोनों की अनन्त चेतना प्राप्त होती है।

अवस्था ३

कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्तावत् परमात्मा

इस अवस्था में परमात्मा कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता के अपने तीन मुख्य गुणों (सिफ़त) को क्रिया में लाता है। यह एक-में-तीन अवस्था वेदान्त की त्रिमूर्ति के सदृश है : **ब्रह्मा** (उत्पत्ति कर्त्ता), **विष्णु** (रक्षक), और **महेश** (विनाशक) के सदृश है—जिसके सूफ़ी पर्यायवाचक शब्द हैं **अफ़रीदगार, परवरदिगार,** और **फ़नाकार**।

परमात्मा के तीन गुण तीन प्रधान देवदूतों द्वारा प्रगट किये जाते हैं; **इसराफ़ील** (वह फ़रिश्ता जो जीवन की उत्पत्ति करता है), **मिकाईल** (वह फ़रिश्ता जो जीवन का पोषण करता है), और **इज़राईल** (वह फ़रिश्ता जो जीवन का नाश करता है)।

परमात्मा की **अवस्था ३** के त्रिमुखी गुण परमात्मा की अत्यन्त-मूल **अवस्था १** में अन्तर्निहित थे; इन्होंने साथ-साथ उसी समय अपनेआप को स्वतः उस क्षण उभारा जब परमात्मा में मूल अनन्त लहर उठी थी और जब परमात्मा ने अपनी **अवस्था २** में खुद को जानने की, कि "मैं

कौन हूँ ?", लहर की धारणा की थी। अनन्त लहर के उठने के उस क्षण, परमात्मा ने अपनी अवस्था २ में उसी समय, अपारतया अचैतन्य होने के, जैसा कि उसकी अवस्था अ में दिखाया गया है और साथ-साथ अपारतया चैतन्य होने के, जैसा उसकी अवस्था ब में दिखाया गया है, अनन्त द्वैध पहलू प्राप्त किये।

फिर भी, खुद को जानने की अनन्त मूल लहर प्रत्यक्ष रूप से अब भी परमात्मा अवस्था अ में, जिसे अब भी खुद की अपार अचेतना है, बलात् बनी रहती है। खुद को जानने की अनन्त लहर ने, जो परमात्मा की इस अनन्त अचैतन्य अवस्था अ में दृढ़तापूर्वक स्थित थी, परमात्मा के सभी गुणों और पहलुओं के आविर्भावों को सम्भव बनाया, जो सबकुछवत् परमात्मा की अत्यन्त-मूल अवस्था १ की अनन्तता में शून्य के रूप में प्रसुप्त थे। किन्तु वह सब जो सबकुछ में शून्य के रूप में प्रसुप्त है सम्भवतः केवल परमात्मा की परब्रह्म अवस्था २ में प्रसुप्त होने के रूप में कल्पित किया जा सकता था।

इसलिये, वह सबकुछ जो परमात्मा की परब्रह्म अवस्था में गुप्त है और अनन्त लहर द्वारा आगे को ठेले जाने पर, क्रमशः उभरता है, और वह स्वतः उस सबके रूप में अभिव्यक्त होता है जो शून्य का है। अस्तु शून्य की शून्यता जो अभिव्यक्त हुई है सृष्टि है; और इस सृष्टि का उद्भव परमात्मा की अनन्त, अचैतन्य अवस्था अ के अन्तर्गत जानने की अनन्त लहर से होता है। तदनुसार, यह केवल स्वाभाविक है कि परमात्मा की अनन्त, अचैतन्य अवस्था अ तीन अनन्त गुणों में कर्त्ता [*Emanator*] के रूप में—विधाता परमात्मा, रक्षक परमात्मा, संहारक परमात्मा—प्रथम गुण प्राप्त करती है।

परमात्मा को कर्त्ता का गुण प्राप्त हो जाने पर, वह स्पष्टरूप से सृष्टि का रचयिता बन जाता है, जैसा वह अपनी अवस्था ३ में होता है।

तब इससे यह अत्यन्त स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि जब परमात्मा उत्पत्ति करता है, तो उसको अपनी उत्पन्न की हुई सृष्टि की स्वतः रक्षा भी करनी चाहिये। तब वह स्पष्टरूप से सृष्टि का रक्षक भी बन जाता है, जैसा उसकी अवस्था ३ में है।

और अपनी की गई रचना की रक्षा करने की स्वयं क्रिया में, परमात्मा उसके साथ-साथ सृष्टि के अनिवार्य विनाश को भी स्थापित

करता है। रक्षा करना निरर्थक होगा यदि विनाश का अग्र ज्ञान न होता। तदनुसार परमात्मा स्पष्टरूप से सृष्टि का हर्त्ता भी बन जाता है, जैसा उसकी अवस्था ३ में है।

परमात्मा की अवस्था ३ वह अवस्था है जिसमें परमात्मा कर्त्ता बन जाता है और साथ-साथ खुद अपनी सृष्टि का पालनकर्त्ता अथवा रक्षक, तथा संहारक बना रहता है। उसी समय साथ-साथ, परमात्मा इस प्रकार अवस्था ३ में कर्त्ता, धर्त्ता एवं हर्त्ता बन जाता है।

परमात्मा में उठी अनन्त मूल लहर और उसके फलस्वरूप खुद को जानने की अनन्त लहर से परमात्मा में कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता के तीन अनन्त गुणों का आविर्भाव हुआ, और, उसके साथ-साथ प्रसुप्त शून्य की शून्यता का अपने सब साजो-सामान सहित आविर्भाव हुआ। यह शून्यता वास्तव में कुछनहीं है, यद्यपि यह भ्रम के द्वारा (जिसको कभी-कभी माया[३५] कहते हैं) सृष्टि के रूप में अस्तित्व रखती दिखाई पड़ती है।

मेहेरबाबा ने हमको बतलाया है कि शाब्दिक अर्थ के भाव में कोई सृष्टि नहीं है। जिसे हम सृष्टि कहते हैं वह शून्य के असंख्य रूपों का आविर्भाव है। यह शून्य वास्तव में "कुछ-नहीं" है—किन्तु वह माया के खुद अपने क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखता है। उसको इनकार नहीं किया जा सकता, लेकिन यह सबकुछ, अर्थात् परमात्मा, के परे नहीं है। यद्यपि सबकुछ में इस शून्य का समावेश है, तथापि शून्य में कभी सबकुछ का समावेश नहीं होता और न कभी समावेश हो सकता है और न उसका अर्थ सबकुछ हो सकता है। एकमेव सर्वशक्तिमान् परमात्मा सबकुछ है और उसमें शून्य सम्मिलित है; और सृष्टि का आविर्भाव होने के पहले, सबकुछ के रूप में सर्वशक्तिमान् परमात्मा के सिवाय शब्दशः और पूर्णतः "कुछ-नहीं" था।

ज़ात थी अल्लाह की और जलवे सब रूपोश थे
एक सौत-ए-सरमदी था नग़मे सब ख़ामोश थे
था फ़क़त मयख़ाना, साक़ी था न वाँ मयनोश थे
का-इ-नाते दह्र क्या रूह-उल-अमीन बेहोश थे
जिन्दगी जब मुस्कुराई है कज़ा के सामने।

—मुन्सिफ़ असगर

"एकमेव अल्लाह का अस्तित्व था और समस्त आविर्भाव उसके अन्दर प्रसुप्त थे;

एक शाश्वत नाद छाया था, और उसके अन्दर संगीत के सभी स्वर प्रसुप्त थे;

केवल वहाँ शराबखाना था—साक़ी और शराब पीने वाले कोई न थे;

स्थूल जगत का कोई प्रश्न न था—यहाँ तक कि फ़रिश्तों की दुनियाँ का कोई अस्तित्व न था;

जब ईश्वर के हुक्म 'हो जाओ *(Be)*' से, जीवन मुस्कराता हुआ उत्पन्न हो गया।"

केवल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का अस्तित्व था, किन्तु वह केवल प्रसुप्त रूप से चैतन्य था, इसलिये उसको खुद अपना ज्ञान न था, और इसी तरह वह चेतना उसके अन्दर प्रसुप्त थी, इसी प्रकार सृष्टि भी उसके अन्दर प्रसुप्त थी।

प्रसुप्त और प्रकट सृष्टि के बीच के अन्तर की तुलना एक बीज और एक वृक्ष के बीच के भेद से की जा सकती है। लेकिन चाहे बीज अथवा वृक्ष हो, प्रसुप्त अथवा प्रकट हो, सृष्टि सदैव "शून्य" है, क्योंकि प्रसुप्त शून्य ही शून्यता के रूप में आविर्भूत हुआ है।

वह सबकुछ, जो सबकुछवत् के रूप में ईश्वर की परब्रह्म अवस्था २ की अनन्तता में शून्यवत् प्रसुप्त है, ईश्वर की अनन्तता में एक अत्यन्त परिमित बिन्दु के माध्यम से प्रकट और आविर्भूत होता है। यह बिन्दु "सृष्टि बिन्दु" अथवा "ॐ बिन्दु"‡ कहलाता है। इस बिन्दु से निकलकर सृष्टि का पसारा हुआ है। यह सृष्टि-बिन्दु भी परात्पर-परब्रह्म अवस्था में, परमात्मा की अत्यन्त-मूल अवस्था १ में प्रसुप्त था।

उत्पत्ति, पोषण और नाश की प्रक्रिया, जो निरन्तर एवं नियमित रूप से चालू रहती है, का भी चित्रण एक उपमा द्वारा किया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि एक मानव शरीर ईश्वर है, तब आँखें बन्द करके सोते हुये मनुष्य शरीर की तुलना ईश्वर की परब्रह्म परमात्मा अवस्था, अवस्था २अ के रूप में की जा सकती है। आँखें खोलने के

‡ [इसे भी देखिये : फ्रांसिस ब्रैबेज़ोन कृत, 'स्टे विद गाड' (वूम्बाई, क्वीन्स लैन्ड, आस्ट्रेलिया : ऐडवर्ड्स एण्ड शा कृते गारूडा बुक्स, १९५९), पृष्ठ ६५-६६। —सम्पादक]

तुरन्त प्रथम क्षण की तुलना परमात्मा की विधातावत् अवस्था से की जा सकती है। इसके बाद की जागृत बने रहने की दशा की तुलना पोषकवत् परमात्मा की अवस्था से की जा सकती है, और आँखें बन्द करके पुनः सो जाने की तुलना परमात्मा की विनाशकर्त्तावत् अवस्था से की जा सकती है। इस प्रकार परमात्मा कर्ता, भर्ता और हर्ता एकसाथ तीनों रूपों में होता है।

अवस्था ४

शरीरधारी आत्मावत् ईश्वर

दीद अपनी थी उसे ख्वाहिश
आपको हर तरह बना देखा
—नियाज़

"उसने खुद को देखने की इच्छा की; इसलिये उसने नाम और रूपों के विविध पहलू अपने ऊपर धारण किये।"

यह समझने के लिये कि ईश्वर की अनन्त अचैतन्य अवस्था अ क्रमशः परमात्मा की अनन्त चैतन्य अवस्था ब के रूप में बदल जाती है और पूरी तथा अनन्त चेतना प्राप्त करती है, मेहेरबाबा ने नीचे लिखी हुई उपमा दी थी :—

अनन्त अचैतन्य ईश्वर अवस्था अ की कल्पना, सृष्टि की उत्पत्ति होने के पहले, निश्चल अनन्त महासागर के रूप में कीजिये। तब हवा के फुलाव ने इस महासागर की शान्त समानता में मन्थन पैदा कर दिया, और बड़ी-बड़ी लहरें, पानी की असंख्य बूंदें, और असंख्य बुलबुले अपरिमित, अनन्त महासागर की एकरूपता से निकल पड़े। समुद्र में मन्थन पैदा करने वाले हवा के फुलाव की कल्पना जानने की अनन्त मूल लहर के आवेग से की जा सकती है—जो लहर परमात्मा की अनन्त-मूल लहर के साथ पैदा हुई, और परमात्मा की अनन्त अवस्था २ के द्वारा परमात्मा के खुद को जानने के लिये परमात्मा में उभरी।

महासागर की सतह पर पैदा हुये मन्थन ने, जो अनन्त लहर ने पैदा किया था, उस अनन्त महासागर की प्रत्येक बूंद को खुद को जानने की अनन्त-मूल-लहर से भर दिया।

इस प्रकार परमात्मा अपनी अनन्त अचैतन्य अवस्था अ में, खुद को जानने-की-लहर रखने के कारण, साथ-साथ परमात्मा के अन्तर्गत

प्रत्येक आत्मा के शान्त सन्तुलन को खुद को जानने-की-लहर से विलोड़ित कर देता है। यह केवल तभी समझ में आ सकता है जब परमात्मा की तुलना एक अनन्त महासागर से और आत्माओं की तुलना उस अनन्त महासागर की बूंदों से की जाती है। किन्तु यह बात भी अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये कि महासागर की प्रत्येक बूंद, महासागर में होने के समय, स्वयं महासागर है, जब तक कि बूंदें महासागर की सतह के ऊपर बने हुये बुलबुलों के द्वारा व्यक्तित्वता धारण नहीं कर लेतीं। इस प्रकार बना हुआ प्रत्येक बुलबुला तब प्रत्येक बूँद के ऊपर एक अलग और खास व्यक्तित्वता प्रदान करेगा। और यह पैदा हुई पृथक्ता अनन्त महासागर की बूँदों की एकसमान अखण्ड्यता के अन्तर्गत तब तक बनी रहेगी जब तक अलगाव पैदा करने वाले ये बुलबुले बने रहेंगे। जैसे ही बुलबुले फटेंगे, वैसे ही बूँदें, जो स्वयं महासागर में हैं और पहले से ही उसमें थीं, यह अनुभव करेंगीं कि वे अनन्त महासागर से एकरूप हैं और एकरूप थीं; और उनको अनन्त महासागर में अपनी शाश्वत अनन्तता की यह चेतना केवल उसके बाद प्राप्त होती है जबकि वे पहले पृथक्ता का अनुभव करती हैं और फिर अज्ञानता के बुलबुलों को हटा देती हैं जिन बुलबुलों के माध्यम से उनको अपनी स्वाभाविक अखण्डता से अपनी प्रत्यक्ष पृथक्ता का अनुभव होता था।

जब तक कि महासागर की अनन्ततया असंख्य बूंदों को प्रत्यक्ष पृथक्ता का अनुभव नहीं होता, तब तक उनको स्वयं महासागर के रूप में खुद अपने एकसमान और अखण्ड्य शाश्वत्, अनन्त अस्तित्व का अनुभव नहीं होता। आत्मायें केवल प्रत्यक्ष पृथक्ता के अनुभव के माध्यम से ही परमात्मा के रूप में अपने अखण्ड्य ऐक्य का चैतन्य अनुभव कर सकती हैं।

"देहधारी आत्मा के रूप में परमात्मा" की ईश अवस्था ४ का वर्णन करने के लिये, हम अवस्था अ में परमात्मा की एक अनन्ततया अचैतन्य आत्मा का विचार करें।

प्रारम्भ में, अवस्था अ में, आत्मा को कोई चेतना प्राप्त नहीं होती और न कोई संस्कार प्राप्त होते हैं।

इसलिये, उस स्थिति में और उस अवस्था में आत्मा के कोई स्थूलरूप, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और न कारण शरीर होते हैं, क्योंकि केवल स्थूल, सूक्ष्म और मनो संस्कारों का अस्तित्व ही स्थूल,

सूक्ष्म और कारण शरीरों को अस्तित्व प्रदान कर सकता है; और केवल इन्हीं शरीरों के अस्तित्व से ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगतों का अस्तित्व सम्भव हो सकता है।

अस्तु, प्रारम्भ में ईश-अवस्था अ में आत्मा, अपारतया अचैतन्य और संस्कार रहित होने के कारण, उसे कोई स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की चेतना न थी, और उसको अपने अनन्त सत् की भी चेतना न थी। तब आत्मा को स्वाभाविकतया स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगतों का कोई अनुभव न था, और उसको परमात्मा का अनुभव भी न था।

अब आत्मा की यह अनन्त, संस्कार रहित, अचैतन्य, निश्चल अवस्था प्रथम आवेग से विलोड़ित हुई, जिसको हम प्रथम लहर कहते थे (खुद को जानने की प्रथम लहर कहते थे)।

खुद को जानने की प्रथम लहर की प्रतिध्वनियों के साथ-साथ, एक अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार उभरा, जिसने आत्मा को निपट अनन्त परमात्मा के निपट विपरीत एवं अत्यन्त-सीमित प्रतिरूप के रूप में प्रत्यक्षतया प्रस्तुत किया।

आत्मा, शाश्वत: परमात्मा में होती हुई और परमात्मा के साथ एकरूप होती हुई, परमात्मा की अनन्त क्षमतायें भी रखती है, यद्यपि वे उसकी अचैतन्य अवस्था में प्रसुप्त होती हैं। इस प्रकार आत्मा अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द के अधिकार से भी सम्पन्न होती है।

इसलिये, जब संस्कार रहित, अनन्त आत्मा को सर्वप्रथम संस्कार प्राप्त होता है, तब यह संस्कार अत्यन्त-स्थूल संस्कार होने के अलावा और कुछ नहीं हो सकता था, क्योंकि स्वयं आत्मा, जो अनन्त ज्ञान से सम्पन्न होती है, स्वयं अपने निजी "आत्म" का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। अनन्त ज्ञान के अधिकार के पक्ष की स्वयं यही धारणा अपारतया अपक्व अथवा स्थूल होती है, और अनन्त आत्मा की इस अपारतया अपक्व अथवा स्थूल धारणा ने संस्काररहित आत्मा को अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार प्रदान किया। अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार के साथ-साथ, अपारतया अचैतन्य आत्मा को अत्यन्त-परिमित प्रथम चेतना भी प्राप्त हुई। निरन्तर बढ़ते हुये स्थूल संस्कारों के साथ-साथ, चेतना का विकास होता गया और स्थूल योनियों के विकास को गति प्राप्त होती गई।

तदनुसार, चेतना के विकास, स्थूल योनियों के विकास और स्थूल जगत के अनुभवों के विकास, सब खुद को जानने की परमात्मा की पहली लहर के फलस्वरूप उत्पन्न हुये।

प्रथम लहर के इस अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार के कारण, अनन्त, अचैतन्य आत्मा को प्रथम बार अनुभव के पहलू प्राप्त हुये। अनन्त आत्मा का पहला अनुभव यह था कि आत्मा को परमात्मा की अनन्त, संस्काररहित, अचैतन्य अवस्था अ के साथ अपनी एकरूपता में एक विपरीतता का अनुभव हुआ (जो बिल्कुल विपरीत प्रकृति की थी)।

विपरीतता के इस अनुभव ने अनन्त आत्मा की शाश्वत, अखण्ड्य स्थिरता में परिवर्तनशीलता पैदा कर दी; और अपनेआप एक प्रकार का विस्फोट हुआ, जिसने एक भीषण धड़ाके अथवा धक्के से अनन्त आत्मा के अखण्ड्य सन्तुलन और अचैतन्य निश्चलता को छिन्न-भिन्न कर दिया, और उस धड़ाके अथवा धक्के ने अपारतया अचैतन्य आत्मा की अपार अचैतन्यता में परमात्मा की अखण्ड्य अवस्था से उसकी प्रत्यक्ष पृथकता की प्रथम चेतना भर दी। किन्तु आत्मा के अनन्त होने के कारण, वह प्रथम चेतना जो उसको उसकी पृथकता के निपट विपरीत एवं अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार की ठमक अथवा धक्के से प्राप्त हुई, स्वाभाविकतया और आवश्यकरूप से अत्यन्त-सीमित प्रथम चेतना थी।

आत्मा को जो प्रथम चेतना प्राप्त हुई वह स्पष्टरूप से, उसकी खुद की मूल, अनन्त अवस्था, जैसी "अ" में है, के परम द्वन्द्वों के अनुभव के अनुपात में अत्यन्त सीमित थी।

तदनुसार, तब इसका यह अर्थ होना है कि प्रारम्भ में जब संस्काररहित, अनन्त आत्मा को प्रथम संस्कार प्राप्त हुआ, तो ऐसा प्रथम संस्कार एक निपट अत्यन्त-सीमित स्थूल संस्कार था। उसको (आत्मा को) जो प्रथम चेतना प्राप्त हुई वह अत्यन्त सीमित थी। स्वाभाविकतया, उस क्षण अनन्त आत्मा की अचैतन्यता को अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार की अत्यन्त-सीमित प्रथम चेतना का यथार्थ अनुभव प्राप्त हुआ।

अब यदि आत्मा को संस्कारों की चेतना प्राप्त है, तब आत्मा को अनिवार्यरूप से इन संस्कारों का अनुभव करना चाहिये। और, संस्कारों का अनुभव करने के लिये, आत्मा की चेतना को अनिवार्यरूप

से उनका अनुभव उचित और उपयुक्त माध्यम के द्वारा करना चाहिये। जैसे संस्कार होते हैं, वैसे ही संस्कारों के अनुभव होते हैं, और उसी प्रकार संस्कारों का अनुभव करने के लिये वैसे ही उचित माध्यम होते हैं। अर्थात्, संस्कार अनुभवों की उत्पत्ति करते हैं, और संस्कारों का अनुभव करने के लिये उचित माध्यम का प्रयोग आवश्यक है।

अस्तु, चूंकि अनन्त, शाश्वत और निराकार आत्मा को अब अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार की अत्यन्त-सीमित प्रथम चेतना प्राप्त हो गई है, अतः अत्यन्त स्पष्ट एवं अनिवार्यरूप से आत्मा की इस प्रथम चेतना को अत्यन्त-स्थूल प्रथम संस्कार का अनुभव करने के लिये अत्यन्त-सीमित एवं अत्यन्त-स्थूल प्रथम माध्यम का उपयोग करना आवश्यक है।

परमात्मा ने अपनी अवस्था ४ में (शरीरधारी आत्मा के रूप में परमात्मा) जो प्रथम माध्यम ग्रहण किया वह पहला रूप है जो, यद्यपि वह स्थूल है, फिर भी वह इतने अकल्पनीय रूप से अनन्ततया सीमित है कि वह स्थूलवत् भी नहीं समझा जा सकता। वह इतना अधिक अपारतया आकार रहित और तत्व रहित, द्रव्यरहित एवं रूपरहित होता है कि उससे कोई यह भी कल्पना नहीं कर सकता कि वह स्थूल है। तथापि यह रूप वही सर्वप्रथम स्थूल रूप है जिसका उद्भव साथ-साथ मानो तीन कांटों के रूप में, सर्वप्रथम सात "गैस-सदृश्य" रूपों के प्रथम तीन रूपवत् होता है। यदि इन प्रथम तीन गैस-समान रूपों का वर्णन करने का कभी प्रयास किया जाय तो उनका केवल घनत्व के सिद्धान्त से वर्णन किया जा सकता है,—पहले में अनन्त रूप से नाममात्र का घनत्व होगा, फिर अगले क्रम में नाममात्र का घनत्व होगा, और तीसरी अवस्था में घनत्व के प्रथम चिन्ह रखता प्रतीत होगा। इन प्रथम तीन रूपों का विकास नहीं होता। अगले तीन रूप हमारी कल्पना के विस्तार के अन्दर आ सकते हैं और उनका वर्णन "अर्द्ध-गैसियस और अर्द्ध-भौतिक" रूपों के रूप में किया जा सकता है। विकास चौथे गैस-सरीखे रूप से प्रारम्भ होता है। और अन्ततः, सात सर्वप्रथम गैस-समान रूपों की श्रृङ्खला का ७वाँ गैस-समान रूप होता है, जो हाईड्रोजन है, और उसमें इलेक्ट्रान (कण) का समावेश कहा जा सकता है।

यह अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रथम छः गैस-स्वरूप स्थूल रूप विविध गैसों से समानता नहीं रखते, जैसे हाईड्रोजन,

नाईट्रोजन, इत्यादि। वे उन रूपों की अपेक्षा बहुत-बहुत **बारीक** (सूक्ष्म नहीं)‡ होते हैं जिनसे इस युग के वैज्ञानिक भलीप्रकार परिचित हैं।

अवस्था ५

विकास की अवस्था में आत्मावत् परमात्मा

परमात्मा देहधारी आत्मा के रूप में अब चैतन्य होना **प्रारम्भ** करता है और सृष्टि *[Nothingness]* को "जानना" **प्रारम्भ करता** है, यद्यपि इस अवस्था में उसका सृष्टि को "जानना" अपारतया उपेक्षनीय *[Negligible]* होता है। जो भी हो, यह अत्यन्त सीमित चेतना और यह सूक्ष्मतम "जानना", और अधिक संस्कार पैदा करता है जिसके कारण "बूँद" *[Soul, Atma, Self]* मूल प्रथम बुलबुले *[Form]* को छोड़ती अथवा उससे सम्बन्ध विच्छेद करती है। बुलबुले को छोड़ देना प्रथम रूप को त्यागने, अथवा उससे अलग होने के बराबर है।

रूप के त्याग दिये जाने के बाद भी, आत्मा की विकसित होती हुई चेतना के द्वारा सञ्चित हुये संस्कार समाप्त नहीं होते। ये संस्कार विकसित हुई चेतना के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखते हैं और उनके कारण आत्मा की विकसित होती हुई चेतना एक अन्य उपयुक्त एवं अधिक श्रेष्ठ बुलबुले (रूप) से साहचर्य करती है। इस प्रकार आत्मा दूसरे रूप के माध्यम से सृष्टि को जानने अथवा उसका अधिक अनुभव करने के योग्य होती है। "दृष्टिकोण" विस्तृत होता है और "जानने" की चेतना रूप के विकास के साथ-साथ उसी अनुपात से बढ़ती है। स्थूल चेतना में विकास अथवा वृद्धि होने के साथ-साथ संस्कार भी बढ़ते जाते हैं, और वह उन संस्कारों के अनुसार, जो चेतना दूसरे स्थूल रूप को त्यागने के समय बनाये रखती है, आत्मा को और भी अधिक जटिल स्थूलरूप धारण करने अथवा उससे साहचर्य करने का कारण बनती है।

इस प्रकार चेतना के विकास की प्रगति युगों-युगों तक होती रहती है, और वह उन रूपों के विकास के साथ-साथ होती रहती है, जो सञ्चित हुये संस्कारों का अनुभव करने में, और साथ-साथ नष्ट करने में, सहायता करते हैं, जब तक कि रूपों के असंख्य परिवर्तनों के बाद आत्मा,

‡ इसको सूक्ष्म जगत के किसी रूप अथवा पदार्थ से किसी भी प्रकार सम्बन्धित न करना चाहिये, क्योंकि ये रूप अकेले स्थूल जगत के हैं।

पत्थरों, धातुओं, पौधों, कीड़ों, मछलियों, पक्षियों एवं जीवधारियों के अधिक ठोस और क्रमबद्ध स्थितियों के माध्यम से, मानवरूप धारण नहीं कर लेती।

दूसरे शब्दों में, आत्मा की चेतना का विकास चक्र उच्चतर और उच्चतर प्रकार के रूपों के विकास के साथ-साथ और आगे तथा और अधिक चेतना का विकास करता रहता है, जबकि वह अगले निम्नतर प्रकार के पृथक् हुये रूपों के संस्कारों को अनुभव एवं खर्च करता रहता है।

तदनुसार आत्माओं की चेतना का विकास प्रत्यक्षरूप से आत्माओं को, स्थूल जगत में, बेशुमार उच्चतर और उच्चतर रूपों की उप-जातियों के विविध असंख्य संस्कारों से अपनी तद्रूपता करने और उनका सञ्चय करने के लिये प्रवृत्त करता है। स्पष्ट-विलग वृहत् रूप जिनसे आत्मायें साहचर्य करती हैं, अधिकतर और अधिकतर चेतना की प्रत्येक छलांग के साथ, पत्थर से लेकर धातु तक, धातु से पौधे तक, पौधे से कीड़ा तक, कीड़ा से मछली तक, मछली से पक्षी तक, पक्षी से पशु तक छलांगें मारने के अनुसार होते हैं, और अन्ततः अन्तिम एवं सातवीं छलांग पशु से मनुष्य योनि तक होती है।

यह समझ लेना बहुत महत्वपूर्ण है कि चेतना के विकास की प्रक्रिया केवल बुलबुलों अथवा रूपों के विकास से ही सम्बन्ध रखती है, और "बूँदों" अथवा आत्माओं से नहीं रखती। आत्मायें चेतना के विकास के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इतनी अखण्ड्य एवं अनन्त बनी रहती हैं जितना कि अपरिमित महासागर (परमात्मा) बना रहता है, जिसका अन्त रूप के विकास के पूर्ण होने के साथ हो जाता है।

केवल रूप के इस विकास के द्वारा अज्ञानता की चेतना, अथवा सृष्टि का "ज्ञान", विविध संस्कारों के कारण क़दम-ब-क़दम बढ़ता है; और केवल मनुष्य योनि में व्यक्तिगत हुई *(Individualized)* आत्मा अन्ततः परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करती है। चूँकि आत्मा अनन्त है, इसलिये आत्मा की चेतना को भी अवश्य अनन्त बन जाना चाहिये; और क्योंकि चेतना केवल मनुष्य योनि में अनन्त बन सकती है, अतः मनुष्य योनि रूप विकास की अन्तिम स्थिति है।

आत्मा को मनुष्य योनि में पुनर्जन्म लेना प्रारम्भ करने के बाद,

चौरासी लाख मनुष्य योनियाँ पार करनी पड़ती हैं, जब तक कि उसको ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त नही हो जाता। मनुष्य योनि में जन्म ले सकने के पहले उसको जिन पूर्व-मानव योनियों से गुज़रना पड़ता है, वे असंख्य होती हैं।

वस्तुत: केवल एक योनि—मनुष्य योनि—है जो सभी पिछले रूपों में प्रसुप्त रहती है। धातु, पौधा और पशु योनियाँ यथार्थ में मनुष्य योनि को उसकी प्रसुप्त अवस्था में अपने में समाविष्ट रखती हैं, और यह क्रमश: तथा निरन्तर बढ़ती गति से अभिव्यक्त होता है जब तक कि अन्त में यह मनुष्य शरीर में मानव प्राणी के रूप में पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं हो जाता।

मनुष्य योनि के नर देह में पूरीतौर से अभिव्यक्त होने के पहले, जैसे एक पुरुष अथवा स्त्री, प्रसुप्त मानव रूप श्रृङ्खलाबद्ध आंशिक मोड़ लेता है। स्फटिक पाषाण अवस्था में (जैसे ग्रेनाईट पत्थर) प्रसुप्त मानवरूप बिलकुल उल्टा होता है, और पौधे की अवस्था में भी प्राय: ऐसा ही होता है। रूपों की प्रगति अथवा विकास के साथ-साथ, शरीर की धुरी धीरे-धीरे घूमती है, जिससे वह अधिक और अधिक लम्बायमान हो जाता है; और जब हम पीठ की रीढ़वाले उच्चतर प्राणियों के पास पहुँचते हैं, तब हम सिर को अधिक और अधिक ऊँचा उठता हुआ पाते हैं, जैसे-जैसे शरीर की धुरी लम्बरूप की स्थिति पर पहुँचती है। पुरुषों और स्त्रियों में हम मानवरूप को पूर्णतया अभिव्यक्त एवं पूर्णतया लम्बरूप पाते हैं।

इस योनि के विकास के विवरण अत्यन्त जटिल होते हैं। उदाहरण के लिये, पत्थर, धातु, पौधा और प्राणी की कुछ विशिष्ट उप-जातियाँ हैं जो मेहेरबाबा के वर्णन के अनुसार विकास में एक विशेष "स्थान" रखती हैं। रूपों की ये मूल उप-जातियाँ अधिकांशरूप से वे हैं जो विकास मार्ग पर मीलों के चिन्ह हैं, और वे रूपों की उप-जातियों की एक विशिष्ट प्रथम और अन्तिम सामान्य श्रेणी का चिन्ह होती हैं। उदाहरण के लिये, मत्स्य योनि की अन्तिम उप-जातियों के बाद आने वाली पक्षी योनि की प्रथम उपजातियाँ और पक्षी-योनि की अन्तिम उपजाति के पश्चात् आने वाली पशु-योनि की प्रथम उपजाति विकास में एक विशेष "स्थान" का महत्व रखती है।

मेहेरबाबा हमको बतलाते हैं कि उन्होंने इस विषय का पूरा-पूरा विवरण खुद अपने ग्रन्थ में‡ समझा दिया है जो अब भी दुनियाँ को दिया जाना है।

जिस प्रकार चेतना का विकास होता है और योनियों का विकास होता है उसी प्रकार जगतों [*Worlds*] का विकास भी होता है।

आत्मा की विकसित हुई चेतना, विकसित हुये रूपों से आत्मा की एकरूपता किये हुये, अधिक और अधिक संस्कार प्राप्त करती है; और इन संस्कारों का नाश करने के लिये, वह अपने आविर्भाव का क्षेत्र अविचलरूप से प्राप्त करती है; और वह इन संस्कारों का अनुभव पृथ्वी पर करती है, और पृथ्वी भी अन्य जगतों के साथ-साथ अखिल सृष्टि के प्रगतिशील विकास के अनुसार, विकसित हो रही है।

आत्मा की चेतना के विकास के दौरान में, आत्मा विविध, सीमित स्थूल रूपों से चैतन्यरूप से अपनी एकरूपता किये हुये साथ-साथ —यद्यपि अचैतन्यरूप से—अपनी एकरूपता अपने सीमित सूक्ष्म रूप से और अपने सीमित मनो रूप से भी किये हुये थी, जो आत्मा के साथ अपना साहचर्य, ठीक पहली लहर के समय से लेकर चेतना के विकास के आद्योपान्त अविरल, सजातीय अचैतन्य साहचर्य के साथ सम्पर्क रखते थे।

चेतना के समस्त विकास के आद्योपान्त जबकि आत्मा अपनेआप को बहुधा और चैतन्यरूप से सीमित स्थूल रूपों से अलग कर लेती है, जो रूप अधिक और अधिक चेतना का विकास करते हुये संस्कारों का अनुभव और विनाश करने के लिये माध्यम के रूप में कार्य करते हैं, आत्मा कभी भी अपनेआप को, चैतन्य अथवा अचैतन्यरूप से, अपने सीमित सूक्ष्म शरीर और अपने सूक्ष्म कारण शरीर, से अलग नहीं करती।

इसके विपरीत, जब आत्मा सीमित स्थूल रूप के किसी एक माध्यम से अपनी एकरूपता से अपने को पृथक् करती है, तब आत्मा

‡ [उस उल्लिखित ग्रन्थ को भ्रमवश यह प्रकाशन न समझना चाहिये। मेहेरबाबा ने एक अतिरिक्त ग्रन्थ लिखा है, जो बाद में प्रकाशित किया जासकता है।

—सम्पादक]

का अपने सूक्ष्म शरीर के साथ अचैतन्य साहचर्य ही आत्मा को अपनी सीमित प्राणशक्ति के साथ सुरक्षित रखता है, जो तब बिना किसी स्थूल माध्यम के होती है—वह साहचर्य प्रेरक शक्ति होता है जो आत्मा की चेतना को फिर भी दूसरी योनि से अपनी एकरूपता करने की दिशा में प्रवृत्त करता है, अर्थात् अगले सीमित स्थूल रूप के अगले माध्यम की ओर प्रवृत्त करता है, जिससे वह पिछले पृथक् हुये सीमित स्थूल रूप के संस्कारों का अनुभव करे, जिन संस्कारों को आत्मा का सीमित कारण शरीर धारण किये था और प्रतिबिम्बित करता था, और उस कारण शरीर का भी अचैतन्य साहचर्य आत्मा के साथ है।

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि आत्मा की अधिक और अधिक चेतना के विकास के साथ-साथ, आत्मा के सीमित सूक्ष्म शरीर का विकास भी होता है जो आत्मा को और अधिक सीमित प्राणशक्ति से बलिष्ठ करके, उससे चेतना को अधिक और अधिक स्थूल-चैतन्य आत्मा को उच्चतर और उच्चतर सीमित स्थूल रूपों के साथ अपनी तद्रूपता करने के लिये प्रेरित करे, जो रूप अन्तिम निचले एवम् सीमित स्थूल रूप के संस्कारों द्वारा विकसित हुये थे।

इसी प्रकार से, आत्मा के अन्तिम सीमित कारण शरीर का विकास भी साथ-साथ होता जाता है जिससे वह निरन्तर बढ़ते हुये असंख्य विविध संस्कारों को, जो संस्कार आत्मा की चेतना के अधिक और अधिक विकास के द्वारा प्राप्त और संचित हुये थे, धारण, स्थिर और प्रतिबिम्बित करे।

इस प्रकार से ही केवल मानव योनि में सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर पूर्णतया विकसित होते हैं। अतः आत्मा, मनुष्य योनि के साथ चैतन्य रूप से अपना साहचर्य करती हुई, मनुष्य योनि में स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के साथ, मानव रूप में प्राप्त किये स्थूल की पूर्ण चेतना सहित, पूर्णतया सम्पन्न होती है।

फिर भी, यद्यपि आत्मा को मानव योनि में पूर्ण चेतना प्राप्त हो गई है और इसलिये उसको स्थूल जगत का अनुभव होता है, तथापि स्थूल-चैतन्य मानवी-आत्मा को सूक्ष्म शरीर की चेतना नहीं होती और इसलिये वह सूक्ष्म जगत का अनुभव नहीं कर सकती; स्थूल-चैतन्य मानवी-आत्मा को भी कारण शरीर की चेतना नहीं होती इसलिये उसको कारण जगत का अनुभव नहीं हो सकता।

अवस्था ६
पुनर्जन्म की अवस्था में
मानवी आत्मा के रूप में परमात्मा‡

प्रथम लहर के अत्यन्त-सीमित प्रथम संस्कार ने अचैतन्य आत्मा की अपारतया अचैतन्यता को अत्यन्त-सीमित प्रथम चेतना प्रदान की। क्रमशः, विविध और असंख्य संस्कारों ने, जिनका अनुभव विविध और असंख्य स्थूल माध्यम के द्वारा प्राप्त हुआ, आत्मा के लिये सीमिति स्थूल जगत की अधिक और अधिक चेतना प्राप्त की, और अन्ततोगत्वा चेतना का विकास पूरा हो गया जबकि आत्मा की चेतना ने अपनी एकरूपता अत्यन्त-प्रथम मानव योनि से की। इसलिये आत्मा को, अब मानव रूप में पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेने पर, चेतना का विकास करने के लिये और अधिक अथवा और अन्य उच्चतर रूपों का विकास करने की आवश्यकता नहीं होती। विकास की प्रक्रिया में क्रमशः प्राप्त की गई चेतना मानव योनि में पूर्ण और भरपूर हो जाती है।

यद्यपि आत्मा को इस अवस्था में पूर्ण और भरपूर चेतना प्राप्त हो गई है, तथापि उसको अब भी अपने सूक्ष्म और कारण शरीरों की चेतना प्राप्त नहीं हुई और न उसको अपनी अपरिमित सत्ता की चेतना एक के रूप में प्राप्त हुई है—कि वह अखण्ड्य, शाश्वत् और अनन्त है; उसको मानव रूप और उसके स्थूल जगत के विविध पहलुओं और अनुभवों के साथ केवल अपनी एकरूपता की पूर्ण चेतना प्राप्त है।

तदनुसार इस स्थिति में आत्मा, जिसको केवल अत्यन्त प्रथम स्थूल मानव रूप की पूर्ण स्थूल चेतना प्राप्त है, और फिर भी उसको सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की चेतना प्राप्त नहीं है, स्थूल जगत में अन्तिम से अन्तिम स्थूल पशु रूप के सब संस्कारों का अनुभव करती है, जो अन्तिम-से-अन्तिम स्थूल रूप आत्मा की चेतना ने, चेतना के विकास के सबसे बाद के क्रम में, त्याग दिया था अथवा अलग कर दिया था।

जब सबसे-अन्तिम स्थूल पशु योनि के सब संस्कार अत्यन्त प्रथम मानव स्थूल योनि द्वारा निरन्तर अनुभवों के माध्यम से समाप्त हो जाते हैं, तब यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि यह सर्व-प्रथम मानव रूप आत्मा

‡ [यह भी पढ़िये : मेहेरबाबा कृत, "पुनर्जन्म और कर्म", सम्भाषण *(Discourses)*, ३ : पृष्ठ ५१-९८। —सम्पादक]

की चेतना से अलग अथवा विच्छिन्न हो गया है। पूर्णतया चैतन्य आत्मा को प्राप्त हुआ यह अनुभव सारे जगत में मानव प्राणी की मौत माना जाता है। जैसा कि पहले समझाया जा चुका है, यद्यपि आत्मा की चेतना अत्यन्त-प्रथम मानव योनि से पृथक् हो जाती है, तथापि वह कभी भी अपने प्राण और कारण शरीरों के अपने अचैतन्य साहचर्यों से कभी विच्छिन्न नहीं हो सकती।

आत्मा की चेतना बनी रहती है और वह छूटी हुई अथवा पृथक् हुई सर्व-प्रथम मनुष्य योनि के संस्कारों का अनुभव अपने प्राण और कारण शरीरों के द्वारा करती है। इन संस्कारों को समाप्त करने के लिये आत्मा की चेतना को एक स्थूल रूप से अनिवार्य रूप से साहचर्य करना चाहिये; और इसलिये, वह पीछे त्यागे हुये मनुष्यरूप के शेष सस्कारों को अनुभव एवं खर्च करने के लिये, अपना साहचर्य अगले मानवरूप से करती है। वास्तव में यह अगला मनुष्यरूप चेतन आत्मा से विलग हुये पिछले शरीर अथवा मनुष्य रूप के सञ्चित रहे विगत संस्कारों का केवल मूर्तमान पिण्ड है। अगले मनुष्यरूप से आत्मा की चेतना का साहचर्य सर्वत्र मानव प्राणी का जन्म माना जाता है।

संक्षेप में, पुनर्जन्म की अवस्था में मानवी आत्मा के रूप में परमात्मा की अवस्था ६ में, आत्मा ने मनुष्य योनि में पूर्ण चेतना का विकास कर लिया है, इसलिये स्थूल रूप के और अधिक विकास की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार स्थूल चेतना का विकास मनुष्य योनि को प्राप्त करने के साथ ही समाप्त हो जाता है; और मानवी एवम् उप-मानवी रूपों में पैदा हुये संस्कारों का अनुभव करने के लिये, आत्मा को मनुष्य रूप में पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है।

जिस प्रकार के मानव रूपों से आत्मा की चेतना को साहचर्य करना होता है, वे भले या बुरे, सुख या दुख, इत्यादि के पिछले संस्कारों की प्रकृति से निर्धारित होते हैं। स्थूल जगत का अनुभव करने के दौरान में, आत्मा अपनी एकरूपता स्थूल शरीर से करती है, जो नश्वर होता है, यद्यपि स्वयम् आत्मा अनश्वर है।

उप-मानव स्थिति में रूप और चेतना की विकासशील प्रक्रिया अनिच्छित होती है, फिर भी वह स्थिर और नित्य होती है, और उसमें विकास की निचली योनियों में खिसक कर गिर जाने की सम्भावना नहीं होती। मानव स्थिति में, जिसमें योनि के विकास का अन्त और

भरपूर चेतना की प्राप्ति होती है, मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति, पुनर्जन्म और अनुभूति की प्रक्रियाओं के द्वारा, स्वेच्छिक होती है, और वह किसी भी प्रकार से पीछे खिसक कर उप-मानवी अवस्था में गिरने के हर खतरे से बिल्कुल स्वतन्त्र भी होती है, सिवाय उस स्थिति के जब वह चौथी भूमिका की शक्तियों का क्रूर दुरुपयोग करती है। एक बार पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाने पर, वह हमेशा के लिये प्राप्त हो जाती है और कभी नष्ट नहीं होती; और चेतना का विकास केवल तभी पूर्ण होता है जबकि आत्मा की चेतना मनुष्य योनि से अपना साहचर्य करती है। इसलिये आत्मा की चेतना के मानवरूप से अपनी एकरूपता कर लेने पर पीछे उलट कर पुनः जन्म लेना असम्भव होता है।

मानवी स्थूल शरीर में स्थूल जगत की पूर्ण चेतना के विकास के साथ-साथ, आत्मा उसी के साथ-साथ पूर्णतया विकसित सूक्ष्म और कारण शरीरों से साहचर्य रखती है। किन्तु जब तक चेतना स्थूल जगत तक सीमित रहती है, आत्मा की चेतना अपने सूक्ष्म एवं कारण शरीरों का सीधे-सीध प्रयोग नहीं कर सकती। आत्मा को इन शरीरों की चेतना हो जाती है, और वह इन शरीरों के अनुरूप संस्कारों का अनुभव केवल तब सूक्ष्म और मनो जगतों के अनुरूप लोकों के माध्यम से करती है जब पूर्ण चेतना, जिसे इस स्थिति पर केवल स्थूल की चेतना प्राप्त रहती है, अन्तर की ओर खुद अपनी ओर मुड़ती है और चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह केवल तब सम्भव होता है जब वैयक्तीकृत (*Individualized*) हुई आत्मा की चेतना भौतिक अथवा स्थूल जीवन के विविध और असंख्य संस्कारों के सतत् अनुभवों से सन्तुष्ट हो जाती है, और केवल जब उसने दुख और सुख के द्वन्द्वों के बीच के झकझोरे सहन कर लिये हैं, जो पुनर्जन्म की प्रक्रिया में जन्मों और मृत्युओं की अटूट श्रृङ्खला के माध्यम से, युगों तक अनन्त प्रतीत हो सकते हैं। चेतना के विकास के क्रम में संस्कारों की "बन्धनकारी प्रक्रिया" चेतना को विकसित करने, उच्चतर और उच्चतर प्रकार के स्थूल रूपों का विकास करने, के लिये क्रियाशील रहती है। मानवी स्थिति में पूर्ण विकसित हुई चेतना बनी रहती है, किन्तु संस्कारों का फन्दा ढीला और क्षीण होने लगता है और ऐसा वह उन सतत् झटकों के फलस्वरूप होता है जिनका अनुभव आत्मा की चेतना को पुनर्जन्म की प्रक्रिया में जन्म और मरण की भासित अनन्त श्रृङ्खला के माध्यम से होता है।

अवस्था ७
अध्यात्म में ऊँची आत्माओं की स्थिति में परमात्मा

स्थूल जगत में स्थूल इन्द्रियों के जीवन से एक अत्यन्त लम्बा संघर्ष करने के बाद, आत्मा की चेतना स्थूल शरीर और उसके स्थूल वातावरण में केन्द्रित रहने की अपेक्षा आत्मा के स्वत्व (*Self*) की ओर आकर्षित होने लगती है। असंख्य जन्म और मरण के बाद स्थूल चेतना से सम्पन्न मानवी आत्मा आखिरकार अनिवार्यरूप से उस प्रक्रिया को प्रारम्भ करने की ओर आकर्षित होती है जो मनुष्य को अन्ततोगत्वा मानव योनि में ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त करने के लक्ष्य तक अग्रसर करेगी।

इसलिये आत्मा की चेतना स्थूल इन्द्रियों की दुनियाँ से अपनेआप को पीछे को हटाने लगती है और अब वह प्रतिवर्धन की प्रक्रिया से गुज़रने के लिये तैयार होती है। इस प्रकार आत्मा सूक्ष्म और कारण लोकों के द्वारा अध्यात्म में आगे बढ़ती कही जाती है।

सूक्ष्म लोक, अथवा सूक्ष्म जगत, आत्मा की प्रतिवर्धित होती हुई चेतना की प्रथम तीन भूमिकाओं का प्रदेश है; चौथी भूमिका सूक्ष्म लोक और मनो लोक के बीच स्थित होती है; और मनो लोक के अन्तर्गत पाँचवीं और छठवीं भूमिकायें होती हैं।

परमात्मा की इस सातवीं अवस्था में, सूक्ष्म एवं मनो लोकों के द्वारा, आध्यात्मिक पथ के यात्रियों का अग्रगमन निहित होता है। जितना अधिक अग्रगमन होता है, उतना ही अधिक चेतना का प्रतिवर्धन होता है।

जब आत्मा सूक्ष्म शरीर के माध्यम से सूक्ष्म लोक की चेतना प्राप्त कर लेती है, तो वह अपनी एकरूपता सूक्ष्म शरीर से कर लेती है; और जब वह कारण शरीर के द्वारा मन भुवन की चेतना प्राप्त कर लेती है, तब वह अपनी तद्रूपता कारण शरीर से कर लेती है, ठीक जिस प्रकार से उसने अपनी तद्रूपता स्थूल शरीर से की थी जब उसको स्थूल शरीर के द्वारा स्थूल लोक की चेतना प्राप्त हुई थी।

इन लोकों के माध्यम से आत्मा की आध्यात्मिक प्रगति पूर्णरूप से कल्पना में होती है। पथिक की प्रगति उसकी चेतना के प्रतिवर्धन में, प्रतिवर्धित होती हुई चेतना की बिल्कुल प्रथम भूमिका से लेकर छठवीं भूमिका तक, कल्पना के एक प्रदेश को हटाकर उसके स्थान पर कल्पना

के अधिक अच्छे और अधिक ऊँचे स्तर को लाने में निहित होती है। सातवीं भूमिका में प्रतिवर्धन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है, कल्पना का अन्त हो जाता है और सत्य का साक्षात्कार हो जाता है, और अब वह आगे कल्पना की चीज़ नहीं रहता।

जो लोग आध्यात्मिक पथ पर प्रवेश करते हैं और सद्गुरु के पथप्रदर्शन की सहायता के बग़ैर उस पर चलते हैं वे बहुधा दृश्यों और प्रकाशों की भूलभुलैयों में खो जाते हैं, और उनको अपनेआप को उस स्थिति से मुक्त करने का कोई अवसर नहीं रहता। वे उन बच्चों के समान हैं जो, पाठशाला जाते हुये, रास्ते में बाज़ार के दृश्यों और आकर्षणों से विचलित हो जाते हैं।

आध्यात्मिक मार्ग पर इतना अधिक भरमजाल एवं इतना प्रगाढ़ प्रलोभन होता है कि यात्रा की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी तीर्थयात्री को ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त होने का मिथ्या-भान होता है जिससे वह सद्गुरुओं की सहायता के बग़ैर मुक्त नहीं हो सकता। सूक्ष्म लोक में अनेक ऊँचे तीर्थयात्री सोचते हैं कि उनको जन्मों और मृत्युओं से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है—यद्यपि बात ऐसी नहीं है। भ्रमजाल विकसित होती हुई चेतना की छठवीं भूमिका तक रहता है, किन्तु वह तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच अत्यन्त प्रत्यक्ष होता है। चेतना की चौथी भूमिका तीर्थयात्री की प्रगति में अत्यन्त विश्वासघाती स्थिति होती है, क्योंकि यह वह स्थिति है जब सूक्ष्म लोक की अनन्त प्राणशक्ति की सब शक्तियाँ सीधे उसके अधिकार में होती हैं। इन शक्तियों के दुरुपयोग का अर्थ होता है आत्मा की चेतना का अधःपतन और विघटन। यद्यपि यह एक मूल तथ्य है कि एकबार चेतना प्राप्त हो जाने पर वह कभी नष्ट नहीं हो सकती, फिर भी इस नियम में अपवाद हो सकता है, किन्तु वह केवल चौथी भूमिका पर हो सकता है, जहाँ आत्मा द्वारा प्राप्त की गई चेतना के छिन्न-भिन्न होने की बड़ी सम्भावना होती है। जबकि इसका पूर्ण ह्रास कभी नहीं होता, इसका ह्रास पत्थर योनि की चेतना तक पतित हो जाता है। तब पूर्ण चेतना और मनुष्य योनि को पुनः प्राप्त करने के लिये चेतना के विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया से पुनः गुज़रना पड़ता है।

इस प्रकार से ही आध्यात्मिक पथ का तीर्थयात्री चौथी भूमिका से, तजल्लियत (सिद्धियों) के दुरुपयोग अथवा ग़लत प्रयोग करने के

कारण, या तो पीछे गिर सकता है, अथवा चेतना के और अधिक प्रतिवर्धन से अग्रसर होकर चेतना की पाँचवीं भूमिका पर पहुँच सकता है, और मनोलोक अथवा मन भुवन का अनुभव प्राप्त कर सकता है। चौथी भूमिका को पार करना और पाँचवीं भूमिका में प्रवेश करने का अर्थ होगा **ईश्वरीय द्वार** तक पहुँच जाना।

छठवीं भूमिका में तीर्थयात्री परमात्मा को आमने-सामने "देखता" है। यह देखना मनो-दृष्टि के द्वारा देखना होता है जब आत्मा की चेतना आत्मा की एकरूपता कारण शरीर से करती है। उस समय भी जबकि तीर्थयात्री अपनी प्रतिवर्धित होती हुई छठवीं भूमिका में परमात्मा को आमने-सामने देखता है तब भी द्वैध का फन्दा नहीं छूटता, क्योंकि दृष्टा और दृश्य अब भी देखने के द्वारा भिन्नता प्रगट करते हैं।

भूमिकाओं पर कल्पना समाप्त हो जाती है जैसे ही तीर्थयात्री माया के क्षेत्र पार करता है और पूर्णतया प्रतिवर्धित चेतना की सातवीं भूमिका में सत्यता के प्रदेश में प्रवेश करता है, जहाँ वह सब प्रकार के संस्कारों से बिल्कुल स्वतन्त्र होता है। सातवीं भूमिका की चेतना पूर्ण, साथ-साथ परिपक्व, चेतना होती है और वह संस्कार-रहित चेतना होती है जो आत्मा की एकरूपता उसके "आत्म" से करा देती है। तब आत्मा अपने परमात्मावत् शाश्वत अस्तित्व को चैतन्यरूप से महसूस एवम् अनुभव करती है। "बूँद" (आत्मा), किसी भी बुलबुले (माया के अन्तर्गत अज्ञानता के रूप) से रहित हुई, अपारतया अनन्त महासागर में अपने शाश्वत अस्तित्व का अनुभव स्वयं परमात्मा के रूप में करती है।

अवस्था ८

दिव्यतः निमग्न रूप में परमात्मा

परमात्मा की यह अवस्था आत्मा के लिये विकास के लम्बे संघर्ष के अन्त, पुनर्जन्म की प्रक्रिया के अन्त, और भूमिकाओं के माध्यम से साक्षात्कार करने की प्रक्रिया के अन्त, की द्योतक है। व्यक्तिगत आत्मा के लिये कोई भी उच्चतर श्रेणी नहीं रहती जिसकी दिशा में वह अग्रसर होने की लालसा करे, क्योंकि परमात्मा से उसका ऐक्य हो जाने के द्वारा वह अपने लक्ष्य पर पहुँच गई है। इस श्रेणी का ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त यात्री सूफी दुनियाँ को **मजजूब** के रूप में ज्ञात होता है

और वेदान्ती लोग उसको ब्रह्मी-भूत कहते हैं। मजज़ूब को शरीर की चेतना प्राप्त नहीं होती और न तीनों लोकों—स्थूल, सूक्ष्म और मनों लोकों—की चेतना प्राप्त होती है। इसका यह अर्थ है कि इस अवस्था ८ में, मजज़ूब के रूप में परमात्मा खुद अपनी अनन्त त्रि-प्रकृति (अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द) का अनुभव चैतन्यरूप से करता है, किन्तु वह अपनी प्रकृति के इन अनन्त पहलुओं का प्रयोग नहीं करता।

इस आठवीं अवस्था में, परमात्मा की अचैतन्य अनन्त अ अवस्था (अचैतन्य परमात्मा) न केवल परमात्मा की अवस्था ब की (चैतन्य परमात्मा) सर्वोच्च दिव्य चेतना प्राप्त करती है, किन्तु इस अवस्था में परमात्मा खुद अपनी अनन्त चैतन्य अवस्था की यथार्थता में दिव्यरूप से निमग्न हो जाता है, और इस प्रकार वह अपनी शाश्वत तद्रूपता परमात्मा की अनन्त, चैतन्य अवस्था ब के साथ अनुभव करता है।

परमात्मा की यह अवस्था ८ सर्वोच्च दिव्य चेतना की होती है, जो अहदियत (हालात-ए-मुहम्मदी) अथवा विज्ञान है। सब ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त प्राणी—मजज़ूब-ए-कामिल (ब्रह्मीभूत), मजज़ूब-सालिक (परमहन्स), आजाद-ए-मुतलक़ (जीवनमुक्त), कुतुब (सद्गुरु), और रसूल (अवतार)—शरीर छोड़ देने के बाद परब्रह्म अवस्था में ईश्वर की इस ब अवस्था में चले जाते हैं। मेहेरबाबा ने समझाया था कि पूर्ण पुरुष की ऐसी शरीर से पृथक् हुई अवस्था को सूफ़ी लोग हालात-ए-मुहम्मदी (मुहम्मद की अवस्था) कहते हैं, जैसी वह मुकाम-ए-मुहम्मदी (मुहम्मद के पद) से भिन्न होती है। हकीकत-ए-मुहम्मदी भौतिक शरीर में परमात्मा की दसवीं अवस्था है, और मुकाम-ए-मुहम्मदी (मुहम्मद का पद) विज्ञान भूमिका (विज्ञान का पद) है जैसा चार्ट में स के रूप में दिखाया गया है।

अवस्था ९
परमात्मा मुक्त हुई शरीरधारी आत्मा के रूप में

यदि परमात्मा, अवस्था ८ के रूप में दिव्यरूप से निमग्न, मनो, सूक्ष्म और स्थूल लोकों की सामान्य चेतना, अपने मनो, सूक्ष्म और स्थूल पहलुओं के माध्यम से, मजज़ूब (दिव्यरूप से निमग्न) के रूप में

ज्ञात एक मूर्तमान पूर्ण मानवप्राणी के रूप में, पुनः प्राप्त करता और क़ायम रखता है, तब उसको परमात्मा की ८ और १० अवस्थाओं के बीच की दिव्य सन्धि पर अवस्था ९ का अनुभव प्राप्त होता है।

यदि आत्मा को मानसिक, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों एवम् लोकों की सामान्य चेतना पुनः प्राप्त हो जाती है, तो वह फ़ना-फ़िल्लाह को पार करके, बक़ा-बिल्लाह अवस्था का अनुभव प्राप्त करने के लिये, मजज़ूब अवस्था ८ के बाहर आ जाती है। किन्तु, बक़ा-बिल्लाह में स्थापित होने के पहले, वह उस अवस्था में प्रवेश कर सकती है जिसे सूफ़ी मत वाले "मुक़ाम-ए-फ़ुरूतत" की "फ़ना-मा-अल-बक़ा" के रूप में जानते हैं, जिसको वेदान्ती लोग "तुरिया अवस्था" कहते हैं। यह ईश्वरत्व के फ़ना-फ़िल्लाह और बक़ा-बिल्लाह के बीच की दिव्य सन्धि पर अवस्था ९ है।

इस अवस्था में मानव देहधारी ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मायें या तो परमहन्स (मजज़ूब-सालिक अथवा सालिक-मजज़ूब) अथवा जीवनमुक्त (आज़ाद-ए-मुतलक़) होती हैं। वे दोनों अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का उपभोग करती हैं, और उनको "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था की चेतना प्राप्त होती है। वे मजज़ूब-ए-कामिल से इस बात में भिन्न होती हैं कि वे तीनों शरीरों और तीनों लोकों (मनो, सूक्ष्म और स्थूल लोक) की चेतना प्राप्त कर सकती हैं, और प्राप्त करती ही हैं। जबकि मजज़ूब अवस्था दिव्यतः निमग्न होने की सतत् अवस्था है, परमहन्स की अवस्था कभी दिव्यतः निमग्न होने की अवस्था है और कभी उसकी सामान्य चेतना पुनः प्राप्त करने की अवस्था है जो सुलूकियत के सुलूक का अनुभव करता है। उसका चैतन्य अनुभव कभी-कभी ऐसा होता है कि "मैं स्वयं अपना ईश्वर हूँ" और कभी ऐसा होता है कि "मैं स्वयं अपना प्राणी हूँ"। जीवनमुक्त की अवस्था उस व्यक्ति की अवस्था होती है जो सामान्यतः सुलूकियत के सुलूक का अनुभव करता है (अर्थात् उसका अनुभव करता है जो बक़ा-बिल्लाह की अवस्था में स्थायीरूप से स्थापित होता है)। परमहन्स और जीवनमुक्त दोनों क़ुतुब से इस बात में भिन्न होते हैं कि वे अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का उपयोग नहीं कर सकते, जिसका अनुभव वे निरन्तर करते हैं।

परमहन्स अथवा जीवनमुक्त से दुनियाँ को कोई प्रत्यक्ष† आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं होता। तथापि, जीवनमुक्त, अपने जीवन के अन्त की ओर, केवल एक आत्मा को निश्चितरूप से अपनी तरह पूर्ण बना देता है; यद्यपि उसको तीनों लोकों में कोई ड्यूटी नहीं होती, वह बका-बिल्लाह की अवस्था के आनन्द का उपभोग करता है।

अवस्था १०

"नर-नारायण" के रूप में ईश्वर

यह मानवी शरीर में परमात्मा की पूर्ण पुरुष (कुतुब, सद्‌गुरु) की जैसी अवस्था है। इस अवस्था में पूर्ण पुरुष अथवा नर-नारायण दिव्य रूप से अनासक्त रूप से और असीमितरूप से माया के विधान से ऊपर होता है जो ऐहिक सृष्टि को अपारतया नियमितरूप से नियंत्रित करता है; और फिर भी वह अपने को काल, देश और कारण-कार्य के बन्धनों से बँधने देता है जबकि वह अपनी "मैं-ईश्वर-हूँ" अवस्था और अपनी शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का सतत् चैतन्य अनुभव करता है। वह न केवल इन अनन्त गुणों का अनुभव करता है, बल्कि वह उनका उपयोग भी अन्य आत्माओं की मुक्ति के लिये करता है जो अज्ञानता के फन्दे में हैं और जिन्हें अब भी खुद अपनी शाश्वत सत्यता की चेतना नहीं होती।

यह परम पूर्णता की अवस्था है; यहाँ परमात्मा गुणों और रूप से युक्त (सगुण और साकार) होता है।

सूफ़ियों के मतानुसार, कुतुब का अर्थ ऊर्ध्व यात्रा पर सर्वोच्च बिन्दु होता है; वह सृष्टि का परम पुरुषार्थ और मानवता का सुन्दरतम पुष्प होता है। मजज़ूब की अवस्था में, आत्मा ने, "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था के अनन्त आनन्द का उपभोग किया था; लेकिन पूर्ण पुरुष (कुतुब, सद्‌गुरु) "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था के अनन्त आनन्द का रस लेता है और "मैं सबकुछ हूँ" तथा "सबकुछ की उत्पत्ति मुझसे हुई है" की सर्वोच्च दिव्य चेतना का भी आनन्द लेता है।

मनुष्य शरीर में परमात्मा की यह दसवीं अवस्था हकीकत-ए-मुहम्मदी की अवस्था है। पूर्ण पुरुष (कुतुब अथवा सद्‌गुरु) और अवतार [रसूल] सब इसी अवस्था के होते हैं। चाहे परमात्मा

† [तथापि, परोक्षरूप से, उसके सम्पर्क में आने वाला कोई भी जन अपनेआप लाभान्वित होता है। —सम्पादक]

नर-नारायण के रूप में हो, पूर्ण पुरुष के रूप में हो, अथवा ईश-पुरुष की अवस्था में अवतारवत् हो, वह इस १० वीं अवस्था में होता है और वह मुक़ाम-ए-मुहम्मदी अथवा विज्ञान भूमिका के ईश्वरीय आफ़िस से नर-नारायण के रूप में एवं ईश-पुरुष के रूप में कार्य करता है, जो चार्ट में "स" के रूप में दिखाया गया है। परमात्मा के प्रथम आविर्भाव ने, उसकी अनन्त चेतना सहित, इस ईश्वरीय पद को धारण किया, और यह आफ़िस सदैव शाश्वतरूप से अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द को प्रसारित करने के लिये कार्य करता रहेगा, जिसका अनुभव सद्गुरु और अवतार न केवल सतत् करते हैं, बल्कि वे उसका प्रयोग समस्त आत्माओं की मुक्ति के लिये भी करते हैं जो अब भी अज्ञान के चंगुल में हैं, और परमात्मा के साथ ऐक्य की अपनी सनातन अवस्था की चेतना प्राप्त करने का प्रयास करती हैं।

दूसरे शब्दों में, परमात्मा मानव शरीर में केवल इस ईश्वरीय आफ़िस के माध्यम से अपनी समस्त पूर्णता में अपने को निरन्तर प्रगट करता रहेगा जो "परमात्मा की दस अवस्थायें" शीर्षक चार्ट में "स" के रूप में अंकित है।

केवल इसी ईश्वरीय पद के माध्यम से परमात्मा ने, ईश-पुरुष के रूप में, जोरास्टर, राम, कृष्ण, ईसामसीह, बुद्ध, मोहम्मद और अन्य अवतारों के रूप में, प्रत्येक कालचक्र में, युग-युगान्तर में, अपनेआपको प्रगट किया और घोषित किया कि वह रक्षक है, नबी *(Prophet)* है, मसीहा है, परमात्मा-का-पुत्र है, अवतार है, रसूल है, बुद्ध है, इत्यादि। और, केवल इस ईश्वरीय आफ़िस के माध्यम से पाँच पूर्ण पुरुष अथवा कुतुब अथवा सद्गुरु के रूप में समस्त ऐहिक सृष्टि की सर्वोच्च-सत्ता के रूप में कार्य करते हैं।

सूफ़ी लोग इस दिव्य आफ़िस को मोहम्मद नबी के नाम पर, मुक़ाम-ए-मुहम्मदी कहते हैं, उसकी हक़ीकत-ए-मोहम्मदी में ख़ुदा का रसूल कहते हैं। इसी प्रकार, ईश्वर का पुत्र नज़ारेथ का जेसस—मोहम्मद, जोरास्टर, कृष्ण, राम, बुद्ध के समान—ईश-पुरुष है; जबकि "क्राईस्ट", हक़ीकत-ए-मोहम्मदी के समान, जेसस की दिव्य अवस्था है।

जब हम परमात्मा की सब विभिन्न अवस्थाओं को संक्षेप में रखने का प्रयत्न करते हैं, तो पूर्ण चेतना प्राप्त करने के लिये अचैतन्य परमात्मा के कठोर श्रम में, पाँच स्पष्ट अवस्थायें प्रगट होती हैं।

प्रथम स्थिति

(अ) शुरुआत में, आत्मा और परमात्मा दोनों "सत्यता की अनन्त, अखण्ड्य एकता" में एक हैं।

(ब) प्रारम्भ के प्रारम्भ से पहले, परमात्मा और सब आत्मायें अचैतन्य और संस्काररहित थे।

(स) प्रारम्भ में, आत्मा को स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर अथवा कारण शरीर की कोई चेतना न थी, और इसलिये उसको स्थूल जगत, सूक्ष्म जगत अथवा कारण जगत का कोई अनुभव न था। आत्मा को खुद अपने स्वत्व तक की चेतना न थी और इसलिये उसको खुद अपनी परमात्मा अवस्था का अनुभव न था।

यह वह स्थिति है जो परमात्मा की दस अवस्थाओं के चार्ट में अवस्था अ के रूप में प्रदर्शित की गई है।

दूसरी स्थिति

आत्मा चेतना प्राप्त करती है और संस्कार-युक्त होती है। इस स्थिति में आत्मा को या तो स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर अथवा कारण शरीर की चेतना प्राप्त होती है और वह या तो अन्न भुवन अथवा प्राण भुवन अथवा मन भुवन का अनुभव करती है; किन्तु आत्मा को अब भी खुद अपने स्वत्व की चेतना नहीं होती और इसलिये वह अब भी परमात्मा अवस्था का अनुभव नहीं करती।

यह वह स्थिति है जैसी चार्ट के अनुसार अवस्थाओं ३, ४, ५, ६ और ७ में है।

तीसरी स्थिति

आत्मा संस्कार-रहित हो जाती है किन्तु पूर्ण और भरपूर चेतना बनाये रखती है। यह पूर्ण चेतना अब आगे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर अथवा कारण शरीर की नहीं होती, और इसलिये आत्मा और आगे अन्न भुवन, प्राण भुवन अथवा मन भुवन का अनुभव नहीं करती।

यह चेतना जो क़ायम रहती है वह आत्मा के खुद अपने अनन्त स्वत्व की होती है, और इसलिये अब आत्मा परमात्मा अवस्था का अनुभव

चैतन्यरूप से करती है और "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव करती है।

यह वह स्थिति है जो चार्ट में अवस्था ८ के रूप में अङ्कित है।

चौथी स्थिति

आत्मा को स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की तथाकथित सामान्य चेतना पुनः प्राप्त होती है, और इसलिये एकबार फिर से, उसी समय, उसको साथ-साथ अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन का अनुभव होता है। इस स्थिति में, आत्मा को उसी के साथ-साथ खुद अपने अनन्त स्वत्व की चेतना भी प्राप्त होती है और उसको खुद अपनी परमात्मा अवस्था की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव होता है, लेकिन आत्मा इन अनन्त गुणों का प्रयोग नहीं कर सकती, यद्यपि, इस स्थिति में, उसको अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की चेतना प्राप्त होती है और उसके साथ-साथ तीनों भुवनों का अनुभव प्राप्त होता है।

यह चार्ट में अवस्था ९ की स्थिति है।

पाँचवीं स्थिति

आत्मा को अब पूर्णरूप से स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की भरपूर चेतना प्राप्त होती है, और वह साथ-साथ अन्न भुवन, प्राण भुवन और मन भुवन का अनुभव, अपनी अनन्त सत्ता की सर्वोच्च दिव्य चेतना रखती हुई, करती है, और वह खुद अपनी परमात्मा अवस्था की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव तथा प्रयोग भी करती है।

यह अवस्था १० की स्थिति है जैसा ईश्वर की १० अवस्थाओं के चार्ट में दिखाया गया है।†

† [पद (*Status*), अवस्था (*State*), स्थिति (*Stage*), तथा पहलू (*Aspect*) के लिये और सत्यता के शाश्वत लोक में ज्ञान के लिये मेहेर बाबा का विभिन्न शब्दों में दिया गया सारांश आगे पूरक के अन्त और उपसंहार के बीच में अङ्कित है। "मैं-परमात्मा-हूँ" का ज्ञान चार प्रकारों की पूर्णता के प्रत्येक प्रकार में सामान्यरूप से रहता है और भौतिक मृत्यु होने पर उसका अन्त नहीं होता। —सम्पादक]

रूप रहित और रंग रहित ईश्वर की सृजनात्मक और प्रेरणात्मक कल्पना

ईश्वर परात्पर परब्रह्म अवस्था में

ईश्वर की परब्रह्म अवस्था

सातवीं भूमिका
ईश्वर को स्वयं के अनन्त होने का अनुभव

वनस्पति

धातु

पाषाण

कीड़े मकोड़े व रेंगने वाले जन्तु

मत्स्य

पक्षी

पशु

मानव

बन्धनकारी संस्कार

विकास

गैसीय रूप

स्थूल लोक

जिसमें अगणित सूर्य, तारे, चन्द्रमा तथा यह पृथ्वी— केवल जिस पर ईश्वर साक्षात्कार प्राप्त करना संभव है— सम्मिलित हैं।

पुनर्जन्म

खुलते हुए संस्कार

प्रतिवर्धन

मनोलोक

छठवीं भूमिका

पाँचवीं भूमिका

चौथी भूमिका

पहली भूमिका

तीसरी भूमिका

दूसरी भूमिका

सूक्ष्म लोक

खुद को सर्वव्यापी अनन्त और शाश्वत रूप में जानने हेतु

मेहेर बाबा के अनुसार सृष्टि, विकास, पुनर्जन्म, प्रतिवर्धन और साक्षात्कार

चार्ट ८अ : मेहेरबाबा के मतानुसार, सृष्टि, विकास, पुनर्जन्म, प्रतिवर्धन और साक्षात्कार।

यह चार्ट रानो गैली द्वारा मेहेरबाबा के संरक्षण में तैयार किया गया, ईश्वर वाणी ग्रन्थ का एक चित्रमय वर्णन है।

ईश्वर परात्पर परब्रह्म अवस्था में ईश्वर को निर्मल सारतत्व, अनन्त, मूल और शाश्वत, के रूप में (अचैतन्य रूप से) प्रस्तुत करता है, उसको किसी भी चीज की, यहाँ तक कि खुद की भी चेतना नहीं होती। ईश्वर है।

परब्रह्म अवस्था में परमात्मा परात्पर परब्रह्म का प्रतिनिधित्व करता है, सार रूप में उसी परात्पर अवस्था में ईश्वरवत् प्रदर्शित करता है सिवाय इसके कि यहाँ खुद को जानने की लहर उठी और उसको अनन्त शक्ति, ज्ञान और आनन्द की चेतना प्राप्त हो गई, और उसके साथ-साथ उसको माया की भी चेतना प्राप्त हो गई जिसका आविर्भाव सृष्टि के रूप में हुआ। रूप के जगतों के माध्यम से अपनी यात्रा पूरी करने के द्वारा वह उनकी प्रत्यक्ष सत्यता की माया को निकाल देता है।

घड़ी के सीधे चक्कर के विपरीत अध्ययन करने से, आत्माओं द्वारा धारण किये गये प्रथम रूप, जिनका आविर्भाव सृष्टि बिन्दु से हुआ था, गैस रूप होते हैं। जैसे जैसे चेतना का विकास होता है, आत्मायें (Souls), असंख्य रूप धारण करती हैं जो बढ़ते हुये संस्कारों के अनुभव से प्रदर्शित होता है। मानव की अवस्था पर पहुँचने पर, आत्मा ने पूर्ण चेतना प्राप्त कर ली है और वह असंख्यबार पुनर्जन्म लेती है जब तक कि वह प्रतिवर्धन का अनुभव करने के लिये तैयार नहीं होती, यह सब स्थूल जगत में रूप धारण करने के समय में घटित होता है।

संस्कारों से मुक्त होने के दौरान में, ऊपर की ओर चढ़ती हुई आत्मा को क्रमशः सात भूमिकाओं और उच्चतर लोकों का भान होता है जब तक कि वह सब बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाती और ईश्वर में मिल कर एक (ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त) नहीं हो जाती।

प्रथम तीन भूमिकायें सूक्ष्म भान चित्रित करती हैं; चौथी भूमिका विशाल शक्तियाँ और प्राण शक्तियाँ चित्रित करती है जिनका सामना उसको वहाँ होता है; पाँचवीं भूमिका सन्त होने की भूमिका है और वह मनोलोक में होती है; छठवीं भूमिका प्रकाश की भूमिका है और सातवीं भूमिका ईश्वर-साक्षात्कार; अर्थात् ईश्वर से मिलन, की भूमिका है।

भाग १०

उपसंहार

ईश्वर समझाया नहीं जा सकता, वह बहस से सिद्ध नहीं हो सकता, वह सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं आ सकता, और न वह बहस-मुबाहसा से समझाया जा सकता है। ईश्वर को हम केवल आचरण में बरत सकते हैं। ३६ अ, ब, स।

फिर भी, वह सबकुछ जो बौद्धिक लोगों के और मनुष्य के मन को सन्तुष्ट करने के लिगे ईश्वर के विषय में यहाँ कहा और समझाया गया है, उसमें अब भी तमाम और अधिक शब्दों का और अधिक व्याख्याओं का अभाव है क्योंकि सत्य यह है कि सत्यता का अनिवार्य अनुभव होना चाहिये और परमात्मा की दिव्यता को प्राप्त करना चाहिये और उसको जीवन के आचरण में बरतना चाहिये।

सृष्टि की माया में व्यक्तिगत हुये प्राणियों का अनन्त, शाश्वत सत्यता को समझना, लक्ष्य नहीं है, क्योंकि सत्यता कभी समझी नहीं जा सकती; उसका साक्षात्कार तो चेतन अनुभव द्वारा प्राप्त होता है।

इसलिये, लक्ष्य है, सत्यता का साक्षात्कार करना और "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था को मानवरूप में प्राप्त करना।

पूरक की सूची

पूरक

१. संस्कारयुक्त चेतना (३२)‡

सम्पादकों के प्रार्थना करने पर, मेहेरबाबा ने निम्नलिखित सूचना जोड़ी है :

चेतना निश्चितरूप से पूर्ण हो जाती है जैसे ही प्रथम मानव योनि प्राप्त होती है, लेकिन वह उस बिन्दु पर प्रतिवर्धित होना प्रारम्भ नहीं करती। जब चेतना पहले प्रतिवर्धित होना प्रारम्भ करती है तो इसका अर्थ होता है कि मानव प्राणी आध्यात्मिक पथ पर केवल पहला क़दम रखना शुरू कर रहा है।

पहले मानवी जन्म के समय और पथ पर चलने के समय के बीच, मानव प्राणी की पूर्ण चेतना को, जो अब भी संस्कारयुक्त चेतना है, अनिवार्यरूप से एक प्रक्रिया में लगना पड़ता है जो अन्ततः इन संस्कारों को उस पर क़ब्ज़ा जमाये रखने से (चेतना जो पूर्ण है) अनिवार्यतः हटा देती है।

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उस अवधि के दौरान में, जिसमें हज़ारों पुनर्जन्म आते हैं, संस्कार जो कठोरता के साथ गड़े थे अथवा घने थे, उस पुनर्जन्म की प्रक्रिया से इतने पूर्णरूप से हिल जाते हैं कि उनका चेतना के ऊपर कठोर फन्दा ढीला पड़ जाता है। ये कठोरता से गड़े (घने अथवा स्थूल) संस्कार द्वन्द्वों के असंख्य एवम् विविध अनुभवों के द्वारा क्षीण अथवा निर्बल हो जाते हैं। इन अनुभवों की सीमा लगातार पुनर्जन्मों के द्वारा प्राप्त होती है जो द्वन्द्वों के अनुभव प्रदान करते हैं।

यह भी ध्यान से नोट करना चाहिये कि केवल जब ये घने, कठोरता से गड़े अथवा स्थूल संस्कार कम घने अथवा दुर्बल हो जाते हैं, तब स्थूल जगत के अनुभवों की सीमा स्थूल संस्कारों के द्वारा, स्थूल माध्यम, मानव शरीर, के द्वारा प्राप्त होती है। जब घने, कड़ाई से गड़े

‡ संख्याओं का उल्लेख इस पुस्तक में दी गई पृष्ठ संख्या में मिलेगा।

संस्कार कम घने हो जाते हैं, तो वे स्थूल अनुभवों को आगे जन्म नहीं देते क्योंकि ये कम घने संस्कार उत्कृष्ट अथवा सुन्दर होते हैं और उसके आगे भद्दे अथवा स्थूल नहीं होते। ऐसे विशुद्ध अथवा सुन्दर संस्कारों का योग सूक्ष्म संस्कार कहलाता है। ये सूक्ष्म संस्कार सूक्ष्म प्रकार के अनुभवों को जन्म देते हैं (अर्थात् सूक्ष्म जगत से सम्बन्धित अनुभवों को जन्म देते हैं) और सूक्ष्म शरीर इन सूक्ष्म संस्कारों का अनुभव करता है और उन्हें खर्च कर डालने का प्रयत्न करता है।

जब ये सूक्ष्म संस्कार उससे भी अधिक कम घने तथा और अधिक विशुद्ध हो जाते हैं, तो ऐसे संस्कारों का समूह मनो संस्कार कहलाता है। ये मनो संस्कार मनो जगत से सम्बन्धित अनुभवों को जन्म देते हैं, और कारण शरीर इन मानसिक संस्कारों का अनुभव करता है और उनको खर्च करने का प्रयत्न करता है।

जब मनो संस्कारों के अन्तिम चिह्न, कारण शरीर द्वारा प्राप्त हुये अनुभवों के माध्यम से समाप्त हो जाते हैं, तब आत्मा की पूर्ण चेतना (जो लगातार संस्कारों के चंगुल में थी, उस क्षण से जब उसने अपनी एकरूपता अत्यन्त-प्रथम मनुष्य योनि से अन्तिम मानव-योनि तक की थी—जो मानसिकरूप से चैतन्य मानव प्राणी है), संस्कारों के बोझ से मुक्त हो जाती है। केवल ऐसी संस्कार-रहित पूर्ण चेतना ही आत्मा की "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था का अन्तिम साक्षात्कार कर सकती है।

जब स्थूल अथवा कड़ाई से गड़े संस्कार पुनर्जन्म की प्रक्रिया से क्षीण हो जाते हैं, तब वे सूक्ष्म संस्कार बन जाते हैं। ये सूक्ष्म संस्कार स्थूल जगत के अनुभवों की और अधिक उत्पत्ति नहीं कर सकते। इस स्थिति में स्थूल चेतना से सम्पन्न मानव प्राणी की चेतना स्वतः सूक्ष्म जगत के अनुभवों से अनुरक्त होने लगती है। यह चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया के आगमन का चिह्न होता है और जिज्ञासु पथ पर चलने लगता है। यह स्पष्ट है कि सूक्ष्म संस्कारों को अनिवार्यरूप से प्राण भुवन के सूक्ष्म संस्कारों को जन्म देना चाहिये। ये सूक्ष्म संस्कार सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म जगत के अनुभवों के माध्यम से खर्च हो जाते हैं और चेतना के प्रतिवर्धन की प्रक्रिया जारी रहती है।

२. व्यावहारिक रहस्यवाद (४८)

सत्य तक पहुँचना व्यक्तिगत है

जो लोग ईश्वर का साक्षात्कार करने की लालसा रखते हैं उन सबके लिये कोई सामान्य नियम अथवा पद्धति लागू नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को खुद अपना उद्धार करना चाहिये, और अनिवार्यरूप से खुद अपनी पद्धति चुनना चाहिये, यद्यपि उसका चयन मनो-संस्कारों के पूर्ण प्रभाव द्वारा अधिकांशतः निश्चित होता है, जो संस्कार पूर्व जन्मों में प्राप्त किये गये थे। उसको अपने विवेक के मत के पथप्रदर्शन में चलना चाहिये, और उस पद्धति का अनुसरण करना चाहिये जो उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति, उसकी भौतिक योग्यता और उसकी बाहरी परिस्थितियों, के सबसे अधिक अनुकूल हो। सत्य एक है, किन्तु उस तक पहुँचना साररूप से व्यक्तिगत है। सूफ़ी लोग कहते हैं, "ईश्वर तक पहुँचने के इतने अधिक मार्ग हैं जितनी मनुष्यों की आत्मायें हैं" (अत–तुरूकू इलाल्लाही कनफूसी बनी आदम)।

जमाल-ए फ़ितरत के लाख परतू
कुबूल परतू की लाख शाखें
तरीके इरफ़ान में क्या बताऊँ
यह राह किसकी वह राह किसकी।

—अक़बर

"प्रकृति की सुन्दरता में हजारों पहलू हैं जिनके लिये स्वीकार करने के (समझने के) हजारों रास्ते और साधन हैं; ज्ञान मार्ग में, यह कौन निश्चित कर सकता है कि कौन सी खास रीति अथवा भाव एक दिये गये व्यक्ति के लिये निश्चित है ?"

संन्यास

जब पथिक, यहाँ पथिक से हमारा अर्थ जिज्ञासु अथवा शिष्य से है, संन्यास की ओर खिंचता हुआ महसूस करता है, तो इसका यह अर्थ है कि संन्यास की भावना उसमें पहले से ही प्रसुप्त थी। संन्यास की यह तैयारी दुःख से सुख और सुख से दुःख के भीषण पेण्डुलम के झूलने के फलस्वरूप होती है, और वह विकास के असंख्य रूपों में तथा असंख्य प्रवेश द्वारों एवम् निकास द्वारों में, जन्म और मृत्यु के द्वारों के माध्यम

से होती है जिनका अनुभव पुनर्जन्म के दौरान में होता है। क्योंकि संन्यास की यह भावना गुप्त होती है, इसलिये उसको ऊपरी सतह तक लाने के लिये किसी उत्तेजक कारण की आवश्यकता होती है, और केवल जब वह सतह के ऊपर आती है तभी हम गुप्त भावना की शक्ति और प्रकृति को देखने में समर्थ होते हैं।

यदि गुप्त भावना केवल अतिशय क्षणिक पीड़ा के आध्यात्मिक अजीर्ण के कारण होती है, जो किसी और अधिक सुहावनी चीज के लिये कोमल इच्छा से मिश्रित होती है, तो बाहरी आत्मत्याग केवल क्षणिक और दुर्बल प्रकार का होगा, केवल अप्रियता से एक क्षणिक छुटकारा होगा। तथापि, अपनी चरमसीमा पर, यह गुप्त भावना दुनियाँ के लिये एक असाध्य घृणा और परमात्मा के लिये एक उत्कट और जलती हुई प्यास के बीच हमले की एक गुप्त सन्धि है। जब यह उभर कर ऊपरी सतह पर आती है तब यह अपनेआप को अधो अहं *[lower self]* के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये, और सबकुछ अस्वीकार करने के लिये, जो इस महान और भीषण संघर्ष के लिये असङ्गत होती है, पूरे अस्तित्व को क्रमबद्ध करने के एक अभेद्य संकल्प के रूप में दिखलाई पड़ती है। इस शब्द "अस्वीकार" *[reject]* को ध्यान से नोट कीजिये; इसका अर्थ होता है कि ऐसा पथिक असङ्गतताओं को एक ओर फेंक देता है। हम आत्मत्याग को आध्यात्मिक उत्कण्ठा के फूल का फल कह सकते हैं, जो अनन्त जन्मों और मृत्युओं की निरर्थकता के लिये घृणा के ढेर के द्वारा उपजाऊ बनाया जाता है। एक बार आत्मत्याग के अपनेआपको प्रगट करने पर उसको देखने के लिये अनेक रीतियाँ होती हैं, जिनमें से सबसे सीधी रीति उसको दो मुख्य प्रकारों, भीतरी और बाहरी, में विभाजित करने की होती है।

बाह्य संन्यास का अर्थ है सभी सांसारिक सुखों और स्थूल चीजों के प्रति शारीरिक आसक्तियों को पूर्णतया त्याग देना। प्रारम्भिक अवस्थाओं में, यह संन्यास उस सीमा तक सहायक होता है जिस सीमा तक वह उसको भीतरी आत्म संन्यास तथा परमात्मा के साथ पूर्व धारणा तक ले जाता है। हजारों तथाकथित संन्यासी भारत में पाये जाते हैं, जिनमें से बहुत अधिक ने इस बाहरी आत्मत्याग को केवल पेशा के रूप में ग्रहण कर लिया है जो पेशा उनको आलस्यपूर्ण अनुत्पादक जीवन में अनुरक्त होने के योग्य बनाता है। तथापि, बाहरी आत्म-त्याग वास्तविक

हो सकता है और बहुधा होता है। जब ऐसा होता है तो वह अनिवार्य-रूप से आन्तरिक संन्यास की ओर ले जायेगा, और इसी संन्यास का महत्व है। आन्तरिक संन्यास का अर्थ है इच्छाओं के मूल स्रोत पर नियन्त्रण रखना जिससे मन कामवासना, लोभ और क्रोध की माँगों के चंगुल में नहीं फँसता। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई पथिक ऐसे विचार रखना तुरन्त बन्द कर देगा। यह असम्भव है, क्योंकि ऐसे विचार दुखदायी होना बने रहेंगे और जब तक कि वे संस्कार जिनसे वे पैदा होते हैं उस पथिक के अङ्ग बने रहते हैं। यह लड़ाई आवश्यकरूप से कठोर और लम्बे समय तक होती है।

खासकर पश्चिमी जगत के लिये, बाह्य संन्यास अवांछित और अव्यावहारिक होता है। उसको प्रारम्भ से आन्तरिक और मानसिक होना चाहिये। व्यक्ति को दुनियाँ में रहना चाहिये, सभी न्यायसङ्गत कर्तव्य करना चाहिये और फिर भी सबकुछ से मानसिक रूप से विरक्त महसूस करना चाहिये। व्यक्ति को दुनियाँ के अन्तर्गत होना चाहिये लेकिन दुनियाँ का न होना चाहिये। सूफ़ी कहते हैं, "दिल बा यार दस्त बिकार" (हृदय ईश्वर के साथ; हाथ कार्य के लिये)।

हजरत निजामुद्दीन औलिया से, जो दिल्ली के सद्‌गुरु थे, एक बार एक दर्शनार्थी ने पूछा कि मनुष्य को दुनियाँ में किस तरह रहना चाहिये। उस क्षण ऐसी घटना हुई कि कुछ स्त्रियाँ अपने सिरों पर ऊपर नीचे पानी से भरे घड़े रखे हुये वहाँ से गुजर रहीं थीं और वे चलते हुये आपस में हाव-भाव के साथ गपशप करती जा रही थीं। उनकी ओर इशारा करते हुये निजामुद्दीन ने कहा, "उन औरतों को देखो—इसी प्रकार तुमको दुनियाँ में रहना चाहिये।" उनसे इस रहस्यपूर्ण कथन को समझाने के लिये कहा गया तो सद्‌गुरु निजामुद्दीन ने कहा, "अपने सिरों के ऊपर सन्तुलित घड़ों को लिये हुये कुयें से लौटती हुई ये औरतें एक-दूसरे से गपशप के अलावा अन्य किसी चीज का विचार नहीं करती मालूम पड़तीं; और फिर भी वे सब हर समय किसी और अधिक महत्वपूर्ण चीज पर अपने सिरों पर घड़ों को सन्तुलित करने पर, चित्त एकाग्र किये हैं। इस प्रकार, जिस किसी चीज़ में भी तुम्हारा शरीर, तुम्हारी इन्द्रियाँ अथवा तुम्हारे मन की निर्मल सतह का भाग, तल्लीन होवें, तुम इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारे मन का मूल निरन्तर ईश्वर पर केन्द्रित रहे।"

वैताग और वैराग्य

यदि हम संन्यास को मन की एक अवस्था समझते हैं, तो हम समझ सकते हैं कि मन की यह अवस्था किस प्रकार क्षणिक अथवा स्थायी हो सकती है। इन दो अवस्थाओं में पहली अवस्था वैताग कही जाती है और बाद वाली अवस्था वैराग्य कही जाती है।

वैताग (क्षणिक संन्यास) दुनियाँ और उसके कार्यों के लिये केवल एक क्षणिक घृणा है जो परमात्मा के लिये एक अस्पष्ट इच्छा के साथ मिश्रित, किसी धक्का, निराशा अथवा हानि के फलस्वरूप उत्पन्न होती है; अथवा वह एक अचानक प्रेरणा से पैदा हो सकती है। वैताग में मन दुनियाँ से विमुख होता है और ईश्वरीय मार्गों की ओर मुड़ता है; किन्तु यह प्रवृत्ति स्थायी नहीं होती, और मन अपने पुराने मार्गों की ओर वापिस जाता है जैसे ही परिस्थितियाँ बदलती हैं, अथवा जैसे ही प्रेरणा का वेग समाप्त हो जाता है।

वैराग्य (अखण्डनीय संन्यास) मन की एक प्रवृत्ति है जिसमें ईश्वर के लिये ऐसी अभिलाषा होती है और दुनियाँ की चीज़ों के प्रति ऐसी गहरी उदासीनता होती है कि, जो एक बार पैदा हो जाने पर, पीछे नहीं हटती और उसको त्याग देने के लिये सभी प्रलोभनों के विरुद्ध एक प्रमाण होती है। गौतम बुद्ध का प्रसिद्ध उदाहरण वैराग्य को चित्रित करता है।

हमने यह पहले ही समझा दिया है कि संन्यास ईश्वर से मिलन के लिये गुप्त अभिलाषा का बाहरी प्रकाशन है जो दुनियाँ के लिये गुप्त घृणा भाव से मिश्रित होता है, और इसके लिये हमने फूल, पराग और फल की तुलना का प्रयोग किया था। जहाँ तक उत्पादकता का प्रश्न है, फूल और पराग स्वतः असहाय हैं, क्योंकि दोनों केवल किसी बाहरी एजेन्सी के माध्यम से, जैसे हवा से, मधु मक्खी से, अथवा कीड़े से लाये जा सकते हैं; उत्पादकता प्रकृति में घटित होती है या नहीं यह हज़ारों अज्ञात तथ्यों पर निर्भर हो सकता है जिसकी भविष्यवाणी करने का प्रयत्न आधुनिक विज्ञान नहीं करता, और उसको संयोग की संज्ञा देता है। यह बात इस क्षण विषय के बाहर है, और अपनी तुलना में हम इस उत्पादकता पर एक देन के रूप में विचार करेंगे।

अब हम पीछे मुड़कर वैराग्य के विषय पर आवें। हम याद रक्खें कि ईश्वर से मिलन की अभिलाषा प्रत्येक जीवधारी में गुप्त है।

कुछ भी हो, वह केवल चेतना में बलात् प्रवेश करती है जब आत्मा उसके प्रारम्भ पर पहुँचती है जिसको मेहेरबाबा, "ईश्वरीय विषय" कृति में "साक्षात्कार प्रक्रिया" कहते हैं। दुनियाँ के लिये घृणा भी कुछ चीज़ है जो स्वाभाविक रूप से हम सबके अन्दर विकसित होती है, और जो अधिक और अधिक शक्तिशाली होती जाती है जैसे-जैसे हम इस साक्षात्कार प्रक्रिया के आरम्भ के निकटतर पहुँचते जाते हैं। जब फूल पूरा खिला होता है और पराग परिपक्व होता है, तब हवा अथवा शहद की मक्खी उत्पादकता की देन देती है जो फल का उत्पादन करती है। इसी प्रकार से भी, जब भीतरी तैयारी का यह क्षण आता है, तब एक ईश्वरीय देन, आत्मा के ऊपर उतरती है जो परमात्मा के लिये तीव्र अभिलाषा और दुनियाँ के लिये घृणा अथवा उदासीनता पैदा करती है, और इस प्रकार वैराग्य के अमूल्य फल की उत्पत्ति करती है। यह ईश्वरीय देन अन्तर-निवासी परमात्मा की आन्तरिक कृपा का स्पर्श हो सकती है, अथवा वह किसी सन्त या सद्गुरु के सम्पर्क का फल हो सकती है। किन्तु वह सदैव एक देन होती है।

वैराग्य, जब वह पहलेपहल प्रगट होता है, कुछ समय के लिये अपनेआपको बाहरी संन्यास के रूप में प्रायः निश्चितरूप से प्रगट करेगा। किन्तु वैराग्य, स्थायी होने के कारण, सदैव देर-सबेर वास्तविक संन्यास की ओर ले जायेगा जो आन्तरिक है।

जब कोई साधक सत्य के लिये ऐसी प्रगाढ़ अभिलाषा रखता है तो वह अध्यात्म पथ में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है। एक पूर्ण पुरुष की कहानी है जिसे एक शिष्य वह बात बताने के लिये तङ्ग करता रहता था कि उसको ईश्वर-साक्षात्कार कब मिलेगा। एक बार जब वह एक नदी में स्नान करने के लिये गया तो सद्गुरु उस साधक को कुछ क्षण के लिये पानी में डुबोये रहा। जब शिष्य दम घुटकर मर जाने के करीब आया तो सद्गुरु ने उसको बाहर निकाल लिया और पूछा कि उसने पानी के भीतर रहने के अधिकांश समय किस चीज़ का विचार किया था और किस चीज़ की अभिलाषा की थी। जिज्ञासु ने उत्तर दिया "हवा"। सद्गुरु ने समझाया कि जब उस साधक को ईश्वर-प्राप्ति के लिये ऐसी ही अभिलाषा पैदा हो जायेगी तब उसको साक्षात्कार प्राप्त हो जायेगा। मौलाना रूमी कहते हैं : "आब कमजू, टिश्निगी आवर बिदस्त"; पानी के लिये कम चिल्लाओ, लेकिन उसके लिये अधिक प्यास पैदा करो।

मेहेरबाबा कहते हैं, "पथ एक गहनतर वास्तविकता के लिये चैतन्य अभिलाषा के साथ शुरू होता है। जैसे मछली पानी से बाहर निकाल ली जाने पर लौटकर पानी में वापिस जाने की उत्कण्ठा करती है, उसी प्रकार साधक जिसने उद्देश्य का भान पा लिया है ईश्वर से मिलन की उत्कण्ठा करता है।

"वास्तव में, स्रोत के पास वापिस जाने की उत्कण्ठा प्रत्येक प्राणी में उसी समय से विद्यमान है जबकि वह अज्ञानता के परदे के द्वारा स्रोत से विलग हो जाती है, किन्तु वह अचैतन्य रहती है जब तक कि साधक मार्ग में प्रवेश नहीं पा जाता।"‡

सूफ़ी लोग मन की इस प्रवृत्ति को "तौबा" कहते हैं जिसका अर्थ है प्रायश्चित करना और आत्मा के जीवन के लिये इन्द्रियों के जीवन का त्याग करना अथवा उनसे विमुख होना। वह व्यक्ति जिसने यह महान क़दम आगे बढ़ा दिया है पुनः यह नहीं देखता जो उसने पीछे छोड़ दिया है।

मेहेरबाबा कहते हैं कि ऐसे हज़ारों जिज्ञासु हो सकते हैं जो अनेक आध्यात्मिक अनुभवों का आनन्द लेते हैं लेकिन केवल ज्ञान का एक पथ है। वह आन्तरिक है किन्तु वास्तविक मार्ग है। यद्यपि वह साधारण मार्ग नहीं है, फिर भी वह उस रूप में स्पष्टरूप से सच्चे तीर्थयात्री की भीतरी आँख को उस रूप में दिखाई पड़ता है जो उस पर चलता है। किन्तु वे रहस्यवादी भी जिन्होंने सचमुच "अनुभव कर लिया है" केवल मार्ग के उन विभागों को समझा सकते हैं जिनको वे खुद पार कर चुके हैं। जो साधक तीसरी भूमिका पर सङ्कटपूर्ण स्थल पर पहुँच चुके हैं वे चौथी भूमिका के विषय में कुछ नहीं जान सकते, और न वे किसी को खुद अपने स्तर तक पहुँचा सकते हैं। उनका ज्ञान और अनुभव उन्हीं तक सीमित रहते हैं। केवल पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं के व्यक्ति ही दूसरों को खुद अपने स्तर तक ला सकते हैं और जिस किसी के ऊपर उनकी कृपा उतरती है उसको महान लाभ प्राप्त होता है।

दुनियाँ की व्यक्तिगत आत्मायें स्थूल लोक की सीमाओं के भीतर

---

‡ [यह भी देखिये : मेहेरबाबा, "मार्ग की श्रेणियाँ," सम्भाषण, २ : १८-२६। सम्पादक]।

होती हैं जिसमें सभी स्थूल सूर्य, चन्द्रमा, दुनियायें और सम्पूर्ण देश (*Space*) का समावेश होता है। एक असभ्य व्यक्ति, जिसे अत्यन्त मौलिक वैज्ञानिक नियमों का ज्ञान नहीं होता और न सही एवं गलत नियमों का ज्ञान होता है और एक महान दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक दोनों ही स्थूल जगत की सीमाओं के भीतर होते हैं। दार्शनिक सिद्धान्त में सूक्ष्म जगत से बिल्कुल परिचित हो सकता है; और वैज्ञानिक आधुनिक पदार्थ विज्ञान की चरमसीमा पर एक अधिकार पूर्ण ज्ञानी हो सकता है; किन्तु सूक्ष्म के दृष्टिकोण से, वे और असभ्य व्यक्ति स्थूल लोक से सम्बन्ध रखते हैं। जब तक सूक्ष्म लोक का अनुभव नहीं होता, तब तक ज्ञान मार्ग, उन सब लोगों के लिये जो स्थूल लोक से सम्बन्धित होते हैं, बौद्धिक बकवाद के लिये एक विषय बना रहता है क्योंकि "सूक्ष्म" शब्द से हमारा अर्थ केवल स्थूल का सर्वोत्कृष्ट रूप नहीं होता। इस शब्द के साधारण अर्थ में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को, जैसे ईथर, अणु, कम्पन, प्रकाश और देश को, "सूक्ष्म" कहना सही हो सकता है; किन्तु वे निश्चितरूप से स्थूल हैं, यद्यपि वे बहुत सूक्ष्म रूप से ऐसे हैं।

आध्यात्मिकता के अर्थ में, सूक्ष्म का अर्थ होता है कोई ऐसी चीज जो भौतिक रूप से बिल्कुल भिन्न होती है, चाहे भौतिक चीजें कितनी ही बारीक हों। यद्यपि स्थूल लोक की उत्पत्ति सूक्ष्म लोक से होती है और उस पर निर्भर रहती है, तथापि सूक्ष्म लोक पूर्णरूप से स्थूल लोक से स्वतन्त्र होता है। उदाहरण के लिये, हम भोजन करने की क्रिया को ले लें। स्थूल क्रिया की उत्पत्ति विचार से होती है, और उसके ऊपर निर्भर होती है; किन्तु विचार भौतिक क्रिया से स्वतन्त्र होता है।

विस्मृति

सत्य के पास पहुँचने और उसका साक्षात्कार करने का सम्पूर्ण तत्वज्ञान उस प्रश्न पर झूलता है जिसको हम विस्मृति कह सकते हैं। "विस्मृति" शब्द जिसका यहाँ उपयोग किया गया है, उसका सम्बन्ध एक पत्र छोड़ने की विस्मृति के, उसके आमतौर पर स्वीकार किये गये, अर्थ से न करना चाहिये, या उस मनो-दशा से न करना चाहिये जो केवल जड़ और खोखली है। इस विशेष अर्थ में विस्मृति मन की एक प्रवृत्ति है जिसका विकास क्रमशः आध्यात्मिक अनुभव में होता है। बाह्य संन्यास विस्मृति नहीं है क्योंकि वह अधिकांश रूप में भौतिक और आंशिक

रूप से मानसिक होता है; लेकिन आन्तरिक संन्यास, जब वह विशुद्ध रूप से मानसिक हो जाता है, विस्मृति का गुण और प्रतिष्ठा धारण करता है। इस प्रकार व्यक्ति दुनियाँ का त्याग कर सकता है, किन्तु उसको भूलना इतना आसान नहीं है।

इस प्रकार इस विशेष अर्थ में विस्मृति वह रहस्य समझाती है जो आध्यात्मिक अथवा अन्य प्रकार के सब सुखों के पीछे गुप्त रहता है, जिसका अनुभव मानवप्राणी करते हैं। इस विस्मृति के लिये सूफ़ी शब्द बेख़ुदी है, और उसका मिश्रण बेहोशी (अचैतन्यता) से न करना चाहिये—यद्यपि ऐसा बहुधा लोग करते हैं।

विस्मृति और अचैतन्यता के बीच का अन्तर महत्त्वपूर्ण है, और अचैतन्यता के प्रकारों के कुछ उदाहरण इस बात को स्पष्ट करने में सहायक होंगे। पहले पहल, व्यक्ति को अनिवार्यरूप से याद रखना चाहिये कि विस्मृति मन की भौतिक जगत से आंशिक अथवा पूर्ण पृथक्ता है, और अचैतन्यता भौतिक जगत से मन का आंशिक अथवा पूर्ण मरण है। पहले बताई गई पृथक्ता आध्यात्मिक परमानन्द के विविध अन्शों को जन्म देती है और बाद में बताया गया मरण सुख और दुःख के समाप्त होने के विविध अन्शों को जन्म देता है।

आइये हम अचैतन्यता के एक या दो नमूने देखें। पूर्ण स्वास्थ्य में मनुष्य हृदय जैसे जीवनदायी अङ्ग की क्रिया के बारे में परवाह नहीं करता। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य यह भूल जाता है कि यह अङ्ग मानव शरीर में जीवन और रक्षा के लिये निरन्तर और पूर्णरूप से स्पन्दन कर रहा है। तथापि, यदि हृदय की लय में गड़बड़ी हो जाती है तो तत्काल दुःख होता है, और यदि कोई हृदय सम्बन्धी गड़बड़ी होती है तो तत्काल पहले जैसी हार्दिक पीड़ा होती है। इनमें से किसी भी सूरत में मनुष्य को स्मरण होता है कि उसके हृदय है। दुःख अथवा पीड़ा की अनुभूति केवल मन की क्रिया के कारण होती है, यद्यपि वह हृदय से उत्पन्न होती है। मन जितना ही अधिक हृदय की ओर चलाया जाता है, उतनी ही अधिक असुविधा अथवा पीड़ा की अनुभूति होती है। जब पीड़ा अपने परम शिखर पर पहुँच जाती है, तब अचैतन्यता अचानक आ सकती है—अर्थात् चेतना के धागे टूट जाते हैं जिससे मनुष्य पीड़ा को भूलने में समर्थ होता है। लेकिन अपने आध्यात्मिक अर्थ में यह अचैतन्यता

है और विस्मृति नहीं है। शल्य-चिकित्सक पहले से तैयारी करके कुछ नाड़ी सम्बन्धी मार्गों में दखल दे सकता है जो कैंसर के समान कुछ असाध्य बीमारियों की असहनीय पीड़ा के ऊपर मन का यह केन्द्रीकरण करते हैं। इस चीड़-फाड़ के बाद भी पीड़ा वहाँ अब भी बनी रहती है, लेकिन रोगी अपना मन उसकी ओर लगाना बन्द कर देता है, और इसलिये उसके विषय में परेशान होना बन्द कर देता है। पुनः यह एक आंशिक अचैतन्यता है, जिसकी उत्पत्ति बिल्कुल भौतिक माध्यमों द्वारा होती है, और वह अपने आध्यात्मिक अर्थ में सच्ची विस्मृति नहीं होती। निद्रा अचैतन्यता की एक स्थिति है जो जीवन के सुख और दुःख को क्षणिक विश्राम प्रदान करती है; किन्तु निद्रा अपने आध्यात्मिक अर्थ में यथार्थ विस्मृति नहीं है।

इसलिये सुख और दुःख का पूरा तत्वज्ञान किसी न किसी प्रकार की विस्मृति के प्रश्न पर अवलम्बित होता है, और किसी न किसी प्रकार की स्मृति के प्रश्न पर निर्भर होता है। स्मृति किसी खास विचार, व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थान के प्रति मन का एक लगाव है, और विस्मृति उसका विलोम है। एक बार यह समझ में आ जाने पर कि स्मृति कष्टदायी होती है, उससे यह नतीजा निकलता है कि किसी प्रकार की विस्मृति ही उसका इलाज है, और यह विस्मृति भावात्मक अथवा नकारात्मक हो सकती है। भावात्मक विस्मृति वह है जिसमें मन को बाहरी बन्धनों का ज्ञान रहता है, लेकिन वह उनके प्रति प्रतिक्रिया नहीं करता। नकारात्मक विस्मृति या तो निरी अचैतन्यता होती है—यानी जिस प्रकार गहरी नींद में मन रुक जाता है—अथवा उसकी गति ऐसी तेज हो जाती जैसी पागलपन में होती है, जिसकी परिभाषा ऐसी की जाती है कि वह क्लेश की स्मृति से बचने का एक उपाय है। निद्रा, अथवा पागलपन नशीली चीजों अथवा दवाओं के प्रयोग से विभिन्न अन्शों में बनावटी रूप से पैदा की जा सकती हैं; किन्तु यह भी स्मृति पर विजय प्राप्त करने की नकारात्मक रीति है।

तब, निश्चित विस्मृति इलाज है, और उसका दृढ़ सम्वर्धन मनुष्य में मन का वह सन्तुलन पैदा करता है जो मनुष्य को ऐसे श्रेष्ठ लक्षण जैसे उदारता, क्षमा, सहनशीलता, निःस्वार्थपरता और दूसरों की सेवा प्रगट करने के योग्य बनाता है। वह मनुष्य जो इस ठोस विस्मृति से सुसज्जित नहीं है, अपने पास-पड़ोस का बैरोमीटर यन्त्र बन जाता है।

उसका सन्तुलन प्रशंसा अथवा चापलूसी की किंचित्‌मात्र कानाफूसी से, और निन्दा अथवा आलोचना के किंचित्‌मात्र सुझाव से, भङ्ग हो जाता है; और उसका मन सिलेण्डर रीड के समान भाव के हल्के से हल्के झोंके से झूमता है। ऐसा मनुष्य निरन्तर खुद अपने से युद्ध करता रहता है और उसको शान्ति नहीं मिलती।

इस भावात्मक विस्मृति का प्रयोग करने में, न केवल सारभूत विपरीत परिस्थितियों की नकारात्मक प्रतिक्रियाओं का अभाव होता है, किन्तु अनुकूल तथा सुखदायी परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं का अभाव भी होता है। इन दो में से बाद वाली परिस्थिति अधिक कठोर होती है और उसका वर्णन बहुधा कम किया जाता है, यद्यपि उसका महत्व केवल उतना ही होता है।

भावात्मक विस्मृति, यद्यपि वह सुख के मूल में स्थित होती है, प्राप्त करने के लिये किसी साधन से आसान नहीं है। एक बार मनुष्य मन की इस दशा को प्राप्त कर लेता है, तो वह सुख और दुःख के ऊपर हो जाता है, वह अपने खुद का मालिक बन जाता है। इस विस्मृति को, आध्यात्मिक जीवन के लिये पूरी तरह से कारगर होने के हेतु, स्थायी बन जाना चाहिये, और ऐसा स्थायित्व अनेक जन्मों में निरन्तर अभ्यास करने के बाद प्राप्त होता है। कुछ लोग, पिछले जन्मों में विस्मृति की ओर प्रयास करने के फलस्वरूप, बाद के जीवन में सहज और क्षणिक झलकें पाते हैं, और ऐसे लोग ही दुनियाँ को सर्वश्रेष्ठ कविता, कला एवम्‌ तत्वज्ञान प्रदान करते हैं, और जो विज्ञान में महानतम आविष्कार करते हैं।

सच्ची विस्मृति के ऐसे क्षणों में एक मानसिक अनासक्ति सब भौतिक वातावरण से होती है जिसमें कवि अपनी कल्पना की उड़ान को उड़ने देता है। एक कलाकार, जब वह किसी आदर्श को मूर्तमान करता है जिसमें वह अपने को और अपने चारों तरफ़ के वातावरण को बिल्कुल भूल जाता है, एक सर्वश्रेष्ठ चीज़ पैदा करता है। सर्वश्रेष्ठ तत्वज्ञान उस समय उच्चारित होता है जब मनुष्य जीवन की समस्या को, अपनी बिल्कुल व्यक्तिगत परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के सन्दर्भ के बग़ैर, जीवन की समस्या का पर्यावलोकन करता है; और मन के इसी ढाँचे में कुछ सबसे महान्‌ वैज्ञानिक आविष्कार किये गये हैं। विस्मृति की यथार्थ सहजता के ऐसे प्रकाशन वास्तव में बहुत-बहुत दुर्लभ हैं, और यद्यपि

ऐसा कहा जाता है कि कवि, कलाकार और तत्वज्ञानी पैदा होते हैं, और बनाये नहीं जाते हैं, ये असली विस्मृति के नश्वर पहलू पूर्व जन्मों में किये गये असली विस्मृति के परिणाम हैं।

जीवन को सहनीय बनाने के प्रयत्न में कुछ लोगों में एक निर्बल प्रकार की द्वन्द्वमुक्ति पैदा हो जाती है—एक प्रकार का "कौन परवाह करता है, किस तरह" का दृष्टिकोण—विकसित करता है—और अन्य लोग अपनेआप को असावधानी से माया में डुबो देते हैं। पहिला कथन हार जाने की उदासीन स्वीकृति है, और बाद की स्थिति सुख के हाथों में हार को भूल जाने का प्रयत्न है। इनमें से कोई भी सच्ची विस्मृति नहीं है। लेकिन जब मनुष्य सच्ची विस्मृति पा लेता है, तब वह आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करता है और विस्मृति के विभिन्न अन्शों से गुज़रता है जब तक कि लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता। मेहेरबाबा हमको बताते हैं, "दुनियाँ की विस्मृति मनुष्य को एक तीर्थयात्री (रहरो, साधक) बनाती है; दूसरी दुनियाँ की विस्मृति मनुष्य को सन्त बनाती है; आत्म की विस्मृति का अर्थ है साक्षात्कार; और विस्मृति की विस्मृति पूर्णता है।"

३. प्रथम भूमिका (४९)

हाफ़िज़ स्पष्टरूप से पहली भूमिका का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में करते हैं :

कस नदानिस्त कि मंज़िलगाहे मक़सूद कुजाअस्त
ईं क़दर हस्त कि बांगे जरासी मीआयद।

"यह ज्ञात नहीं है कि दैवी प्रियतम का असली निवास कहाँ है; केवल इतना स्पष्ट है, कि मुझे (यात्रा करते हुये काफिलों से) घण्टियों की आवाज़ सुनाई देती है।"

नाद और भूमिकाओं के इस विषय पर मेहेरबाबा कहते हैं : ‡

"फिर भी, यह ज्ञातव्य है, कि नाद का अस्तित्व सब सातों भूमिकाओं के आद्योपान्त होता है, और वह अपनी भावना, अति हर्ष तथा परमानन्द की अभिव्यक्ति में भिन्न होता है।

‡ "प्रश्न जिनका उत्तर बाबा देते है", मेहेरबाबा जरनल, भाग १, संख्या ३, (जनवरी, १९३९), पृष्ठ ८३–८४।

"उच्चतर भूमिकाओं के नाद, दृश्य अथवा गन्ध की तुलना कितनी भी विस्तृत कल्पना से नहीं की जा सकती जिसे हम भौतिक भूमिका पर करने के आदी हैं। .....हमारी सुनने, देखने और सूंघने की भौतिक इन्द्रियाँ उच्चतर भूमिकाओं का अनुभव करने के लिये और उनका आनन्द लेने के लिये व्यर्थ होती हैं। उनके अन्दर एक विभिन्न नेत्र होता है जो देखता है, एक विभिन्न कान होता है जो सुनता है और एक विभिन्न नाक होती है जो सूंघती है। आप पहले से ही जानते हैं कि आन्तरिक इन्द्रियाँ होती हैं, जो मनुष्य के अन्तर में बाह्य इन्द्रियों के सहायक अङ्ग होती हैं, और व्यक्ति पहले की इन्द्रियों से ही उच्चतर भूमिकाओं का अनुभव करता है।

"उच्चतर भूमिकाओं के नाद की समता किसी ऐसी चीज़ से करने की ग़लती न करो जो तरङ्गों की प्रगाढ़ता और तीव्रता में भौतिक भूमिका के नाद से भिन्न हो; यह निश्चय मानो कि प्रथम तीन भूमिकाओं में जिसे हम "नाद" कह सकते हैं वह यथार्थरूप से मौजूद है। इस नाद के रूप, सुन्दरता, सङ्गीत और आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता। नाद अथवा दिव्य सङ्गीत प्रथम भूमिका की विशेषता है, जिसका उल्लेख हाफ़िज़ ने बाँनगी जरासी (घण्टियों के बजने) के रूप में किया है।

"जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यद्यपि सब सातों भूमिकाओं में नाद व्याप्त है, यह गन्ध है जो दूसरी और तीसरी भूमिकाओं की विशेषता है, जबकि दृष्टि पांचवीं और छठवीं भूमिकाओं से सम्बन्ध रखती है......

"सातवीं, भूमिका अद्वितीय है। यहाँ नाद, दृष्टि और गन्ध मूलरूप से दिव्य होते हैं और उनकी तुलना उनसे नहीं की जा सकती जो निचली भूमिकाओं से निकलते हैं। इस भूमिका में मनुष्य को सुनाई नहीं देता, गन्ध नहीं आती और दिखाई नहीं पड़ता किन्तु वह सुगन्ध और दृष्टि दोनों में एकसाथ नाद बन जाता है, और उसको इसकी दिव्य चेतना रहती है।"

४. दूसरी भूमिका (५०)

हाफ़िज़ स्पष्टरूप से दूसरी भूमिका का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में करते हैं:

सिगुयामत कि बिमयख़ाना दूश मस्त ओ ख़राब
सुरूश-ए आलम-ए घैबम चीह मुज़्दिहा दादस्त ?

"मैं तुमसे कैसे प्रगट करूँ कि मुझे विगत रात्रि को मयखाना में, जबकि मैं नशे में था और अस्थिर था, छिपी हुई दुनियाँ के फ़रिश्ते मेरे पास बड़े शुभ सन्देश लाये ?"

५. तीसरी भूमिका (५१)

हाफ़िज़ तीसरी भूमिका का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में करते हैं :

चे राह मीज़ानद ई मुतरिब-ए मुक़ाम शिनास
के दर मियान-ए गज़ल कूल-ए आशिना आवर्द।

"यह सङ्गीतज्ञ, जो अवस्थाओं और स्थितियों के ज्ञान (आध्यात्मिक) से सम्पन्न हैं, अपने दैवी प्रियतम के शब्दों को अपनी क्रिया के बीच प्रस्तुत करने के द्वारा श्रोताओं (प्रेमियों) में कैसी व्यग्रता और पीड़ा पैदा कर रहा है।"

६. तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच की स्थिति (५१)

तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच की यात्रा एकसाथ कठिन और ख़तरनाक है क्योंकि इन दो भूमिकाओं के बीच सम्मोहन का बिन्दु (मुक़ाम-ए-हैरत) होता है। सम्मोहन की इस अवस्था को पार करना बहुत कठिन है यदि तीर्थयात्री एक बार वहाँ रुक जाता है; यद्यपि अधिकांश तीर्थयात्री तीसरी भूमिका से चौथी भूमिका को सीधे पार कर जाते हैं। जब तक कि तीर्थयात्री इस स्थिति को तेज़ी से पार न करके चौथी भूमिका की ओर अग्रसर नहीं होता, तब तक उसकी प्रगति अनिश्चित समय तक रुकी रहेगी। एक बार जब पथिक इस प्रकार मुग्ध हो जाता है तो वह इस दशा में दिनों, महीनों अथवा वर्षों तक एकसाथ बना रहता है। वह न तो और आगे प्रगति कर सकता है और न वह पीछे को हट सकता है। उसे न तो स्थूल चेतना होती है और न सूक्ष्म चेतना होती है। न तो उसको अचैतन्य कहा जा सकता है क्योंकि उसको सम्मोहन की पूर्ण चेतना प्राप्त होती है, और सम्मोहन की इस चेतना के कारण ही वह अपनी यह जीवित मृत्यु व्यतीत करता है।

इस गहराई से मोहित तीर्थयात्री की शारीरिक अवस्था कम विचित्र नहीं होती, क्योंकि यदि वह किसी खास आसन में बैठ जाता है

तो वह उस आसन में महीनों और वर्षों तक एकसाथ बैठा रहता है। इसी प्रकार, यदि वह खड़े हुये समय में मोहित हो जाता है, तो वह खड़ा बना रहेगा जब तक कि उस सम्मोहन का अन्त नहीं हो जाता। संक्षेप में, वह उस स्थिति में स्थिर बना रहता है जिसमें वह पहलेपहल मोहित हो जाता है और, यद्यपि वह एक निर्जीव मूर्ति के समान दिख सकता है, वह दुनियाँ के साधारण मनुष्य की अपेक्षा वास्तव में अधिक जीवन्त होता है।

यद्यपि सूफ़ी जगत को अच्छी तरह ज्ञात है कि पिरन कलयार का अली अहमद साबिर, जो बाद में सद्गुरु हो गया था, एकबार वर्षों तक एक खास पेड़ के पास खड़ा रहा था। इस अवधि में साबिर का मन इस मुकाम-ए-हैरत के सम्मोहन में निमग्न हो गया था, और उसे उस स्थिति से एक कुतुब ने बाहर निकाला था। केवल स्वाभाविक मृत्यु अथवा सजीव सद्गुरु की ईश्वरीय सहायता ही ऐसे चौंधियाये पथिक को उसके आध्यात्मिक गत्यावरोध से बाहर निकालने में सहायक हो सकते हैं। सद्गुरु ऐसे पथिक की सहायता या तो उसको तीसरी भूमिका में वापिस लाकर करेगा अथवा उसे आगे को ठेलकर करेगा।

निःसन्देह हाफ़िज़ पथिक की इस स्थिति का विचार निम्नलिखित शब्दों में करता है :

मस्तम कुन आँ सुनाँ कि नदानम ज़ी बेखुदी
दर अरसीह् ख़ियाल के आमद कुदाम रफ्त।

"मुझको ऐसा चकाचौंध और नशे में चूर कर दीजिये कि, विस्मृति की इस अवस्था के कारण, मुझे इस बात की विस्मृति हो जाय कि मेरे मन में क्या आया था और उसके बाहर क्या चला गया।"

मेहेरबाबा समझाते हैं कि पथिक को मुकाम-ए-हैरत (सम्मोहन की दशा) में प्रवेश करने का खतरा होता है जब वह तीसरी भूमिका से चौथी भूमिका में जाता है। वह कहते हैं कि मोहित होने की अवस्थायें मार्ग के दूसरे भागों में भी होती हैं, लेकिन सबसे अधिक महत्वपूर्ण वह अवस्था है जो तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच होती है। यह हैरत (सम्मोहन) दृढ़ अथवा क्षीण हो सकती है। यदि उस क्षण कोई बाधा अथवा बाधक तत्व मौजूद नहीं होता जिससे तीर्थयात्री मोहित हो जावे, तो हैरत गम्भीर होती है, अथवा दृढ़ होती है। यदि उस क्षण कोई

बाधक तत्व मौजूद होता है तब हैरत क्षीण होती है। यदि तीर्थयात्री तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच दृढ़ अथवा क्षीण हैरत का अनुभव करता है और फिर वह अकस्मात् एक उच्चतर भूमिका तक ठेल दिया जाता है, तो वह अनिवार्यरूप से उसी दृढ़ अथवा क्षीण हैरत के साथ पांचवीं और छठवीं भूमिकाओं के बीच की एक स्थिति पर चला जाता है। ऐसे उदाहरण बहुत दुर्लभ हैं। कलयार निवासी अली अहमद साबिर और बम्बई के बाबा अब्दुर्रहमान दोनों तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच की सुदृढ़ हैरत से पांचवीं और छठवीं भूमिकाओं के बीच की अत्यन्त सुदृढ़ हैरत में, पहला जन कुतुब की कृपा की देन के द्वारा और दूसरा एक घटना की शक्ल में, परमात्मा की देन के द्वारा पहुँच गये थे।

स्थिति की एक पूर्ण स्थिरता जो मौत के समय तक स्थिर नहीं रहती, अथवा उसका सम्पर्क एक सद्गुरु से नहीं होता, केवल उन तीर्थयात्रियों में दिखाई पड़ती है जिनको एक बहुत दृढ़ हैरत प्राप्त होती है। एक मस्त (ईश्वरीय प्रेम के नशे में चूर व्यक्ति) जो मेहेरबाबा के साथ बहुत वर्षों से रह रहा है, तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच इस मुकाम-ए-हैरत में था जब वह १९३६ ई० में राहुरी में मेहेरबाबा के पास लाया गया था; लेकिन उसकी हैरत क्षीण थी, और यद्यपि वह कई घण्टे एक ही आसन में लगातार खड़ा रहता था, यह स्थिति स्थायी-रूप से क़ायम नहीं रह सकती थी। तो भी अली अहमद साबिर का सम्मोहन दृढ़ था और वह एक ही आसन में बना रहा था जब तक कि एक सद्गुरु ने उसको अन्ततः उस मायावी सम्मोहन से मुक्त न कर दिया।

सम्मोहन की इस अवस्था का अर्थ किसी भी प्रकार से मनोविभ्रम वाले व्यक्ति की बेहोशी से न लगाना चाहिये, यद्यपि वह बिल्कुल वैसी ही दिखाई पड़ सकती है। दोनों सम्मोहन की अवस्थायें हैं, किन्तु उनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है।

७. मनो भुवन का तीर्थयात्री (५६)

मेहेरबाबा कहते हैं कि यदि मनो लोक का पथिक भारत में है और वह अमरीका देखने के विचार की कल्पना अपने पक्ष की मानसिक अथवा भौतिक इच्छाओं के साथ-साथ करता है, तब वह वहाँ होगा। कोई यह पूछ सकता है कि वह इतना तेज कैसे दौड़ता है जैसे उसका स्वयं विचार उसी तेजी से दौड़ता है। इसका उत्तर यह है कि

मन हर जगह है और इसलिये मनोलोक के तीर्थयात्री को यात्रा नहीं करनी पड़ती। वह अपनी स्थूल अथवा सूक्ष्म इन्द्रियों का उपयोग किये बग़ैर, हर जगह हो सकता है जहाँ वह चाहे। वह स्थूल, सूक्ष्म और मनोलोकों के विषय में कुछ भी और सबकुछ केवल जानने की इच्छा से छठवीं भूमिका तक, जान सकता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि, वह कम उन्नत आत्माओं को और साधारण मनुष्यों को भी प्रगति के अपने ही स्तर तक लाने में मदद कर सकता है। जब वह किसी को सीधे-सीध सहायता करना चाहता है, तो पाँचवीं भूमिका का तीर्थयात्री साधक को, "हाथ पकड़े हुये" पथ पर आगे ले जाता है। जब वह ऐसा करता है, तो स्वयं साधक भी आन्तरिक रूप से मन-भूमिका के गुरु (इसे सूफ़ी लोग "वली" कहते हैं) की निरन्तर उपस्थिति अन्तर में देखता है और वह अपनेआपको ऐसा महसूस भी करता है कि वह उसके द्वारा पूर्णता के मार्ग पर यथार्थरूप से अग्रसर किया जा रहा है। हाफ़िज़, निम्नलिखित ग़ज़ल में, स्पष्टरूप से उस खास व्यक्ति की कल्पना करता है, जिसका पथप्रदर्शन इस प्रकार किया जा रहा है :

तू दस्तगू शू ऐ खिज़र-ए-पे खुजास्तोह, की मन
पियादोह मीरवाम ओ हमराहाँ सवारआनन्द।

"हे प्रतापी गुरुदेव, मेरा हाथ पकड़कर मेरा पथप्रदर्शन कीजिये क्योंकि मैं तुलना में दूसरे साथियों के साथ जो मार्ग में सवारी पर चल रहे हैं, नंगे पैर (असहाय) चल रहा हूँ।"

जो भी हो, आमतौर पर वली (महापुरुष) जिज्ञासु की सहायता उसकी आँखों में टकटकी लगाने के द्वारा करता है, और उसके द्वारा वह भीतरी पर्दे को वास्तविक अन्तर्दृष्टि से फाड़कर अलग कर देता है। दृष्टि के द्वारा किये गये वली के इस आध्यात्मिक प्रभाव को सूफ़ी लोग तवज्जोह कहते हैं। तवज्जोह शब्द सद्‌गुरुओं पर लागू नहीं होता। उनके उदाहरण में शब्द "मरज़ी" (*will*) ठीक है क्योंकि वे भी शारीरिक सम्पर्क के बग़ैर यह सहायता प्रदान कर सकते हैं, जो सम्पर्क भूमिकाओं के गुरुओं के उदाहरण में आवश्यक होता है।

मेहेरबाबा समझाते हैं कि पाँचवीं भूमिका पर तीर्थयात्री कभी-कभी ईश्वरीय उपस्थिति पाने की इच्छा करता है, और कभी-कभी

दुनियाबी कर्तव्यों की ओर ध्यान देता है। वास्तव में, जहाँ तक पाँचवीं भूमिका पर ईश्वरीय उपस्थिति का सम्बन्ध है, ईश्वर सदैव उपस्थित है, लेकिन यात्री इस उपस्थिति की चाह सदैव नहीं कर सकता जबकि वह अपना ध्यान सांसारिक कर्तव्यों की ओर मोड़ता है। छठवीं भूमिका पर पथिक ईश्वर की उपस्थिति की पूर्ण अभिलाषा आग्रहपूर्वक करता है। हाफ़िज़ स्पष्टरूप से पाँचवीं भूमिका के अपने अनुभव को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

हुज़ूरी गर हमी ख्वाहू
अज़् गायब मशू हाफिज।

"हे हाफ़िज़, यदि तुम ईश्वरीय उपस्थिति की अभिलाषा करते हो तो तुम अपने को अनुपस्थित न होने दो।"

८. छठवीं भूमिका (५९)

जो यात्री इस भूमिका तक पहुँचने में सफल होता है वह पीर अथवा सत्पुरुष कहलाने का अधिकारी होता है। अँग्रेजी में इन शब्दों का कोई पर्याप्त अनुवाद नहीं है। "सन्त" शब्द कदाचित् पर्याप्त होगा, लेकिन उसमें बहुत लचर व्यवहार की बाधा होती है।

हाफ़िज इस छठवीं भूमिका को निम्नलिखित शब्दों में याद करता है :

मा दर पियालेह अक्स-इ रुख-इ यार देदीह आम
ऐ बेख़बर जे लज्जत-इ शर्ब-इ मुदाम-इ मा।

"हमने प्रियतम के चेहरे का प्रतिबिम्ब प्याले में (अपने मन अथवा हृदय के) देखा है। हे अज्ञानी, तुमको उस परमानन्द की कोई कल्पना नहीं है जो हम उससे प्राप्त करते हैं।"

९. छठवीं भूमिका का ज्ञानपथ (६०)

छठवीं भूमिका के ज्ञानपथ के सम्बन्ध में मेहेरबाबा हमको बतलाते हैं : "केवल ईश्वर का अस्तित्व है, और यदि कोई चीज अज्ञानता के कारण अस्तित्व में है, तो उसकी सत्यता मायावी है। तब उसका अस्तित्व परमात्मा की छाया के रूप में होता है, जिसका अर्थ है कि परमात्मा ज्ञान और अज्ञानता दोनों की स्थिति में है। एक अनुभव के निम्नलिखित चार दृष्टिकोण, जो सूफ़ी ज्ञानमार्ग की भाषा में लिखे गये हैं, छठवीं भूमिका में आत्माओं के ज्ञानपथ के विभिन्न पहलू हैं जब वे

ईश्वर के आमने-सामने होते हैं, लेकिन वे फिर भी द्वैत के क्षेत्र में होते हैं। इन सब पहलुओं का अनुभव एकसाथ उसी समय होता है।

(१) हमा ऊस्त —इसका अर्थ यह है कि 'ईश्वर सबकुछ है'; और उस व्यक्ति के लिये जिसे इस ज्ञानमार्ग का अनुभव होता है, एकमेव ईश्वर का अस्तित्व होता है।

(२) हमा अज़ ऊस्त —इसका अर्थ है कि 'सबकुछ की उत्पत्ति ईश्वर से है'; और उस व्यक्ति के लिये जो इस ज्ञानपथ का अनुभव करता है, समस्त विश्व प्रपंच, विविधतायें, और अनेकता माया के रूप में अस्तित्व में होती हैं जब अज्ञान की प्रबलता होती है।

(३) हमा बा ऊस्त —इसका यह अर्थ है कि 'सबकुछ परमात्मा के साथ है'; और उस व्यक्ति के लिये जो इस ज्ञानपथ का अनुभव करता है, परमात्मा निर्गुण और सगुण दोनों होता है। उसके गुण उस समय असीमित होते हैं जब ज्ञान की प्रधानता होती है, और वे सीमित होते हैं जब अज्ञानता की प्रधानता होती है। शरीर, मन और तीनों लोकों का कोई अस्तित्व नहीं है; किन्तु यदि उनका अस्तित्व होना मालूम पड़ता है, तो वे छायाओं के रूप में अस्तित्व में होते हैं।

(४) हमा दर ऊस्त —इसका अर्थ है कि 'सबकुछ परमात्मा में है'; और उस व्यक्ति के लिये जिसे इस ज्ञानपथ का अनुभव हो रहा है, अज्ञानता भी स्वयं में कोई वास्तविकता नहीं रखती। उसका अस्तित्व, जब वह प्रगट होता है, परमात्मा के अचैतन्य और अनन्त ज्ञान के बाहर आता है; और इसलिये अज्ञानता के कारण जो कुछ दुई में अस्तित्व में होता है वह परमात्मा के बाहर वहाँ से आया है जहाँ उसका नित्य अस्तित्व था।"

०

१०. सातवीं भूमिका (६१)

यह समझ लेना चाहिये कि सातवीं भूमिका में निमग्न होने के क्षण, सभी कड़ियाँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के सहित और विश्व के सहित आवश्यकरूप से टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं। सामान्य स्थूल अस्तित्व में इन चिरजीवी जीवनदायी सम्बन्धों के इस अपहरण की बराबरी का कोई नहीं होता, जो व्यक्ति को उसके तीन शरीरों से और विश्व से बाँध देते हैं। शारीरिक मृत्यु, तुलना के द्वारा, एक तुच्छ चीज है, लगभग ऐसी तुच्छ चीज है जैसे धागे के एक टुकड़े को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े करना हो। आमतौर पर मृत्यु के क्षण सूक्ष्म शरीर और प्राणदायी शक्ति स्थूल शरीर से बिल्कुल अलग हो जाते हैं। लेकिन मन मृत्यु के बाद पहले चार दिन स्थूल शरीर से सम्बन्ध बनाये रखता है, और कुछ थोड़े अन्शों में मृत्यु के बाद सात दिन तक और सम्बन्ध बनाये रखता है। अन्तिम विनाश (फ़ना) में शरीर और मन के बीच पृथक्ता नहीं रहती; वह मन का और सब नक़्शे-अमल (संस्कारों) का यथार्थ नाश है।

११. विभिन्न प्रकार के चमत्कार (७८)

मेहेरबाबा ने हमको चमत्कारों के बीच का भेद निम्नलिखित शब्दों में समझाया है :—

(१) एक उद्धारक (अवतार)
(२) पूर्ण पुरुष (सद्गुरु)
(३) एक पीर और एक वली (अर्थात् वह व्यक्ति जो क्रमशः छठवीं अथवा पाँचवीं भूमिका पर स्थित है)
(४) वे व्यक्ति जो नीची भूमिकाओं पर हैं (अर्थात् पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी भूमिकायें)

इन चार प्रकारों के सम्बन्ध में मेहेरबाबा हमें बतलाते हैं :

१. उद्धारक के चमत्कार व्यापक लक्षण के होते हैं और वे केवल तभी किये जाते हैं जब वे विश्वव्यापी आवश्यकता के होते हैं। जब एक उद्धारक चमत्कार करना चाहता है, तो वह उस क्षण के लिये छठवीं, पाँचवीं अथवा चौथी भूमिका पर अपनेआपको स्थित करता है, जैसाकि परिस्थितियाँ तकाज़ा करती हैं। फिर भी, यह वांछित है कि चमत्कारों को बहुत शक्तिशाली होना चाहिये, उस क्षण वह चौथी भूमिका पर अपने को स्थित करता है।

२. सद्गुरु के किये गये चमत्कार बहुत बड़े पैमाने पर होते हैं किन्तु वे अखिल विश्व में व्याप्त नहीं होते। उद्धारकर्ता के चमत्कारों के समान, वे केवल दूसरों की आध्यात्मिक जागृति के लिये ही किये जाते हैं। उद्धारकर्त्ता के समान भी, सद्गुरु जो चमत्कार करना चाहता है वह उस क्षण के लिये अपने को छठवीं, पाँचवीं अथवा चौथी भूमिका में स्थिर रखता है; और एक बहुत शक्तिशाली चमत्कार करने के लिये, वह उस क्षण अपनेआपको चौथी भूमिका में स्थिर करता है। सातवीं भूमिका के मजजूब-ए-कामिल कभी चमत्कार नहीं करते। इसका केवल यह कारण है कि तीनों लोक—मानस, सूक्ष्म और स्थूल लोक—ऐसी आत्मा के लिये अस्तित्व में नहीं होते।

३. पीर अथवा वली के चमत्कार सीमित पैमाने पर होते हैं। वास्तव में वे प्रत्यक्षरूप से कोई चमत्कार नहीं करते। फिर भी, ऐसे चमत्कार जो उनके किये हुये माने जा सकते हैं, दूसरों के विचारों और भावनाओं के ऊपर उनके मानसिक प्रभाव द्वारा किये कहे जाते हैं, जो आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के हित प्रदान करते हैं। वे नीचे उतरकर चौथी भूमिका पर नहीं आते—जो भूमिका सर्वशक्तिमान आध्यात्मिक शक्तियों की भूमिका है।

४. पहली, दूसरी और तीसरी भूमिकाओं के पथिक खुद अपनी भूमिका से शक्तियों का प्रयोग अथवा प्रदर्शन कर सकते हैं, जैसे दूसरों के मन का अध्ययन करना, शून्य से चीजें उत्पन्न करना, पुस्तक को देखे बग़ैर शब्दों अथवा वाक्य खण्डों का पढ़ना, रेलगाड़ियों को रोकना, घण्टों तक लगातार अपने को ज़िन्दा दफ़नाये रहना, हवा में तैरना, इत्यादि। ये वास्तविक शक्तियाँ हैं जो पथिक को विभिन्न भूमिकाओं पर प्राप्त होती हैं, और इस रूप में वे केवल जादूगरी नहीं कही जा सकतीं। पूर्ण पुरुष और अवतार, निचली भूमिकाओं से, अर्थात् पहली, दूसरी और तीसरी भूमिका से, शक्तियों का प्रयोग करने के लिये साधक की क्षमता का हरण कर सकते हैं, और वे चौथी भूमिका के साधक की सर्वशक्तिमान् शक्तियों को भी छीन सकते हैं। निचली भूमिकाओं पर स्थित व्यक्तियों की

शक्तियों का इस प्रकार छीनना सूफी मत में सल्ब-ए-विलायत कहा जाता है।

चौथी भूमिका पर सर्वशक्तिमान् शक्तियों‡ का भण्डार भरा रहता है जिसका, तीर्थयात्री द्वारा दुरुपयोग किये जाने के फलस्वरूप, उसका पूर्ण विनाश हो जाता है। किन्तु ऐसे चमत्कारों का दुनियाँ के ऊपर उल्टा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि कुतुब-ए-इरशाद—अर्थात्, तत्कालीन आध्यात्मिक देवदूत मण्डल का अध्यक्ष—इन क्रियाओं को निष्फल करने की चौकसी रखता है।

मेहेरबाबा ने आगे समझाया है कि पहली तीन भूमिकाओं के यात्री की शक्तियों का विवेकरहित प्रदर्शन करना गम्भीर खतरों से भरा होता है, लेकिन वह व्यक्ति जो चौथी भूमिका की शक्तियों का दुरुपयोग करता है वह अनिवार्यरूप से विकास के सबसे निचले पहलू में, अर्थात् पत्थर अवस्था में, जा गिरता है।

कबीर ने इन खतरों को निम्नलिखित शब्दों में प्रगट किया है:

साहिब का घर दूर है जैसे लम्ब खजूर
चढ़े सो चाखे प्रेम रस गिरे सो चकनाचूर।

"प्रभु का निवास, सबसे ऊँचे खजूर के शिखर के समान, ऊँचा है। यदि वह इसके ऊपर चढ़ता है, तो वह प्रेम का अमृत चखता है; और यदि वह गिरता है तो उसकी गर्दन टूट जाती है।"

चमत्कारों का चैतन्य और अचैतन्यरूप से घटित होना

उद्धारकों और सद्गुरुओं द्वारा किये गये चमत्कारों के पीछे एक ईश्वरीय उद्देश्य होता है और वह या तो स्वेच्छिक अथवा अस्वेच्छिक हो सकता है। उद्धारक अथवा सद्गुरु के किये गये स्वेच्छिक चमत्कार वे हैं जो वह जानबूझ कर अपनी मर्ज़ी के प्रकाशन और शक्ति के द्वारा करता है, और अस्वेच्छिक चमत्कार वे हैं जो उद्धारक अथवा सद्गुरु की मर्ज़ी से स्वतन्त्र होते हैं और वे निरन्तर क्रियाशील शक्ति से, जो इन महान प्राणियों को घेरे रहती है, क्रियान्वित होते हैं। बाद वाले प्रकार

‡ चौथी भूमिका पर स्थित साधक महायोगी कहलाता है।

के चमत्कारों में उद्धारक अथवा सद्‌गुरु को चमत्कार की घटनाओं का भान नहीं रहता जिसका वह खुद मूल स्रोत और मुख्य कारण होता है। इन पूर्ण पुरुषों के स्वेच्छिक और अस्वेच्छिक दोनों चमत्कार फिर भी सदैव दुनियाँ की आध्यात्मिक जागृति की ओर सदा निर्देशित किये जाते हैं।

उद्धारक और पूर्ण-पुरुष चमत्कार क्यों करते हैं ?

बहुत से दुनियाबी पुरुष आध्यात्मिक रूप से विषम होते हैं, और उनको कभी-कभी खुद अपनेआप को बचाने के लिये अथवा अन्य बिल्कुल भोले पुरुषों को इस जड़ता के फल से बचाने के लिये, चमत्कारों की आवश्यकता होती है। निम्नलिखित समानता प्रदर्शित करती है कि इसका क्या अर्थ है।

हम कल्पना करें कि एक बच्चा एक गौरय्या चिड़िया को अपने हाथ में इतनी लापरवाही से लिये है कि वह उसका गला घोंटने ही वाला है। चिड़िया के जीवन की रक्षा करने के लिये बच्चे के हाथ से चिड़िया को छीनने का प्रयत्न करना अनुचित होगा, क्योंकि शायद बच्चा गौरय्या को जकड़े हुये अपने फन्दे को और भी कड़ा कर देवे और इस प्रकार उसको मार डाले। किन्तु यदि उस बच्चे को एक सिक्का देने के लिये कह दिया जाय, तो वह निश्चितरूप से गौरय्या को पकड़े हुये अपने फन्दे को ढीला करके उसे मुक्त कर देगा। इस प्रकार वह बच्चा अपनी करनी के निपट अज्ञान से चिड़िया का वध करने से रुक जाता है। सद्‌गुरु के चमत्कार इसी प्रकार की चीज करते हैं; वे लोगों को, आध्यात्मिक मूल्यों के निपट अज्ञान से, अपने खुद को और दूसरे लोगों को हानि पहुँचाने से रोक लेते हैं।

यदि चमत्कारों का प्रतिनिधित्व स्वर्ण से किया जाता है, तो एक निचली भूमिकाओं का योगी दुनियाबी लोगों को उनकी आँखों के सामने इस स्वर्ण को हिलाकर चकित करता है जिससे वे उस योगी की शक्तियों से आश्चर्यचकित हो जाते हैं। यदि वे अपना आत्मसमर्पण ऐसे योगी के प्रति करते हैं तो वे अन्ततः क्रूर भ्रमजाल का त्रास भोगेंगे। लेकिन जब उद्धारक अथवा पूर्ण-पुरुष दुनियाबी लोगों की आँखों के सामने इस स्वर्ण को हिलाता है तो वह माया के एक रूप का प्रयोग उनको माया के दूसरे और भी अधिक बन्धन में डालने वाले रूपों से

अलग घसीट लेने में करता, और इस प्रकार उनको पथ की ओर खींचता है जो उनको उनके सच्चे प्रारब्ध, आत्म-साक्षात्कार, की ओर ले जाता है।

आइये हम दूसरा दृष्टान्त लेवें और एक रंगीन दृष्टि वाले आदमी की कल्पना करें जिसको दुनियाँ उदाहरण के रूप में नीली दिखायी पड़ती है। इस प्रकार उसकी आँखें नीले चश्मा की तरह कार्य करती हैं जिससे उनके द्वारा देखने पर उसे प्रत्येक चीज नीली दिखाई पड़ती है। आध्यात्मिक अर्थ में दुनियाँ माया है अतः उसमें बिल्कुल कोई रङ्ग नहीं है। वह रङ्ग-विहीन है। अपनी चमत्कारी शक्तियों का प्रदर्शन करता हुआ योगी केवल इस आदमी के 'नीले चश्मों' को हटाकर उसकी जगह हरे अथवा लाल चश्मे लगा देता है, जिससे उस व्यक्ति को हर चीज हरी अथवा लाल दिखाई पड़ती है। उसकी अज्ञानता से भरी आँखों में, जो दुनियाँ को नीला देखने की आदी हो गई हैं, उनका हरे अथवा लाल रङ्ग में यह अचानक परिवर्तन हो जाना, आश्चर्य-जनक होता है, और योगीके ऊपर महान प्रत्यक्ष श्रेय प्रतिबिम्बित करता है।

सद्गुरु, यह जानते हुये कि न तो नीला, न लाल, न हरा सच्चा रंग है, किन्तु वह यह जानता है कि सबकुछ रंगविहीन (शून्य) है, अतः वह "चश्मे के शीशों" को बदलने में और उसके द्वारा मनुष्य को दुनियाँ का वास्तविक रूप (रङ्ग-रहित, अथवा शून्य) देखने के योग्य बनाने में समय नहीं खोता। वे योगी और वे निचले गुरु जो पूर्ण नहीं हैं, केवल एक माया के स्थान में दूसरी माया खड़ी कर देते हैं। किन्तु एक सद्गुरु समस्त माया के पर्दे को सदैव के लिये फाड़ फेंकता है और इस सत्य को प्रकट करता है कि सृष्टि काल्पनिक है और एकमेव ईश्वर सत्य है। सद्गुरु की यह क्रिया एक धीमी और कष्टदायी प्रक्रिया है जिसमें योगी के व्यापक और ग़लत रास्ते पर ले जाने वाली रीति एवम् रङ्ग-विहीनता का अभाव होता है, और इसी कारण से सद्गुरुओं की क्रिया अगाध होती है।

किस व्यक्ति में ऐसी शक्तियाँ होती हैं जिनके द्वारा चमत्कार किये जाते हैं ?

सद्गुरु की चमत्कारी शक्तियाँ वैसी दिखाई पड़ती हैं जैसी चौथी भूमिका के योगी की शक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, किन्तु इसमें यह महत्वपूर्ण

अन्तर है कि सद्‌गुरु की शक्तियाँ खुद उसकी होती हैं, क्योंकि वह खुद मूर्तमान शक्ति है। उसको केवल किसी चीज की मर्जी करनी पड़ती है और वह पूरी हो जाती है। "हो जाओ और वह हो गया" (कुन फ़या कुन) कथन सूफ़ियों के अनुसार शक्ति की ईश्वरीय अभिव्यक्ति का उल्लेख करता है।

जो भी हो, योगी की शक्तियाँ उसकी निजी शक्तियाँ नहीं होतीं और उनको चमत्कार करने के लिये बाहरी स्रोतों पर निर्भर होना पड़ता है। सद्‌गुरु की सहज शक्तियाँ निरन्तर उमड़ती रहती हैं, और योगी तथा निचली भूमिकाओं के पथिक इन उमड़ती हुई शक्तियों को उधार लेते हैं और उनके द्वारा चमत्कार करते हैं। यह सूफ़ी मत के बिल्कुल अनुरूप है कि वली नबी मुहम्मद के साक्षी हैं, और उनके सब चमत्कार, शहद के छत्ते से टपकती हुई बूँदों के समान, उससे प्राप्त होते हैं। धर्मान्ध मुसलमानों के मत से, इस विश्वास का विस्तार सीमित होता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल नबी मुहम्मद के व्यक्तित्व से जोड़ा जाता है। उसकी व्यापक सम्बद्धता का सुझाव तुरन्त सूफ़ी मत से किया जाता है कि अनादि काल से केवल एक रसूल रहा है जो समय-समय पर विभिन्न देशों में विभिन्न नाम धारण करके पैदा होता है।

इस तथ्य को और आगे स्पष्ट करते हुये मेहेरबाबा ने समझाया है, "फना-फ़िल्लाह (मजजूब अवस्था) में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई चमत्कार नहीं होते। दैवी सन्धि (तुर्यावस्था अथवा मुकाम-ए-फुरूतत) में जीवन-मुक्त (आजाद-ए-मुतलक़) को कोई ड्यूटी नहीं होती और वह कोई चमत्कार नहीं करता। लेकिन जीवन-मुक्त द्वारा (उसे इसका भान हुये बग़ैर) चमत्कार होने की सदैव सम्भावना होती है। निचली भूमिकाओं के एजेन्ट अथवा तीर्थयात्री बहुधा उसकी शक्तियों को उधार ले लेते हैं और उन शक्तियों द्वारा चमत्कार करते हैं, लेकिन जीवन-मुक्त की शक्तियाँ ऐसा होने से किसी भी प्रकार से कम नहीं होतीं।"

रक्षक (रसूल अथवा अवतार) के और पूर्ण-पुरुषों (सद्‌गुरुओं) के चमत्कार

जब परमात्मा मनुष्य बन जाता है, तब वह रक्षक (रसूल अथवा अवतार) हो जाता है और जब मनुष्य परमात्मा बन जाता है, तो वह एक मजज़ूब बन जाता है, और, यदि उसको मानवता के प्रति ड्यूटी

करने का कर्तव्य होता है, तो वह दूसरी और तीसरी ईश्वरीय यात्राओं को पार करता है और पूर्ण-पुरुष (सद्‌गुरु) बन जाता है। रक्षक और पूर्ण-पुरुष दोनों अध्यात्म में पूर्ण होते हैं, क्योंकि दोनों का ऐक्य परमात्मा से होता है, और दोनों को मानवता के प्रति एक ड्यूटी मिलती है, लेकिन रक्षक की ड्यूटी एक विशेष प्रकार की होती है।

सूफ़ी लोग कहते हैं कि ईश्वर के साथ "सम्बन्ध" [कुरबत] रक्षक में और पूर्ण-पुरुष में भिन्न होता है, और वे उनको क्रमशः कुरबे-फ़राइज़ (अनैच्छिक आवश्यक निकटता) और कुरबे-नवाफिल (स्वेच्छिक निकटता) कहते हैं। इस प्रकार कुरबे-फ़राइज़ रक्षकों से सम्बन्ध रखता है और कुरबे-नवाफिल पूर्ण-पुरुषों से सम्बन्ध रखता है।

सूफ़ी लोग समझाते हैं कि रसूल (अवतार) चमत्कार करने की क्रिया में, अभिनेता होता है और मनुष्य पात्र होता है; जबकि सद्‌गुरु में इसका उल्टा होता है—अर्थात्, मनुष्य अभिनेता होता है और परमात्मा पात्र होता है। मुहम्मद नबी के द्वारा की गई प्रसिद्ध घटना, जो उन्होंने बद्र की लड़ाई में दुश्मन के ऊपर एक मुट्ठी धूल फेंककर और उसके द्वारा उसको मार भगाकर की थी, रक्षक का चमत्कार करने का एक उदाहरण है। यद्यपि सब प्रकार से मनुष्यरूप मुहम्मद ही थे जिन्होंने धूल फेंकी थी, वास्तव में मुहम्मद के रूप में ईश्वर था जिसने धूल फेंकी थी, और मनुष्यरूप में मुहम्मद थे जिन्होंने दुश्मन को मार भगाया था। इसलिये ऐसा चमत्कार जैसा यह है कुरबे-फ़राइज़ का एक उदाहरण है।

जो भी हो, सद्‌गुरुओं द्वारा किये गये चमत्कार कुरबे-नवाफिल के उदाहरण हैं जिसका शम्स-ए-तबरिज़ का चमत्कार—जो उन्होंने मुर्दा को जिन्दा कर देने में किया था—एक अच्छा उदाहरण है। जब शम्स ने "कुम बे इज़निल्लाह" (ईश्वर के नाम पर खड़े हो जाओ) शब्दों का उच्चारण किया तो राजकुमार जिन्दा न हुआ; लेकिन जब उसने "कुम बी इज़नी" (मेरे नाम से उठ खड़े होओ) कहा तो राजकुमार फ़ौरन जिन्दा हो गया। यहाँ शम्स-ए-तबरिज़ ने मनुष्यरूप में आज्ञा दी थी, और शम्स-ए-तबरिज़ के रूप में परमात्मा ने खुद के गुण के रूप से अपनेआपको ढक लिया— इस उदाहरण में जीवन के गुण से ढक लिया—और इसलिये राजकुमार को पुनः जीवित कर दिया। इन कुरबे नवाफ़िल में मनुष्य अभिनेता होता है और परमात्मा साधन है।

आइये, हम एक क्षण के लिये चमत्कारों की दिशा में पूर्व और पश्चिम की प्रवृत्ति के अन्तर पर विचार विनिमय करें। पूर्वी जगत ने जिसमें सद्गुरुओं और उन्नत आत्माओं से सुपरिचय होने का एक लम्बा लेखा है, स्वीकार कर लिया है कि परमात्मा सीमित मन के द्वारा नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वह अनन्त है। पूर्वी जगत को ज्ञान है कि मनुष्य की बुद्धि, जिसका विस्तार सीमित है, आध्यात्मिक समस्याओं को केवल खास स्थिति तक पहुँचाने में प्रयुक्त होती है। दार्शनिक डाक्टर इक़बाल ने गाया है,

अक्ल गो आस्तां से दूर नहीं
उसकी तक़दीर में हुज़ूर नहीं।

"विवेक को, यद्यपि वह (प्रियतम की) देहली से दूर नहीं होता, ईश्वरीय उपस्थिति का आनन्द लेने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।"

इस प्रकार पूर्वी जगत को ज्ञान है कि उस बिन्दु पर, जहाँ विवेक अपने प्रयास उस चीज़ को पकड़ने में बन्द कर देता है जो अतिश्रेष्ठ है, प्रेम की कड़ी अवश्य जुड़ जानी चाहिये। पश्चिमी जगत बौद्धिक प्रयास के द्वारा भारी खज़ाना सञ्चित करता है, और वह जो बुद्धि की परिधि के अन्दर आने से इनकार करता है, वह या तो इनकार किया जा सकता है अथवा तिरस्कृत किया जा सकता है। इस पाश्चात्य प्रवृत्ति की उप-उपज के रूप में हम प्रचलित अमरीकी मुहावरे में "रहस्यवादी" शब्द के निपट दुरुपयोग का प्रमाण दे सकते हैं। मेडीवल योरोप के जोशीले धार्मिक उत्साह का स्थान प्रायः संस्कृति और विज्ञान के लिये महान उत्साह ने ले लिया है।

तथापि, विज्ञान के मत कुछ हद तक तरल होते हैं, और सच्चा वैज्ञानिक तथ्योंको सामने देखता है, लेकिन मेहेरबाबा ने बहुधा घोषित किया है कि विज्ञान अपनी महान प्रगति करने पर भी भौतिक चीज़ों के अञ्चल से अब भी बहुत दूर है, और आध्यात्मिक चीज़ों के सबसे बाहरी किनारे से और भी अधिक दूर है। हृदय को मन से सहयोग करना ज़रूरी है।

ऐसा हो सकता है कि योगियों की कुछ विशुद्धरूप से भौतिक करामातें, जिन्हें तमाम लोग चमत्कार मानते हैं, भैषज विज्ञान के द्वारा समझाई जा सकती हैं। लेकिन असली चमत्कार, खास कर सद्गुरु के

चमत्कार, वैज्ञानिक स्पष्टीकरण को स्थान नहीं देते। रक्षकों, सद्‌गुरुओं और सन्तों के किये हुये अनेक चमत्कार आध्यात्मिक गाथाओं में और सब लोगों तथा सब धर्मों की श्रेणियों में अङ्कित हैं, और निरन्तर कार्य करता हुआ आध्यात्मिक देवदूत-मण्डल रोज इन चमत्कारों में बढ़ती कर रहा है। इसके तथ्य यहाँ दिये हैं; ईसामसीह तथा अन्य पूर्ण-पुरुषों ने मुर्दों को ज़िन्दा किया है, और रोगियों को चङ्गा किया है। लेकिन यदि कोई खुद अपनी आँखों के सामने चमत्कार होता हुआ देखता है, और यदि उसे विश्वास होता है कि वह एक चमत्कार था और चालबाजी न थी, तो कोई कभी भी उसकी तार्किक व्याख्या करने में सफल नहीं हो सकता, क्योंकि चमत्कार पूर्णतया बौद्धिक व्याख्या के परे हैं। वे एक रहस्य हैं जो इतने गहरे और गम्भीर होते हैं जैसे जीवन खुद होता है।

तथापि, कदाचित् त्रुटि पूर्णतया अकारण नहीं होती, क्योंकि आम दुनियाँ को सद्‌गुरुओं की क्रियाओं में बिरले ही अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, और वास्तव में, इन क्रियाओं में से अधिकान्श क्रियायें कुछ अन्तरङ्ग साथियों के वक्षस्थलों के सुरक्षित भण्डार में भरी रहती हैं, और कौतुक से सुरक्षापूर्वक छिपी रहती हैं। प्रसिद्ध सूफ़ी अब्दुल हसन खरक़ानी ने कहा है, "यदि उसकी कुछ बूंदें जो सद्‌गुरु के अन्तर में छिपी हैं, उसके होठों के बीच आ जायें, तो आकाश और पृथ्वी के सब प्राणी आतङ्क में डूब जायेंगे।"

चमत्कारों की व्यापक अपील और आध्यात्मिक गुरुओं के दावों के बावजूद, पूर्व भी पश्चिम के समान, उनके प्रति अपनी प्रवृत्ति में बहुत सावधान है। कुछ भी हो, इसकी प्रशन्सा में ऐसा कहा जा सकता है कि पूर्व ने लम्बे अनुभव के द्वारा सीखा है कि आध्यात्मिक शासक मण्डल के कार्यों की अवहेलना न की जाय, चाहे वह उनको स्वीकार करने अथवा उनमें विश्वास करने में अपना रास्ता न देख सकता हो। एक बहुत प्राचीन सूफ़ी ने घोषित किया है, "चमत्कार परमात्मा के मार्ग पर हज़ारों क्रमों में से केवल एक है"; और इस कालचक्र का अवतार, मेहेरबाबा, पुष्टि करता है कि सबसे महान चमत्कार जो सद्‌गुरु कर सकता है वह यह है कि वह एक अन्य पुरुष को अपने समान अध्यात्म में पूर्ण बना सकता है।

१२. शक्तियों के प्रकार (७८)

अध्यात्मता *(spirituality)* और आध्यात्मिकता *(spiritualism)* दो विभिन्न चीजें हैं। अध्यात्मता का कोई वास्ता किसी भी रूप में किसी भी शक्ति से नहीं होता। अध्यात्मता ईश्वर के प्रति प्रेम का तथा सद्‌गुरु के प्रति आज्ञाकारिता एवम् आत्मसमर्पण का पथ है।

जब साधक पथ पर चलता है, तो उसको चेतना की भूमिकाओं पर शक्तियाँ मिलती हैं। जो साधक पहली से चौथी भूमिका तक स्थित होते हैं वे कभी-कभी इन शक्तियों का प्रदर्शन करने के लिये प्रलोभित होते हैं।

तीन प्रकार की शक्तियां हैं :

(१) चौथी भूमिका की ईश्वरीय शक्तियाँ।

(२) चेतना की प्रथम तीन भूमिकाओं की गूढ़ शक्तियाँ। ये गूढ़ शक्तियाँ कहलाती हैं।

(३) अन्य गूढ़ शक्तियाँ।

(१) चौथी भूमिका की दिव्य शक्तियाँ परमात्मा की सर्वशक्तिमान शक्तियां हैं। वे सब शक्तियों की स्रोत हैं, चाहे वे रहस्यमयी अथवा अन्य गूढ़ शक्तियाँ हों।

रहस्यमयी और अन्य गूढ़ शक्तियां दिव्य शक्तियों की तुलना में अनन्तरूप से महत्वहीन होती हैं।

दिव्य शक्तियां सदैव वही बनी रहती हैं क्योंकि परमात्मा सदैव एक और वही है। गूढ़ शक्तियाँ, चाहे वे भूमिकाओं की हों या न हों, भिन्न प्रकार की होती हैं और अभिव्यक्ति में विविध होती हैं।

अवतार और कुतुब दिव्य शक्तियों की अभिव्यक्ति के द्वारा जो चमत्कार करते हैं वे मोजेजत कहलाते हैं। ये चमत्कार सबके हित के लिये किये जाते हैं—और कुतुब द्वारा सीमित पैमाने पर तथा अवतार द्वारा विश्वव्यापी पैमाने पर किये जाते हैं। तथापि, वे किसी भी व्यक्ति के लिये किये जा सकते हैं जो अवतार अथवा कुतुब के घनिष्ठ सम्पर्क में होता है।

जो चमत्कार पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं पर स्थित व्यक्तियों के द्वारा दैवी शक्तियों की सहायता से परोक्षरूप से किये जाते हैं वे करामात कहलाते हैं।

पहली भूमिका से लेकर तीसरी भूमिका पर्यन्त स्थित व्यक्तियों के द्वारा रहस्यमयी शक्तियों का प्रदर्शन वास्तव में चमत्कार नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रदर्शन केवल शक्तियों का एक दिखावा होता है जो उनको भूमिकाओं को पार करने के समय मिलती हैं; शक्तियों का ऐसा प्रदर्शन शोबादा *(Shobada)* कहलाता है।

जब चौथी भूमिका पर स्थित व्यक्ति दैवी शक्तियों का सदुपयोग करता है और चमत्कार करता है, तो उस चमत्कार को करामात-ए-मोजेज़ा कहा जा सकता है; जब वह उनका दुरुपयोग करता है, अर्थात् चौथी भूमिका की दिव्य शक्तियों का दुरुपयोग करता है, तो उसको मोजेज़ा-ए-शोबादा कहा जाता है।

चौथी भूमिका मनो लोक की "देहली" मानी जाती है, इसलिये चौथी भूमिका पर दिव्य शक्तियों का दुरुपयोग करने के फलस्वरूप मनुष्य का "अधःपतन" होकर पीछे पाषाण-स्थिति तक हो जाता है और उसके फलस्वरूप चेतना खण्ड-खण्ड हो जाती है।

(२) पहली तीन भूमिकाओं की गूढ़ शक्तियाँ, जो रहस्यमयी शक्तियाँ कहलाती हैं, इन भूमिकाओं पर स्थित जिज्ञासु द्वारा दुरुपयोग में नहीं लायी जा सकतीं, यद्यपि कभी-कभी जिज्ञासु उनका प्रदर्शन करने के लिये प्रलोभित होते हैं। ये रहस्यमयी शक्तियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं और प्रकाशन में नाना प्रकार की होती हैं, जैसे : दूसरों के मनो का अध्ययन करना; किताब को देखे बग़ैर उसके शब्दों अथवा वाक्यों का उच्चारण करना; घण्टों तक अपने को ज़िन्दा दफ़नाये रखना, इत्यादि।

भूमिकाओं की शक्तियाँ उभाड़ी नहीं जातीं। ये शक्तियाँ भूमिकाओं पर स्थित जिज्ञासुओं को सदैव, उनके खुद सीमित वातावरण के भीतर उपलभ्य रहती हैं और इस रूप में उनको उनका प्रदर्शन करने के लिये केन्द्रीकृत प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। शक्तियों के इस प्रदर्शन को भ्रान्तिवश मन का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों के प्रदर्शन और अन्य लोगों के प्रदर्शन, जो वे मञ्च पर प्रदर्शित करते हैं, न समझना चाहिये।

चेतना की तीसरी भूमिका पर स्थित व्यक्ति उप-मानवी मृत प्राणियों को ज़िन्दा कर सकता है किन्तु वह मरे हुये मानव प्राणी को कभी ज़िन्दा नहीं कर सकता। ऐसा वह चौथी भूमिका की दैवी शक्तियों की निकटता एवम् "ऊष्णता" के कारण कर सकता है।

किन्तु चौथी भूमिका पर स्थित व्यक्ति चौथी भूमिका की दिव्य शक्तियों का प्रयोग करने के द्वारा मुर्दों को, मानव प्राणियों सहित, जिन्दा कर सकता है।

तीसरी भूमिका पर स्थित व्यक्ति इच्छानुसार अपने भौतिक शरीर को बदल सकता है, और ऐसा करने वाला व्यक्ति अबदल कहलाता है। यह कार्य रहस्यमयी शक्तियों का एक प्रदर्शन भी है, किन्तु शक्तियों का दुरुपयोग नहीं है। जो भी हो, इस क्रिया को भ्रान्तिवश तान्त्रिकों के द्वारा किया मनुष्यरूपों का अभौतिक-करण *(Dematerialization)* अथवा भौतिककरण न समझना चाहिये।

(३) अन्य गूढ़ शक्तियों का कोई वास्ता अध्यात्मता से अथवा भूमिकाओं की गूढ़ शक्तियों से नहीं है।

ये गूढ़ शक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं :

(अ) श्रेष्ठ गूढ़ शक्तियाँ।
(ब) हीन गूढ़ शक्तियाँ।

जिस व्यक्ति को ये गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त होती हैं वह उनका भला या बुरा प्रयोग कर सकता है। गूढ़ शक्तियों का अच्छा प्रयोग जिज्ञासु को पथ की भूमिकाओं पर खुद को रखने में सहायक होता है और वह व्यक्ति को महायोगी भी बना सकता है। इन गूढ़ शक्तियों का दुरुपयोग करने से उस व्यक्ति को अगले मनुष्यरूप में घोर त्रास भोगना पड़ता है। श्रेष्ठ गूढ़ शक्तियों का अच्छा प्रयोग व्यक्ति को चार पुनर्जन्मों के बाद चेतना की पाँचवीं भूमिका में पहुँचा देता है।

(अ) श्रेष्ठ प्रकार की गूढ़ शक्तियाँ तान्त्रिक अभ्यासों से प्राप्त होती हैं जैसे चिल्ला-नशीनी अथवा खास मन्त्रों का जप, इत्यादि।

जिस व्यक्ति को ये शक्तियाँ प्राप्त होती हैं वह तथा-कथित चमत्कार कर सकता है जैसे हवा में तैरना, उड़ना, उतराना, अभौतिक-करण और भौतिककरण, इत्यादि।

(ब) नीचे प्रकारों की गूढ़ शक्तियों के लिये कोई तान्त्रिक अथवा कोई विशेष अभ्यासों की आवश्यकता नहीं होती। वे पिछले जीवनों के संस्कारों के द्वारा प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिये : यदि किसी व्यक्ति ने भूतकाल में विशेष अच्छे कर्म अनेक बार किये हैं, तो उसको अगले जन्म में, कोई कठोर साधनाओं के किये बग़ैर, गूढ़ शक्तियों

की क्षमता प्राप्त हो सकती है। उसके संस्कार उसको नीची गूढ़ शक्तियों की क्षमता प्रदान करते हैं जैसे दूरदर्शिता, दूर से सुनने की क्षमता, चङ्गा करना, मिठाइयाँ अथवा रुपया-पैसा, दिखाव में शून्य से माँग देना, इत्यादि।

ऐसी समस्त क्षमतायें नीची अथवा हीन प्रकार की गूढ़ शक्तियों की अङ्ग होती हैं।

यदि कोई मनुष्य नीची प्रकार की गूढ़ शक्तियों का सदुपयोग करता है, तो उसको अपने अगले जीवन में, कोई भी तान्त्रिक अभ्यास किये बग़ैर, श्रेष्ठ प्रकार की गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार, जो मनुष्य अपनी वशीकरण विद्या की शक्ति का सदुपयोग करता है वह अपने अगले जीवन में श्रेष्ठ प्रकार की गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त करता है।

१३. ध्यान (७९)

मेहेरबाबा कृत "ईश्वरीय विषय" के अध्ययन पर आधारित प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिये एक योजना

ध्यान को बहुधा ऐसा ग़लत समझा गया है कि वह मन को किसी विचार अथवा विषय पर ठूँसने की एक यान्त्रिक प्रक्रिया है। इसलिये यह निपट स्वाभाविक है कि अधिकांश लोग मन को किसी खास दिशा में हठात् लगाने अथवा उसको एक खास चीज़ में गड़ा देने के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों में महान कठिनाई का अनुभव करते हैं। मन का किसी विशुद्ध यान्त्रिक रूप से हाथ में लेना न केवल दुःखदायी है किन्तु अन्ततोगत्वा उसका असफल होना निश्चित है।

इसलिये जिज्ञासु को जो प्रथम सिद्धान्त याद रखना चाहिये वह यह है कि मन को ध्यान में नियन्त्रित और निदेशित किया जा सकता है, और केवल उन नियमों के अनुसार ऐसा किया जा सकता है जो स्वयं मन के बनाव में सहजरूप से अन्तर्निहित होते हैं, और वह सादी इच्छाशक्ति की किन्हीं करामातों के प्रयोग करने के द्वारा नहीं किया जा सकता।

अनेक लोग जो "ध्यान" के सिद्धान्त के अनुसार ध्यान नहीं करते वे बहुधा गहरे और घने रूप से, कुछ व्यावहारिक समस्या अथवा सैद्धान्तिक

विषय के विषय में नियमपूर्वक और स्पष्ट चिन्तन में मग्न मिलते हैं। एक अर्थ में, उनकी मानसिक क्रिया बहुत कुछ ध्यान के समान होती है, इस सीमा तक कि मन किसी खास विषय के घनिष्ठ चिन्तन में तल्लीन रहता है और सभी असङ्गत चीजों से अलग रहता है। वह कारण जिससे ध्यान ऐसी मानसिक प्रक्रिया में बहुधा सरल और सहज एकाग्र होता है, यह है कि मन ऐसे विषय पर चित्त एकाग्र करता है जिसमें वह रुचि रखता है और जो वह बढ़ती हुई गति से समझता है। किन्तु विचारों की सामान्य शृङ्खला के विषय में आध्यात्मिक दुःखद बात यह है कि उनको उन चीज़ों की ओर नहीं मोड़ा जाता जिनका वास्तव में महत्व है। इसलिये ध्यान के विषय को सदैव सावधानी से चुनना चाहिये और उसको आध्यात्मिक रूप से महत्वपूर्ण होना चाहिये। ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये हमें न केवल मन को ईश्वरीय विषयों अथवा वास्तविकताओं के प्रति रुचि रखनेवाला बनाना चाहिये, बल्कि हमको समझने और उनका मर्म जानने का प्रयत्न भी शुरू करना चाहिये। बुद्धिपूर्ण ध्यान मन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो यान्त्रिक कठोरता और नियमितता से दूर रहती है। इसलिये वह न केवल सहज और स्फूर्तिदायक बन जाती है, वरन् वह सरल और सफल हो जाती है।

चूँकि बुद्धिपूर्ण ध्यान किसी खास विषय पर चिन्तन करने में होता है, इसलिये इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्यान करने की सबसे अच्छी रीति यह होगी कि हम एक उपयुक्त विषय का एक संक्षिप्त और स्पष्ट उधार करें। इस प्रयोजन के लिये, अपने चार्टों समेत ईश्वरीय विषय की अपेक्षा और कोई चीज़ बेहतर नहीं हो सकती, जो निम्नलिखित भाग में दी गई है।

मेहेरबाबा ने ध्यान की जिस प्रक्रिया की सलाह दी है, उसके तीन क्रम हैं :

१. पहले क्रम में जिज्ञासु रोज़ ईश्वरीय विषय का अध्ययन करेगा, और साथ-साथ चार्ट भी पढ़ेगा, और वह उसके विषय में पूर्णरूप से चिन्तन करेगा जैसा वह करता हैं।
२. दूसरे क्रम में जब जिज्ञासु के हृदय में पूरा विश्वास आ जायगा, तो वास्तविक अध्ययन अनावश्यक हो जाता है, किन्तु उधार करने के विषय का पुनः मानसिक निरीक्षण चार्टों की सहायता से आवश्यकतानुसार किया जायगा।

३. तीसरे क्रम में, जिसका विकास स्वाभाविकरूप से दूसरे क्रम से होगा, मन के लिये, उधार के दौरान में, अलग और लगातार अथवा तथ्यों का उल्लेख करने का भी, शब्दों अथवा विचारों का पुनः निरीक्षण करना बिल्कुल अनावश्यक होगा, और विषय सम्बन्धी सब वाद-विवाद पूर्ण चिन्तन समाप्त हो जायगा। ध्यान के इस क्रम में मन विचार की किन्हीं शृङ्खलाओं में आगे तल्लीन न होगा, किन्तु उसको श्रेष्ठ सत्यताओं की, जो उधार में प्रकट होंगीं, स्पष्ट समझ प्राप्त होगी।

१४. ईश्वरीय विषय (७६)

मेहेरबाबा कृत

विकास, पुनर्जन्म एवं साक्षात्कार तक पहुँचाने वाला मार्ग

(चार्टों की भूमिका)

आत्मा विकास, पुनर्जन्म और साक्षात्कार प्राप्त करने की प्रक्रिया से गुज़र जाने के बाद पूर्ण† हो जाती है। पूर्ण चेतना प्राप्त करने के लिये, वह विकास की प्रक्रिया में बढ़ते हुये संस्कार प्राप्त करती है, जब तक मानव योनि में उसको पूर्ण चेतना प्राप्त नहीं हो जाती और साथ-साथ सब स्थूल संस्कार प्राप्त नहीं हो जाते।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया में, यह आत्मा अपनी पूर्ण चेतना बनाये रखती है और खुद अपने अन्तर में विविध संस्कारों की अदला-बदली करती है (अर्थात् बारी-बारी से अनुभव करती है); और साक्षात्कार की प्रक्रिया में यह आत्मा अपनी पूर्ण चेतना बनाये रखती है, लेकिन उसके संस्कार क्षीण और क्षीण होते जाते हैं जब तक वे सब लुप्त नहीं हो जाते हैं और केवल चेतना बनी रहती है। क्षीण होते समय, स्थूल संस्कार सूक्ष्म संस्कार हो जाते हैं, सूक्ष्म संस्कार मनो संस्कार बन जाते हैं, और अन्ततः इन सबका लोप हो जाता है।

मानव योनि तक, संस्कारों के उलझने की प्रक्रिया विकास की प्रक्रिया में मज़बूत और मज़बूत होती चली जाती है। मनुष्य योनि में, पुनर्जन्म की प्रक्रिया में, खुलाव अपनी पूर्ण शक्ति बनाये रखता है; किन्तु

† देखिये चार्ट IX। "ए" (A) आत्मा "जेड" (Z) आत्मा बन जाती है।

साक्षात्कार की प्रक्रिया में, संस्कार क्रमशः अपनेआपको खोलते हैं, जब तक ईश अवस्था में वे पूर्णरूप से नहीं खुल जाते।

एकमेव ईश्वर, अर्थात् परमात्मा, यथार्थ है। ईश्वर के अलावा और किसी चीज का अस्तित्व नहीं है। विभिन्न आत्मायें परमात्मा के अन्तर्गत हैं और उसके साथ एक हैं। विकास, पुनर्जन्म और साक्षात्कार की प्रक्रियायें सब, आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये आत्मा को योग्य बनाने में, आवश्यक हैं। बन्धन खुलने की प्रक्रिया में, संस्कार चेतना के विकास के लिये साधन बन जाते हैं यद्यपि वे भी संस्कारी बन्धन प्रदान करते हैं; और संस्कारों के खुलने की प्रक्रिया में, संस्कारी आसक्तियों का नाश हो जाता है, यद्यपि वह चेतना जो प्राप्त हुई है पूर्णतया बनी रहती है।

संस्कारों के उलझने की प्रक्रिया में आत्मा नीचे उतरने की सात स्थितियों से गुज़रती है; और सुलझने की प्रक्रिया में, आत्मा ऊपर चढ़ने की सात स्थितियों से गुजरती है। किन्तु उतार और चढ़ाव के दोनों प्रपञ्च मायावी होते हैं। आत्मा सर्वत्र है और अखण्डरूप से अनन्त है; और वह हरकत नहीं करती और न उतरती या चढ़ती है।

समस्त राष्ट्रीयताओं, जातियों और धर्मों के सब मनुष्यों और स्त्रियों की आत्मायें, वास्तव में एक हैं; और उनके भले और बुरे, लड़ने और सहायता करने, युद्ध छेड़ने और शान्ति से रहने के अनुभव सभी माया और भ्रम के अङ्ग हैं, क्योंकि ये सब अनुभव शरीरों और मनों के द्वारा प्राप्त हैं, जो खुद शून्य हैं।

योनियों और द्वैत के जगत के अस्तित्व में आने के पहले, ईश्वर के अलावा और कुछ न था, अर्थात् शक्ति, ज्ञान और परमानन्द का एक अखण्ड और असीम महासागर था। किन्तु इस महासागर को खुद अपनी चेतना न थी। इस महासागर की तुम खुद कल्पना करो जैसे वह बिल्कुल निश्चल और शान्त हो, उसे अपनी शक्ति, ज्ञान और आनन्द की चेतना न हो और न यह चेतना हो कि वह महासागर है। लाखों-करोड़ों बूंदें जो महासागर में हैं उनको कोई चेतना नहीं होती; उनको यह ज्ञान नहीं होता कि वे बूंदें हैं और न यह ज्ञान होता है कि वे महासागर में हैं, और न यह ज्ञान होता है कि वे महासागर का एक अङ्ग हैं। ये सत्यता की मूल अवस्था प्रदर्शित करती हैं।

सत्य की यह मूल अवस्था खुद को जानने की एक प्रेरणा से अशान्त हो जाती है। यह प्रेरणा महासागर में सदैव प्रसुप्त थी; और

जब वह खुद अपनेआपको प्रकट करना शुरू करती है तो यह बूंदों को व्यक्तित्व प्रदान करती है। जब यह लहर शान्त महासागर के पानी में हलचल पैदा करती है, तो तुरन्त बूंदों के चारों ओर अनन्त बुलबुले अथवा योनियां पैदा हो जाती हैं; और बुलबुले ही बूंदों को व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। बुलबुले अखण्ड महासागर को वास्तव में खण्डित नहीं करते और न कर सकते हैं; वे बूंद को महासागर से अलग नहीं कर सकते; वे इन बूंदों को पृथक्ता अथवा सीमित व्यक्तित्व की भावनामात्र प्रदान करते हैं।

अब, आइये हम एक बूंद-आत्मा के जीवन का अध्ययन उसके विभिन्न क्रमों के द्वारा करें। बुलबुले के उठने के कारण, बूंद-आत्मा जो बिल्कुल अचैतन्य थी वह व्यक्तित्व से (अथवा पृथक्ता की भावना से) सम्पन्न होती है और साथ-साथ बहुत हलकी चेतना से सम्पन्न होती है। यह चेतना, जो बूंद-आत्मा में उठी है, खुद की नहीं है और न महासागर की है; बल्कि वह बुलबुला अथवा योनि की चेतना है, जो अपनेआप में शून्य है। इस स्थिति पर यह अपूर्ण बुलबुला एक पाषाण योनि से प्रदर्शित होता है। कुछ समय बाद, इस बुलबुला अथवा योनि का विस्फोट हो जाता है और उसकी जगह दूसरा बुलबुला अथवा योनि आ जाती है। अब, जब एक बुलबुले का विस्फोट होता है, तो दो चीज़ें घटित होती हैं: [१] चेतना में बढ़ती होती है और [२] संस्कारों की एक मरोड़ होती है जो संस्कार पिछले बुलबुले के जीवन के दौरान में सञ्चित हो गये थे। अब बूंद-आत्मा की चेतना कुछ बढ़ गई है; लेकिन बूंद-आत्मा को अब भी केवल इस नये बुलबुले अथवा योनि की चेतना होती है और खुद अपनी चेतना नहीं होती और न महासागर की चेतना होती है। यह नया बुलबुला धातु योनि के द्वारा प्रदर्शित होता है। इस नये बुलबुले अथवा योनि का भी विस्फोट कालान्तर में हो जाता है; और उसके साथ-साथ चेतना में और भी बढ़ती होती है तथा संस्कारों के एकीकरण में एक नई मरोड़ होती है, जो नये प्रकार के बुलबुले अथवा रूप के उद्भव को जन्म देती है।

यह प्रक्रिया विकास की प्रक्रिया के आद्योपान्त चालू रहती है; जिसमें पत्थरों, धातुओं, वनस्पतियों, कीड़ों, मछलियों, पक्षियों और जानवरों के क्रमों का समावेश होता है। हर बार जब पिछले बुलबुला अथवा रूप का विस्फोट होता है तब उसको और भी अधिक चेतना

प्राप्त होती है और उससे पहले से सञ्चित हुये संस्कारों में एक और मरोड़ जुड़ जाती है, जब तक कि वह मानव बुलबुला अथवा योनि तक नहीं पहुँचती, जिसमें निरन्तर बढ़ती हुई चेतना पूर्ण और भरपूर हो जाती है। संस्कारों के खुलने की यह प्रक्रिया इन नियमित मरोड़ों से युक्त होती है; और यही मरोड़ें, जो बूंद-आत्मा द्वारा प्राप्त की गई चेतना को क़ायम रखती हैं, और उसको अपनी असली सत्ता की ओर मोड़ने की बजाय बुलबुला अथवा रूप की ओर निश्चित और सञ्चालित करती हैं, उस समय भी जब मनुष्य-योनि में चेतना भरपूर विकसित हो जाती है।

मनुष्य-योनि प्राप्त करने पर, दूसरी प्रक्रिया शुरू होती है; यह प्रक्रिया पुनर्जन्म की प्रक्रिया होती है। इस स्थल पर, संस्कारों के बन्धनों के खुलाव की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। बूंद-आत्मा एक के बाद एक असंख्य मानव योनियाँ धारण करती है; और ये योनियां बिल्कुल सही रूप में गिनती में ८४ लाख होती हैं। ये मनुष्य योनियाँ कभी-कभी पुरुषों की होती हैं और कभी-कभी स्त्रियों की होती हैं; और वे राष्ट्रीयता, आलोक, रङ्ग और धर्म बदलती हैं। बूंद-आत्मा मानव पुनर्जन्मों के द्वारा कभी-कभी अपने को भिखारी के रूप में अनुभव करती है और कभी-कभी बादशाह के रूप में अनुभव करती है, और इस प्रकार अपने अच्छे अथवा बुरे संस्कारों के अनुसार सुख अथवा दुःख के द्वन्द्वों का अनुभव करती है। पुनर्जन्म में (अर्थात् अपनी क्रमबद्ध और अनेक मानव योनियों में) बूंद-आत्मा अपनी पूर्ण चेतना बनाये रखती है, लेकिन वह द्वैध संस्कारों के एक के बाद एक होने वाले अनुभवों को बनाये रखती है, जब तक साक्षात्कार की प्रक्रिया का प्रारम्भ नहीं होता है, और साक्षात्कार की इस प्रक्रिया के दौरान में संस्कार खुल जाते हैं। पुनर्जन्मों में, संस्कारों का एक खर्च होता है, लेकिन यह ख़र्च संस्कारों के खुलाव से बिल्कुल भिन्न होता है, जो संस्कार साक्षात्कार की प्रक्रिया के दौरान में होता है। स्वयम् संस्कारों का खर्च होना नये संस्कार पैदा करता है, जो आत्मा को बन्धन में डालते हैं; लेकिन संस्कारों का खुलना खुद नये संस्कार पैदा नहीं करता; और उसका उद्देश्य संस्कारों की अत्यन्त दृढ़ पकड़ को नष्ट करना होता है जिन संस्कारों में बूंद-आत्मा जकड़ी है।

मनुष्य योनि तक, संस्कारों का खुलाव विकास की क्रिया के दौरान में मज़बूत और मज़बूत होता है। पुनर्जन्म की मानव योनियों में,

संस्कार का खुलाव एक सीमित तथ्य के रूप में काम करना जारी रखता है; किन्तु मानव बुलबुला अथवा योनि के प्रत्येक परिवर्तन के साथ, कठोर गाँठें, जो खुलाव की प्रक्रिया के दौरान प्राप्त हुई थीं, ८४ लाख झटकों‡ के माध्यम से ढीली पड़ जाती हैं, इसके पहले कि वह साक्षात्कार की प्रक्रिया में खुलने के लिये तैयार होती हैं।

अब साक्षात्कार की तीसरी प्रक्रिया शुरू होती है, जो चढ़ाव की एक प्रक्रिया है। यहाँ पर, बूंद-आत्मा क्रमशः संस्कारों के खुलाव से गुज़रती है। खुलाव की इस प्रक्रिया के दौरान में, संस्कार क्षीण और क्षीण होते जाते हैं; और साथ ही साथ, बूंद-आत्मा की चेतना खुद अपनी ओर अधिक और अधिक निर्देशित होती है; और इस प्रकार बूंद-आत्मा सूक्ष्म और मनो भूमिकाओं से होकर गुज़रती है जब तक कि सब संस्कार पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाते, और उसको महासागर के रूप में खुद अपनी चेतना प्राप्त करने योग्य नहीं बना देते हैं।

परमात्मा के अनन्त महासागर में तुम बूंद अथवा आत्मा हो। तुम साधारण अवस्था में आत्मा हो; और तुम अपनी चेतना का उपयोग बूंद अथवा योनि के देखने और अनुभव करने में करते हो। बुलबुले की स्थूल परत के द्वारा, तुम विशाल स्थूल बुलबुले के उस भाग का अनुभव करते हो जो पृथ्वी है। तुम परमात्मा में सतत् स्थित हो और उसके साथ अखण्ड्यरूप से एक हो; लेकिन तुम्हें इसका अनुभव नहीं होता। ऊँची स्थिति में, तीसरी भूमिका के पर्यन्त, तुम अपनी चेतना का प्रयोग, सूक्ष्म जगत कहलाने वाले विशाल बुलबुले को, सूक्ष्म शरीर कहलाने वाले

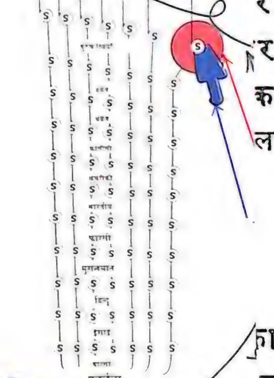
---

‡ [अनेक पाठकों को यह मालूम नहीं होता कि मेहेरबाबा जीवन चक्र का वर्णन लौकिकरूप से करते थे जैसे : विकास, पुनर्जन्म, प्रतिवर्द्धन और साक्षात्कार करने की "प्रक्रिया"।

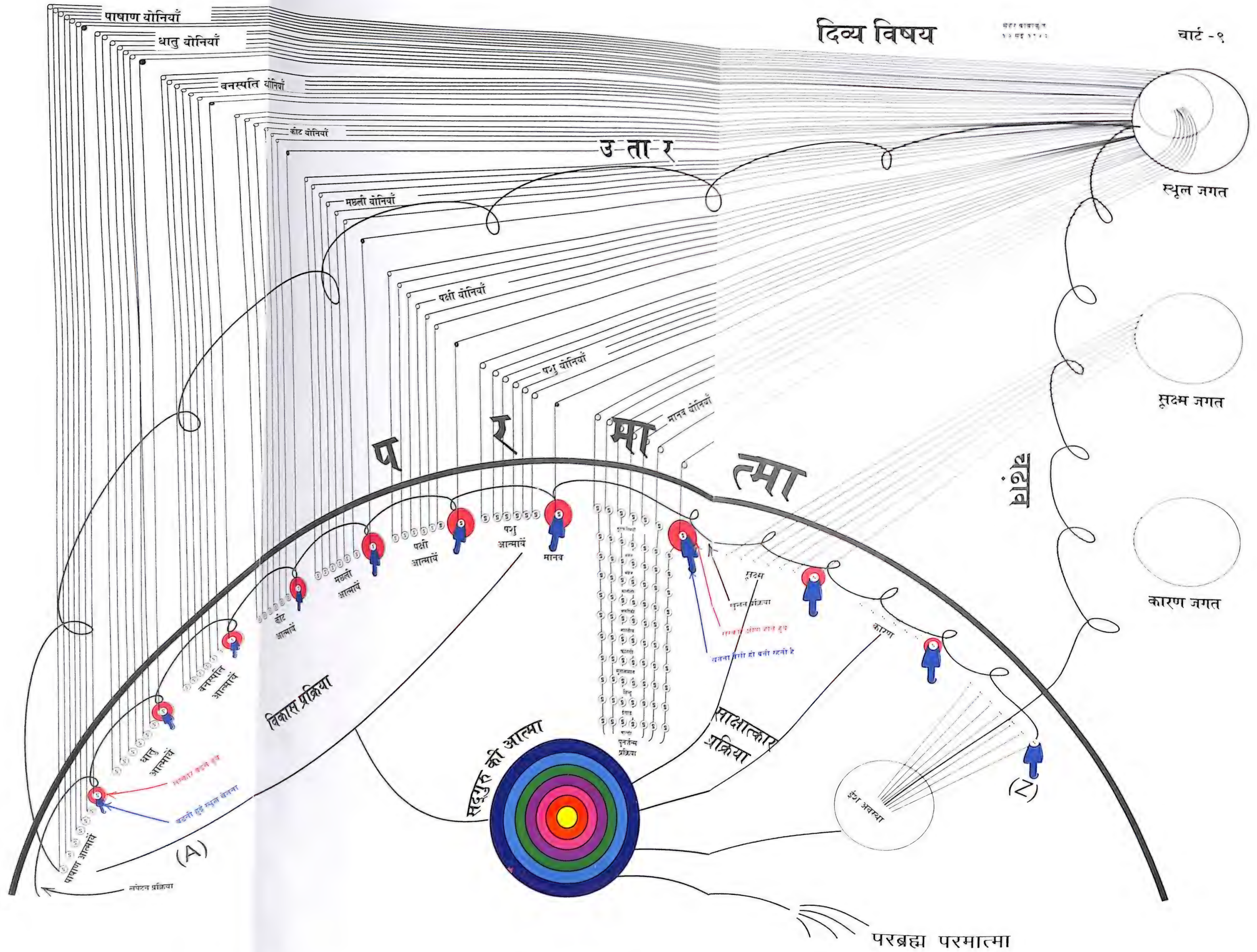
डरते हुये, ऊपर मूल पाठ में दिया गया बयान पैरा ५, पृष्ठ २०७, में दिये गये बयान के परस्पर-विरोधी मालूम पड़ सकता है, हमने एरच बी० जसावाला को स्पष्ट करने को कहा।

उन्होंने उत्तर दिया : 'एक बार कोई व्यक्ति चेतना की भूमिकाओं पर होता है, तो पुनर्जन्म की प्रक्रिया का अन्त हो गया कहा जा सकता है। ईश्वर तक पहुँचाने के पथ पर उसको 'देखने' की और उससे मिलकर एक हो जाने की अधीरता प्रचण्ड होती है। ऐसे पुनर्जन्म जैसे आवश्यक होते हैं, और चेतना पर बोझ लादे हुये संस्कारों के कारण होते हैं, ८४ लाख झटकों की तुलना में प्रायः समाप्त मालूम पड़ते हैं।"—सम्पादक]

५






दिव्य विषय
चार्ट -९
पाषाण योनियाँ
धातु योनियाँ
वनस्पति योनियाँ
कीट योनियाँ
उ-ता-र
मछली योनियाँ
पक्षी योनियाँ
पशु योनियाँ
मानव योनियाँ
प र मा त्मा
स्थूल जगत
सूक्ष्म जगत
कारण जगत
चढ़ाव
पाषाण आत्मायें
धातु आत्मायें
वनस्पति आत्मायें
कीट आत्मायें
मछली आत्मायें
पक्षी आत्मायें
पशु आत्मायें
मानव
सूक्ष्म
कारण
विकास प्रक्रिया
सद्गुरु की आत्मा
साक्षात्कार प्रक्रिया
(A)
(Z)
परब्रह्म परमात्मा

सूक्ष्म बुलबुले अथवा रूप के माध्यम से, देखने और अनुभव करने में करते हो; किन्तु तुम परमात्मा को नहीं देखते और अनुभव नहीं करते जिसके अन्दर तुम हो, क्योंकि तुम्हारी चेतना अब परमात्मा की ओर निर्देशित नहीं है। उन्नत अवस्था में, चौथी भूमिका से लेकर छठवीं भूमिका पर्यन्त, तुम अपनी चेतना का प्रयोग विशाल मानसिक बुलबुले को देखने और अनुभव करने में करते हो, जो कारण जगत कहलाता है, और यह मानसिक बुलबुला अथवा मनुष्य योनि, कारण शरीर कहलाता है, लेकिन तुम्हें अब भी परमात्मा का अनुभव प्राप्त नहीं होता। किन्तु ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त अवस्था में, तुम अपनी चेतना का निरन्तर प्रयोग परमात्मा को देखने और अनुभव करने के लिये करते हो; और तब समस्त योनियाँ बुलबुलों के अलावा और कुछ नहीं मालूम पड़तीं।

अस्तु, अब, अपनेआपको आत्म-बूँद के रूप में चित्रित करो, जो परमात्मा में, स्थूल शरीर के बाद पाँच परतों के पीछे विद्यमान है तुम (आत्म-बूँद) अब स्थूल शरीर को देख रहे हो और उसके द्वारा स्थूल जगत को देख रहे हो। जब तुम दूसरी परत को देखते हो और उसके माध्यम से देखते हो, तब पहली परत तुमको केवल एक सतह के रूप में मालूम पड़ेगी, और इस प्रकार, प्रत्येक परत के पीछे देखते हुये, तुमको ये सब परतें केवल तुम्हारे छायादार आवरण मालूम पड़ेंगीं; और अन्ततः, जब तुम (अर्थात् आत्म-बूँद) परमात्मा को देखते हो और उसमें समा जाते हो, तब तुम्हें अनुभव होता है कि केवल तुम वास्तविक थे और वह सबकुछ जो तुम अब तक देखते और अनुभव करते थे, केवल तुम्हारी छाया मात्र थे और अन्य कुछ न थे।

(चार्ट नं० ९ और १० की स्पष्टि)

चार्ट ९

चार्ट ९ में दिया गया विशाल अर्द्ध-वृत्त परमात्मा का प्रतिनिधित्व करता है, जो विश्व में सबकुछ धारण करता है। अकेले एक व्यक्तिगत आत्मा का जीवन विकास, पुनर्जन्म और साक्षात्कार की प्रक्रिया को तीन मुख्य क्रमों में प्रदर्शित करता है। "S" व्यक्तिगत आत्मा का प्रतीक है। मनुष्य-योनि प्राप्त करने के पहले, वह अस्तित्व के निम्नलिखित प्रत्येक प्रकारों के सात क्रमों से होकर गुजरता है, जैसे— पत्थर, धातु, वनस्पति, कीड़ा, मछली, पक्षी और पशु। सातवीं स्थिति

में, अर्थात् एक नये प्रकार के अस्तित्व में, प्रवेश करने के पहले तुम एक मरोड़ अथवा एक गाँठ का एक चित्रण देखोगे, जो पहले सञ्चित किये गये संस्कारों का एकीकरण होता है। व्यक्तिगत "आत्मा" (*S*) के चारों ओर खिचा बाहरी लाल वृत्त, उन संस्कारों का प्रतीक है जो विकास की प्रक्रिया के दौरान में सञ्चित हो गये थे; और "*S*" में जुड़ा हुआ नीला जुड़ाव चेतना का प्रतीक है जिसका विकास साथ-साथ होता है। "*A*" आत्मा विकास, पुनर्जन्म और साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरने के बाद, "*Z*" आत्मा बन जाता है। केवल ईश-अवस्था में ही चेतना संस्कारों से मुक्त होती है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत (अन्न भूमि, प्राण भूमि और मनो भूमि), दाहिने हाथ की तरफ एक बड़े वृत्त के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। चूंकि स्थूल जगत की चेतना विकास की मनुष्य योनि के पहले के क्रमों में पूर्णतः विकसित नहीं होती, अतः वे पंक्तियाँ जो पत्थर, धातु, वनस्पति, कीड़ा, मछली, पक्षी और पशुओं की आत्माओं को क्रमशः उनकी पत्थर, धातु, वनस्पति, कीड़ा, मछली, पक्षी और पशु योनियों से जोड़ती हैं, केवल स्थूल जगत का स्पर्श करने के रूप में खण्डित रूप से दिखाई गई हैं; जबकि चेतना मानव योनि में पूर्णतः विकसित हो जाती है, वह (अनुरूप लाइनों के द्वारा) इस प्रकार प्रदर्शित की गई है कि वह सम्पूर्ण स्थूल जगत को उसके सब विभिन्न पहलुओं में समझने के योग्य हो गई है।

पुनर्जन्मों की प्रक्रिया में, आत्मा नर अथवा मादा रूप धारण कर सकती है; और वह किसी भी राष्ट्रीयता, मत अथवा धर्म से सम्बन्ध रख सकती है। आत्मज्ञान के दृष्टिकोण से, मानव योनियों की प्राप्ति तक ऊपर जाने वाली प्रक्रिया, एक यथार्थ उतार को प्रस्तुत करती है, यद्यपि वह ऊर्ध्व-गमन के समान दिखाई पड़ती है; और साक्षात्कार की प्रक्रिया एक वास्तविक चढ़ाव प्रदर्शित करती है, यद्यपि वह अधो-गमन के समान दिखाई पड़ती है; और ये दो प्रक्रियायें संस्कारों के बन्धनकारी गाँठों की [अधः पतन को प्रस्तुत करती हुई] क्रमशः एक लाइन के द्वारा प्रस्तुत होती हैं, जो पत्थर-योनि से लेकर स्थूल जगत तक ऊपर जाती है, और संस्कारों को छुट्टा करने वाली गाँठों (ऊर्ध्व-गमन प्रस्तुत करती हुई) की एक लाइन के द्वारा, जो स्थूल जगत से लेकर ईश-अवस्था तक उतर कर नीचे आती है। साधारण

पुनर्जन्मों की प्रक्रिया तब प्रारम्भ होती है जब संस्कार पूर्णरूप से खुल जाते हैं; और वह तब तक जारी रहती है जब तक संस्कारों का खुलाव प्रारम्भ नहीं होता।

साक्षात्कार की प्रक्रिया में, पहली भूमिका से लेकर तीसरी भूमिका तक की ऊँची आत्माओं को, अपने सूक्ष्म शरीरों के माध्यम के द्वारा केवल सूक्ष्म जगत की चेतना होती है। उनको साधारण आत्माओं का भान होता है जिन्हें स्थूल-चेतना प्राप्त होती है और जो सूक्ष्म जगत में उनके ऊपर क्रिया कर सकती हैं; लेकिन यह सबकुछ वे सूक्ष्म शरीर के द्वारा और सूक्ष्म जगत में करती हैं; और उनका कोई सम्बन्ध स्थूल जगत से स्थूल शरीर के द्वारा नहीं होता। इसी प्रकार से, चौथी भूमिका से लेकर छठवीं भूमिका तक की उन्नत आत्माओं को स्थूल चेतनायुक्त और साथ-साथ सूक्ष्म चेतनायुक्त आत्माओं का ज्ञान होता है; किन्तु वे उन पर मनो जगत में कारण शरीर के द्वारा कार्य सम्पादन करती हैं; और उनका कोई सम्बन्ध स्थूल शरीर के द्वारा स्थूल जगत से नहीं होता, और न सूक्ष्म शरीर द्वारा सूक्ष्म जगत से होता है। इसलिये, चार्ट में दी गई लाइनें सूक्ष्म-चेतना युक्त आत्माओं का सम्बन्ध केवल सूक्ष्म जगत से करती हैं; और उनके अनुरूप लाइनें मनो-चैतन्य आत्माओं का सम्बन्ध केवल मनो जगत से जोड़ती हैं।

ईश-अवस्था में, जिसमें सब संस्कार खुल गये होते हैं, चेतना का मोड़ केवल परमात्मा की ओर होता है; यह मजजूब-ए-कामिल की अवस्था है, जिसका कोई सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म और मनो जगतों से नहीं होता। किन्तु चन्द लोग, जो ईश-अवस्था का रस लेते हैं, वे भी नीचे आते हैं और अखिल सृष्टि की चेतना पुनः प्राप्त करते हैं। ये सद्गुरुओं [पूर्ण पुरुषों] की आत्मायें हैं। सद्गुरु की आत्मा सात केन्द्रीय रङ्गीन वृत्तों‡ से दिखाई गई है। निम्नलिखित बातें [जो जोड़ने वाली लाइनों से उत्पन्न हुई हैं] सावधानी से नोट करनी चाहिये :— (१) सद्गुरु की आत्मा परब्रह्म परमात्मा से जुड़ी है, जो सद्गुरुओं का विज्ञान है अथवा विश्राम स्थल है, (२) यह ईश-अवस्था से जुड़ी हुई है और (३) यह न केवल तीनों भुवनों में सबसे सम्बन्धित है, किन्तु सब आत्माओं से सम्बन्धित है, चाहे वे मनो-चेतना से सम्पन्न हों, सूक्ष्म चेतना

‡ उनके महत्व के लिये चार्ट १० देखिये।

से युक्त हों *अथवा पुनर्जन्म लेने वाले* मानव प्राणियों से सम्बन्धित हों, [जिनको स्थूल चेतना प्राप्त है], अथवा ऐसी आत्मायें हों जो पूर्व-मानवी विकास के क्रम में हैं।

चार्ट १०

चार्ट १० मानव योनि के विकास तक की प्रक्रिया से सम्बन्धित और ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त प्राणी की अवस्था तक साक्षात्कार की प्रक्रिया तक के विवरण प्रस्तुत करता है। सबसे भीतरी छोटा घेरा जिसका उल्लेख "*S*" के द्वारा किया गया है वह व्यक्तिगत आत्मा को प्रदर्शित करता है। आत्मा इस रूप में दिखाई गई है कि वह अपने चारों ओर मनुष्य के क्रम तक निरन्तर बढ़ती हुई संख्या में दायरे रखती है; और यह दिखाया गया है जैसे वह बाद में सब वृत्त क़ायम रखती है। दूसरा चक्र, जो आत्मा से सटा हुआ लगा है, चेतना को प्रदर्शित करता है, जो मानव योनि तक बढ़ती चली जाती है; किन्तु बाद में वह निरन्तर निश्चल बनी रहती है। विकास में, वनस्पतियाँ अत्यन्त अविकसित सहज ज्ञान प्राप्त करती हैं, लेकिन सूक्ष्म शरीर‡ प्राप्त नहीं करतीं, जो कीड़ों और घिसलने वाले प्राणियों के अविकसित रूप में ऊपर उभरता है। यह सूक्ष्म शरीर विकसित होता चला जाता है जब तक यह मनुष्य योनि में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो जाता। सूक्ष्म शरीर के विकास के बराबर-बराबर, सहज ज्ञान का उसी समय साथ-साथ विकास होता है। सहज ज्ञान, अपने अधूरे विकास में, प्रथम बार जीवधारियों की स्थिति में पहली बार प्रकट होता है; लेकिन कारण शरीर केवल अन्तिम क्रम में प्रकट होता है जो मनुष्य योनि द्वारा प्रदर्शित होता है।

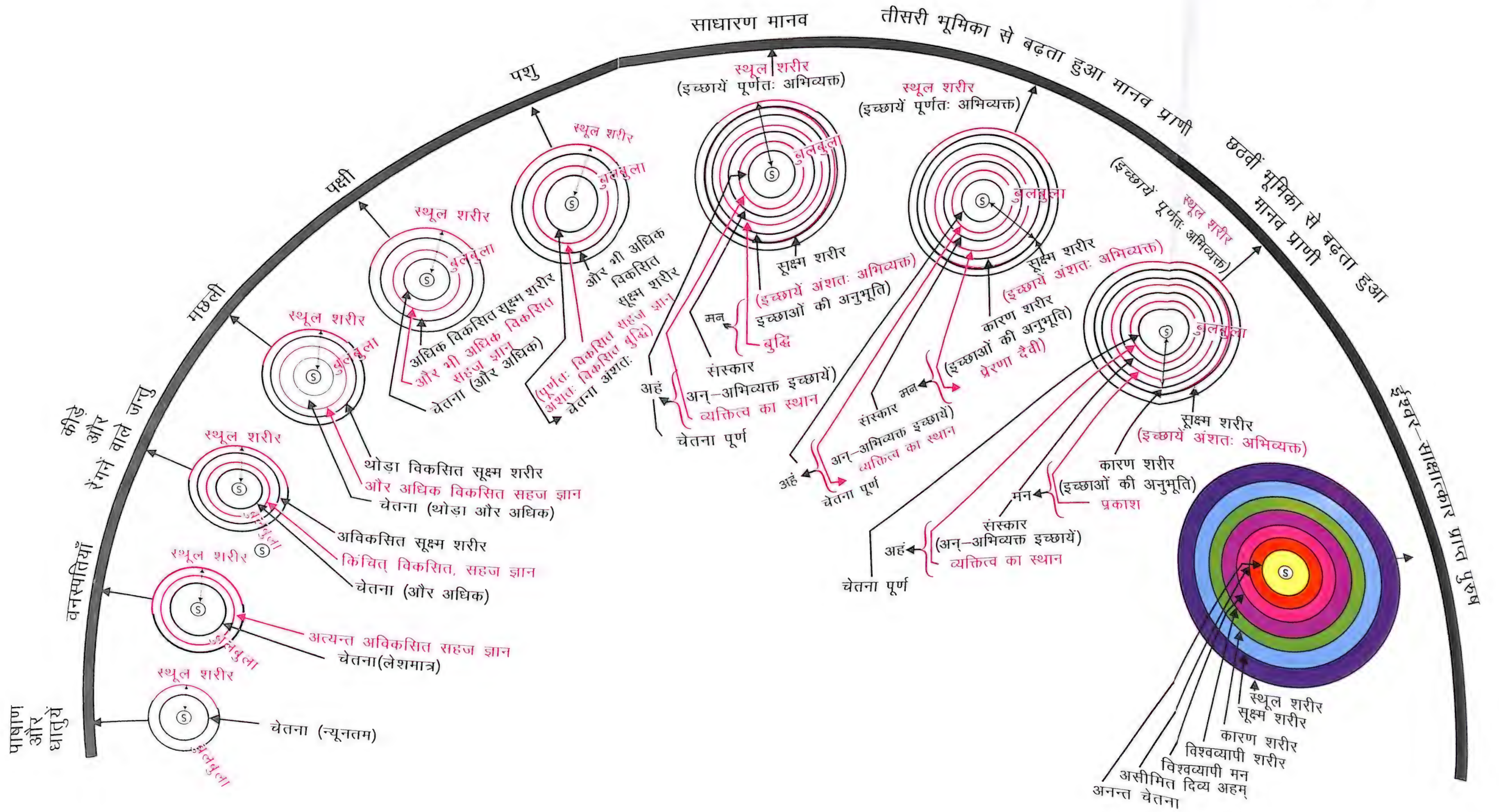
मनुष्य योनि में, पहला अन्तरतम घेरा व्यक्तिगत आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है; दूसरा बाहरी घेरा पूर्ण चेतना का प्रतिनिधित्व करता है; और तब अन्य बाहरी घेरे (उस तरतीब में जिसमें वे दर्शाये गये हैं) क्रमशः प्रदर्शित करते हैं: (१) व्यक्तित्व का स्थान,

‡ तथापि, गैस-रूप अथवा पाषण अथवा धातु अथवा वनस्पति रूप में आत्मा अपनी एकरूपता भी, "यद्यपि अचैतन्य रूप से," अपने अत्यन्त-सीमित सूक्ष्म शरीर से और अपने अत्यन्त-सीमित कारण शरीर से भी करती है। [देखिये मूल पाठ का पृष्ठ ३७। —सम्पादक]

दिव्य विषय

मेहेरबाबा कृत

१७ मई १९४३



(२) संस्कार अथवा अन-अभिव्यक्त इच्छायें, (३) बुद्धि, (४) कारण शरीर की अनुभूत इच्छायें, (५) सूक्ष्म शरीर (जिसमें इच्छायें अधूरे रूप से प्रकट होती हैं), और (६) स्थूल शरीर (जिसमें इच्छायें पूर्णरूप से प्रकट होती हैं) । आत्मा के अन्तरतम घेरे के चारों ओर सब घेरे, चेतना के पहले घेरे के सिवाय, चेतना की परतें हैं । इन परतों का सबसे बाहरी घेरा और उससे जुड़ा हुआ दूसरा घेरा, क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जब कि चेतना के चारों ओर अन्य चार परतें, एक कारण शरीर के चार कार्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं । कारण शरीर के इन चार कार्यों में, दो [अर्थात् अनुभूत इच्छायें और बुद्धि] आमतौर पर मन के अन्तर्गत निहित होती हैं; और अन्य दो (अर्थात् संस्कार अथवा अन-अभिव्यक्त इच्छायें और व्यक्तित्व की भावना) अहङ्कार के अन्तर्गत समाविष्ट हैं । इस प्रकार, मानव स्थिति में, आत्मा, अपनी चेतना सहित, तीन शरीर, किन्तु छः परतें रखती है (जिनमें स्थूल परत सम्मिलित है जो स्थूल शरीर कहलाता है) ।

जब (पुनर्जन्मों के बाद) मानवी आत्मा साक्षात्कार की प्रक्रिया पर आरूढ़ होती है, तब बुद्धि का स्थान स्फूर्ति ले लेती है, जो अपना आविर्भाव पहली से लेकर तीसरी भूमिका तक प्राप्त करती है; और चौथी से छठवीं भूमिका तक, यह स्फूर्ति प्रकाश के रूप में परिवर्तित हो जाती है ।

रङ्गीन घेरे अथवा केन्द्रित घेरे ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मा का, उसके सभी मार्गों समेत, प्रतिनिधित्व करते हैं । इस आकृति के सम्बन्ध में, नीचे लिखी हुई बातें बहुत ध्यान से नोट करनी चाहिये : [१] तीन बाहरी घेरे क्रमशः स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरों का प्रतिनिधित्व करते हैं । हम इन सब शरीरों को साधारण मानव प्राणियों में भी पाते हैं । [२] ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त व्यक्ति में, एक नये आध्यात्मिक शरीर का उदय हुआ है, जो सार्वभौम शरीर अथवा महाकारण शरीर कहलाता है, जो विराट् मन का स्थान है । ठीक जिस प्रकार पानी गिलास के अन्दर भरा होता है, उसी तरह यह कहा जा सकता है कि विराट् मन विराट् शरीर के अन्दर भरा है । इसलिये, यद्यपि विराट् शरीर और विराट् मन दो विभिन्न दायरों के द्वारा दिखाये

गये हैं, तथापि वे एक-दूसरे से अविभाज्य हैं। [सद्गुरु का विराट् मन, जो उसके विराट् शरीर के माध्यम से कार्य करता है, सृष्टि में सब व्यक्तिगत आत्माओं के कारण-शरीरों के सीधे सम्पर्क में होता है; और वह इन कारण-शरीरों के माध्यम से, मन भुवन, प्राण भुवन और अन्न भुवनों में कोई भी परिवर्तन कर सकता है। यद्यपि सद्गुरु को साधारण मनुष्यों की तरह कारण शरीर प्राप्त होता है, वह हमेशा केवल अपने विराट् मन के माध्यम से कार्य करता है]। (३) सद्गुरु की आत्मा में, मानवी स्थिति का सीमित अहङ्कार असीमित अहङ्कार के रूप में बदल जाता है, अर्थात् पृथक्ता और सङ्कीर्ण व्यक्तित्व की भावना का स्थान असीमित अखण्ड्य और सर्व-व्यापक अस्तित्व का साक्षात्कार ले लेता है। (४) सद्गुरु की आत्मा अनन्त चेतना से सम्पन्न होती है। मानव स्थिति पर पूर्ण चैतन्यता आत्मा की अनन्तता का उघार अथवा प्रदर्शन संस्कारों की सीमितताओं के कारण नहीं करती; लेकिन ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त व्यक्ति में, यह पूर्ण चेतना किन्हीं भी संस्कारों से सीमित नहीं होती और, इसलिये, वह आत्मा की अनन्तता को उजागर अथवा उद्घाटित करती है।

१५. मेहेरबाबा के बताये हुये पाँच लोक (८२)

मेहेरबाबा कहते हैं कि पाँच लोक हैं :— (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) मानसिक, (४) समष्टि और (५) यथार्थ। प्रथम चार लोक तत्सम्बन्धी अस्तित्वों से सम्बन्ध रखते हैं और पाँचवाँ एक और एकमेव यथार्थ सत् से बना होता है।

विस्तृत विवरण का प्रश्न और अधिक महत्त्वपूर्ण होता है जबकि एक विषय साधारण मनुष्य के अनुभव से परे होता है। एक ओर, अधिक विवरण मनुष्य को और अधिक भ्रान्त कर देते हैं, और कम विवरण चीजों को कम समझाते हैं। यह बहुविध शब्दों और अभिव्यक्तियों को जन्म देता है जिनका प्रयोग विभिन्न दृष्टिकोणों से और विभिन्न प्रसङ्गों में किया जाता है। छिपे हुये अनुभव के अभाव में, उसी एक चीज के वर्णन बहुधा एक-दूसरे के विपरीत मालूम पड़ते हैं। किन्तु सापेक्ष अनुभवों की दृष्टि में अथवा सत्य के अन्तिम साक्षात्कार में, वे

ही विपरीततायें उसी एक सत्य के विषय में पूरक प्रकाशन सिद्ध होती हैं। तथ्यों और तथ्यों का तथ्य पाँच लोकों के पीछे छिपा हुआ इस बात को सिद्ध करेगा।

प्रथम तथ्य, स्थूल लोक, यद्यपि वह अस्तित्व के लिये बिल्कुल सूक्ष्म लोक पर निर्भर होता है, सूक्ष्म लोक से अनेकानेक अर्थों में प्रत्यक्ष रूप से भिन्न होता है। स्थूल लोक असंख्य जगतों, सूर्यों, चन्द्रमाओं, तारागणों और वास्तव में भद्दी से भद्दी चीज़ से लेकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ समस्त भौतिक चीज़ों से बना होता है। स्थूल लोक में कुछ दुनियाओं में खनिजपदार्थ और वनस्पतियाँ ही होती हैं; और कुछ अन्य जगतों में असंख्य देहधारी प्राणी भी होते हैं, और कुछ जगतों में मानव प्राणियों का समावेश होता है। स्थूल लोक में सर्वोच्च महत्वपूर्ण चीज़ हमारी दुनियाँ (पृथ्वी) है। यहाँ, अन्य सब प्राणियों के बीच, जिनको स्थूल लोक की अधिक या कम अन्शों में चेतना होती है, मनुष्य अपनी पूर्ण चेतना के साथ समस्त स्थूल जगतों‡ के समस्त अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ होता है। किन्तु जब तक मनुष्य यहाँ सूक्ष्म लोक के प्रति जागृत होता है, उसकी पूर्ण चेतना स्थूल के साथ पूर्णरूप से लगी रहती है, उस समय भी जब वह आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन और अध्ययन करता है, उस एक की तरह जिसका वाद-विवाद यहाँ दिया गया है।

---

‡ इसका अर्थ स्थूल लोक के समस्त मानव प्राणियों के बीच अध्यात्म में श्रेष्ठ भी होता है। मेहेरबाबा हमें बताते हैं कि स्थूल लोक में तीन जगत, जहाँ मानव प्राणी बसे हैं, हमारी दुनियाँ (पृथ्वी) ऐसी एक है जहाँ मनुष्य अध्यात्म में सबसे ऊँचा है। वह समझाते हैं कि, जबकि इस पृथ्वी पर मनुष्य अपने व्यक्तित्व में बराबर-बराबर हृदय और मन रखता है [५० प्रतिशत मन और ५० प्रतिशत हृदय रखता है], अन्य दो जगतों में मनुष्य क्रमशः १०० प्रतिशत दिमाग और ७५ प्रतिशत मन तथा २५ प्रतिशत हृदय रखता है। मनुष्य, अपने पुनर्जन्मों के दौरान में, तीन जगतों में से किसी एक में जन्म लेता है, किन्तु उसे अनिवार्यरूप से अन्ततः अपने दिव्य प्रारब्ध को, जो ईश्वर-साक्षात्कार है, पूरा करने के लिये देह धारण करनी चाहिये और इस पृथ्वी पर पुनर्जन्म लेना चाहिये। स्थूल जगत में, पृथ्वी आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर करने के लिये अन्तिम और निकटतम सीढ़ी है। दो अन्य दुनियायें आबादी के ढांचे में पृथ्वी के अत्यन्त निकट हैं। कुल १८,००० दुनियायें ऐसी हैं जिनमें जीवन है, किन्तु ये दो दुनियायें और पृथ्वी मानव जीवन के ढांचे में एक-दूसरे के सदृश्य होती हैं।

दूसरा, सूक्ष्म लोक, प्राणशक्ति का लोक है, और यद्यपि वह सात खण्डों में विभाजित है, तथापि वह खुद अपनेतईं एक दुनियाँ है। उसका स्थायी रहना मनो लोक पर निर्भर होता है लेकिन वह स्थूल लोक से पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है। देश और काल की भाषा में, स्थूल लोक का प्रदेश, अपने अनन्त अन्तरिक्ष के साथ जिसमें अनन्त सूर्यों, नक्षत्रों और दुनियाओं, हमारी पृथ्वी सहित, के विश्व सन्निहित होते हैं, सूक्ष्म लोक के साथ तुलना किये जाने पर केवल एक बिन्दु मात्र है।

आत्म-साक्षात्कार का मार्ग, सूफ़ियों की राह-ए-तरीक़त और वेदान्तियों का आध्यात्मिक मार्ग जिसमें सात भूमिकायें (मुक़ाम अथवा स्थान), होती हैं, स्थूल के प्रथम लोक और पाँचवें लोक, यथार्थ लोक, के बीच एकमात्र सेतु है। मार्ग अपनी प्रथम तीन भूमिकायें सूक्ष्म लोक, दूसरे लोक, में रखता है।

सूक्ष्म लोक अपनी प्राणशक्ति के, अपने फ़रिश्तों के, और इस सबसे ऊपर मनुष्य की खण्डित तथा पूर्ण सूक्ष्म-चेतना के द्वारा (मानवी चेतना आंशिकरूप से अथवा पूर्णरूप से स्थूल से स्वतन्त्र होकर, स्थूल में स्वतन्त्र हुई), स्वयं स्थूल लोक के अन्दर प्रवेश करता हुआ, अनन्त अन्तरिक्ष में भी, उसके सूर्यों, तारागणों, नक्षत्रों समेत और वास्तव में स्थूल लोक के अन्दर सम्पूर्ण जगतों में हर चीज़ और हर प्राणी में प्रविष्ट होता है।

सूक्ष्म दृश्यों, ध्वनियों, अनुभूतियों और शक्तियों की असीमित विविधता और प्रगाढ़ता का स्थूल लोक में कोई जोड़ नहीं होता, सिवाय प्राणशक्ति के जो स्थूल, और मानवी चेतना के बन्धनों के अन्दर सीमित हो जाती है, और मानवी-चेतना स्थूल सीमितताओं से घिरी होती है।

तीसरा, मनोलोक लोकों का लोक है। वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों लोकों से बिल्कुल स्वतन्त्र होता है और वह ईश्वरत्व द्वारा स्वतन्त्र-रूप से स्थिर रक्खा जाता है। मनोलोक व्यक्तिगत, सामूहिक और व्यापक मन का निवास-स्थान है। मन अपने खुद के लोक को इतना अधिक प्रसारित करता है जितना वह सूक्ष्म और स्थूल लोकों के आद्योपान्त करता है।

इस मनोलोक में बुद्धि, सहज ज्ञान, अन्तर्दृष्टि और ज्योति से सम्बन्धित प्रत्येक चीज का समावेश होता है। इसके भीतर मार्ग की उच्चतर भूमिकायें, पाँचवीं और छठवीं, भी अन्तर्निहित होती हैं। चौथी भूमिका सूक्ष्म लोक में तीसरी भूमिका और मनोलोक में पाँचवीं भूमिका के बीच केवल एक संधिस्थल है।

फिर भी, मनोलोक यथार्थ लोक का स्पर्श नहीं करता और न स्पर्श कर सकता है, क्योंकि कोई चीज सिवाय खुद उसकी सत्यता के, उसका स्पर्श नहीं कर सकती, जिसे परमात्मा की शाश्वत् "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था में खुद की चेतना होती है।

चौथे, पृथक् भागों से निर्मित लोक को अत्यधिक नाम दिया जाता है और वह बिल्कुल कम समझा जाता है। वह इक्कीस उप-लोकों से बना होता है और इस रूप में वह एक लोक, और अपनेआप एक लोक नहीं दोनों होता है।

जोड़ने वाली इक्कीस कड़ियाँ सात उप-स्थूल और उप-सूक्ष्म लोकों तथा स्थूल और सूक्ष्म लोकों के बीच बनी होती हैं: सात उप-सूक्ष्म और उप-मनोलोकों के तथा सूक्ष्म और मनोलोकों के बीच बनी होती हैं; और सात उप-मानसिक तथा उप-अतिश्रेष्ठ लोकों तथा मनोलोक एवं यथार्थ लोक के बीच बनी होती हैं।

पृथक् खण्डों से निर्मित लोक की विचित्र प्रकृति एवं स्थिति निम्नलिखित टेबुलों के किसी एक के माध्यम से और अधिक आसानी से समझी जा सकती है:

टेबुल १

१. स्थूल
→ ७ (निचला)
२. सूक्ष्म
४. मिश्रित { → ७ (मध्य)
३. मानसिक
→ ७ (उच्चतर)
५. यथार्थ

टेबुल २

(१) स्थूल लोक (प्रथम लोक)
सात निचले उप-लोक
के
(४) मिश्रित लोक (चौथा लोक) ।
(२) सूक्ष्म लोक (दूसरा लोक)
सात मध्यवर्ती उप-लोक
के
(४) मिश्रित लोक (चौथा लोक)
(३) मनो लोक (तीसरा लोक)
सात उच्चतर उप-लोक
के
(४) मिश्रित लोक (चौथा लोक) ।
(५) यथार्थ लोक (पांचवां लोक)

सात निम्नतर उप-लोक अध्यात्म में स्थूल लोक से श्रेष्ठ हैं और वे स्थूल को निश्चितरूप से स्पर्श करते हैं, जबकि सात उच्चतर उप-लोक न तो अध्यात्म में मनो लोक से श्रेष्ठ हैं और न वे कभी यथार्थ लोक का स्पर्श पा सकते हैं जैसाकि आगे आने वाले विवरणों से स्पष्ट होगा ।

एक ओर, सर्व-महत्वपूर्ण मार्ग, जो मनुष्य और परमात्मा के बीच की खाई को पाटने वाला एक और एकमात्र सेतु है, सूक्ष्म और मानसिक दो लोकों को पार करता है, और दूसरी ओर, अगणित चीज़ें और प्राणी इन दो लोकों में हैं और साथ-साथ वे सात निम्नतर तथा सात उच्चतर उप-लोकों के बीच में भी हैं, और उन चीज़ों और प्राणियों में से प्रत्येक प्रत्यक्षरूप से अथवा अप्रत्यक्षरूप से मार्ग के लिये प्राणप्रद हैं ।

सात निम्नतर से लेकर सात मध्य उप-लोकों तक, सूक्ष्म लोक के सहित, अन्य चीज़ों के अतिरिक्त देह से पृथक् हुई आत्माओं [प्रेत आत्माओं] तथा देह से विलग न हुई आत्माओं [फ़रिश्तों] के निवासस्थान होते हैं । सात मध्य लोकों से लेकर सात उच्चतर उप-लोकों तक, मनोलोक के सहित, अन्य चीज़ों के अतिरिक्त प्रधान देवदूतों का वास होता है ।

प्रेत आत्माओं [शरीर से विच्छिन्न हुई आत्माओं], अच्छी और

बुरी दोनों, को "इन्तजार की अवस्था" में रहना पड़ता है, और ऐसा उन्हें सुख और दुःख की अवस्थाओं का अनुभव पहले और बाद में दोनों में करना पड़ता है—उन अवस्थाओं को आमतौर पर स्वर्ग और नर्क कहा जाता है।[३७]

फ़रिश्ते, अर्थात् देह से पृथक् हुई आत्मायें, परमात्मा की मर्ज़ी के लिये केवल अपनेआप चलने वाली होती हैं और वे ऐसा कुछ नहीं करतीं जैसा ईश्वर के द्वारा इच्छित अथवा प्रेरित नहीं होता। ये इच्छायें केवल दैवी शक्ति एवं गतिविधि का प्रकाशन मात्र होती हैं जो सर्वव्यापी होती हैं। सारांश में, फ़रिश्ते निर्मल होते हैं और भौतिक शरीर के साथ दूषित नहीं होते। इस प्रकार वे मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ होते हैं जिसकी चेतना स्थूल [जिसका अर्थ है एक मनुष्य जो अब भी मार्ग पर नहीं है] की सीमितताओं के परे नहीं गई है। लोक-विरुद्धता से हीन मनुष्य, जो भौतिक शरीर के साथ दूषित होने में सफल हुआ है, वास्तव में अपने अन्दर की गुप्त क्षमताओं की शक्ति में श्रेष्ठ है। अपनी अपूर्णताओं, परिमितताओं और निर्बलताओं का अनुभव करता हुआ, वह अपनी वास्तविक शक्ति एवं निर्मलता का अनुभव करने के लिये, जो प्रधान देवदूतों की भी पहुँच से बाहर होती हैं, सक्षमतापूर्वक परिपक्व होता है।

प्रधान देवदूत परमात्मा के मुख्य दिव्य गुणों—सृष्टि की रचना करने, रक्षा करने और सीमित पैमाने पर सीमित जीवन को नष्ट करने, और सीमित पैमाने पर असीमित ज्ञान प्रकट करने—के लिये माध्यम होते हैं। प्रधान देवदूत वे हस्तियाँ हैं जो सदैव आनन्द का रस लेती हैं और कभी पीड़ा नहीं भोगतीं।

प्रधान देवदूतों का निवास, चौथे लोक के उप-खण्डों से निर्मित लोक, मिश्रित लोक जिसका विवेचन यहाँ किया गया है, तीसरे लोक—मनोलोक—के बाद आता है और वह सबसे निकट के पाँचवें लोक, अर्थात् यथार्थ लोक के निकटतम होता है। यह सत्य है, फिर भी यह समग्र सत्य नहीं है; क्योंकि अपनी निकटता के बावजूद वह यथार्थ लोक को नहीं छू सकता। प्रधान देवदूत, सर्वोच्च उप-श्रेष्ठ लोक से, कभी परमात्मा को नहीं देख सकता, जबकि मनुष्य तीसरे लोक की छठवीं भूमिका में, मनो लोक में, परमात्मा को हर जगह और हर चीज में आमने-सामने देख सकता है और देखता है। उप-श्रेष्ठ लोकों के अन्त का अन्तिम बिन्दु, वह है जिसको सूफ़ी लोग सदरत-उल-मुनतहा

(अन्तिम सीमा), कहते हैं, जिसके परे आरचेन्जिल गबरील भी नहीं जा सकता, जैसा आमतौर पर मुसलमान लोगों का सही विश्वास है।

मनुष्य को प्राप्त है, और मनुष्य [चूंकि केवल मनुष्य कर सकता है] वास्तव में खुद अपने—पांचवें, वास्तविक लोक—को समग्र चार लोकों के वास्तव में अस्तित्वरहित सापेक्ष अस्तित्व की सात कड़ियों की अन्तिम कड़ी को, लांघ जायगा। संक्षेप में, प्रधान देवदूतों को अनिवार्यरूप से देवदूत होना बन्द करना होगा और मनुष्य बनना होगा, इसके पहले कि वे मनुष्य को प्राप्त यथार्थता तक पहुँच सकें। और जब मनुष्य मनुष्य नहीं रहता और "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था में प्रवेश करता है, वह अनुभव करता है कि फ़रिश्ते और प्रधान देवदूत वास्तव में एक या दूसरे अर्थ में खुद उसके ही गुण हैं।

अन्ततः चतुर्थ—पृथक् भागों से मिश्रित—लोक के उच्चतर सात उप लोकों का विनाश, वह प्रपंच है जो क़यामत अथवा महाप्रलय कहलाता है, और जिस समय यह घटित होता है तब सृष्टि का सम्पूर्ण अस्तित्व-रहित अस्तित्व, अपने सभी लोकों और उपलोकों सहित, एक अभिव्यक्त वृक्ष के समान, अन-अभिव्यक्त के अस्तित्वरहित अप्रगट बीज के रूप में पीछे को चला जाता है, और अब वह अनन्तता के दूसरे क्षण में एकबार फिर नये रूप से प्रगट होने के लिये ऐसा करता है।

चौथा, मिश्रित लोक, आमतौर पर प्रथम तीन लोकों में नीचे लिखे अनुसार निहित होता है :

(१) स्थूल लोक + चौथे लोक का अन्श, अर्थात् मिश्रित लोक, सूफ़ियों का आलम-ए-नसूत है और वेदान्तियों का अन्न भुवन है।

(२) सूक्ष्म लोक + चौथे लोक का अन्श, मिश्रित लोक, सूफ़ियों का आलम-ए-मलकूत है और वेदान्तियों का प्राण भुवन है।

(३) मनो लोक + चौथे लोक का अन्श, मिश्रित लोक, सूफ़ियों का आलम-ए-जबरूत और वेदान्तियों का मनो भुवन है।

बाद वाले तीन लोक भी (चौथे समेत) सामूहिकरूप से त्रिभुवन कहलाते हैं; सूफ़ी लोग उनको सामूहिक रूप से दो-आलम [दो लोक] कहते हैं जिसका अर्थ है एक ओर स्थूल लोक, और दूसरी ओर सूक्ष्म तथा मनोलोक (मिश्रित लोक सहित)।

पाँचवाँ वास्तविक लोक, मार्ग की सातवीं भूमिका भी है, पूर्ण महाचैतन्य की भूमिका है, जिसका साधारण अर्थ होता है पूर्ण मानवी

चेतना जो दुई के किसी भी रङ्ग अथवा पद-चिह्न से पूर्णतया स्वतन्त्र हो गई है और सापेक्ष अस्तित्व के सम्पूर्ण चार लोकों में विभिन्न अन्शों में प्राकृतिकरूप से विद्यमान है। यह कहना ग़लत न होगा कि पाँचवाँ लोक अथवा सातवीं भूमिका न तो कोई लोक है और न कोई भूमिका है बल्कि परमात्मा के स्वयं आत्मत्व की यथार्थता है—जिसको मानवजाति अल्लाह, परमात्मा, सर्वशक्तिमान ईश्वर, यज़्दान, इत्यादि नाम से पुकारती है। उसी एक परमात्मा की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार "है" से, "मैं-परमात्मा-हूँ" तक और "मैं-परमात्मा-हूँ" से "मैं सबकुछ हूँ" तक यथार्थ लोक की विभिन्न स्थितियों अथवा पहलुओं के लिये विभिन्न शब्द हैं—जैसे सूफ़ियों के आलम-ए-हहूत और आलम-ए-लहूत अथवा विज्ञान भूमिका तथा विज्ञान।

१६. दृढ़ विश्वास और ज्ञान के प्रकार (८५)

सूफ़ियों के अनुसार, आध्यात्मिक जीवन चार क्रमों में निहित होता है, और पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन सम्पूर्ण पहलुओं में केवल एक चेतन, अथवा अचेतन तैयारी है और वह तैयारी नित्य ज्ञान तथा प्रकाश के प्रदेशों के सतत् उद्घाटन के लिये है जो ईश्वर के साक्षात्कार तक पहुँचाते हैं। ये चार क्रम हैं शरियत (धर्मशास्त्र), तरीक़त (अध्यात्म मार्ग), हक़ीक़त (ईश्वर-साक्षात्कार अथवा ऐक्य), और मारेफ़त-ए-हक़ीक़त (सत्यानुभूति अथवा पथ)।

इमाम मुहम्मद ग़ज़ाली ने इन चार क्रमों की तुलना एक वालनट से की है, जिसके चार अङ्ग होते हैं : बाहरी खाल अथवा चमड़ी, भीतरी खाल अथवा चमड़ी, गूदा, और अन्तस्तल में तेल।

इस उपमा को अधिक स्पष्ट करने के लिये, हम कह सकते हैं कि शरियत बाहरी चमड़ी है, तरीक़त भीतरी चमड़ी है, हक़ीक़त गूदा है, और मारेफ़त-ए-हक़ीक़त तेल है।

जैसे-जैसे जिज्ञासु इन चार क्रमों से होकर गुज़रता है, वैसे ही वैसे वह सत्य के विषय में निश्चितता की निरन्तर बढ़ती हुई मात्रा प्राप्त करता है। इन नित्य सत्यताओं को सूफ़ी लोग कहते हैं :

(१) इल्म—उल—यक़ीन
(२अ) यक़ीन—उल—यक़ीन

(२ब) ऐन–उल–यक़ीन
(३) हक़्क़–उल–यक़ीन
(४) उर्फ़–उल–यक़ीन

(१) इल्म-उल-यक़ीन, अथवा बौद्धिक निश्चितता, पत्थर के समान अटूट श्रद्धा से प्राप्त होती है।

(२अ) यक़ीन-उल-यक़ीन, अर्थात् परमात्मा के भान से सम्पन्न निरन्तर निश्चिंतता, आन्तरिक भावनाओं अथवा पथ पर दृश्यों अथवा अध्यात्मिक अनुभवों से प्राप्त होती है। वह आत्मा का पहली भूमिका से पाँचवीं भूमिका के आर-पार आत्मा का दृढ़ विश्वास है।

(२ब) ऐन-उल-यक़ीन, अथवा दृष्टि से प्राप्त निश्चितता, वह परमात्मा को सर्वत्र और निरन्तर सचमुच देखने का अनुभव है; यह अन्तर्दृष्टि है।

(३) हक़्क़-उल-यक़ीन, अथवा साक्षात्कार की निश्चितता (अर्थात्, यथार्थ अनुभव द्वारा प्राप्त दृढ़ विश्वास), आत्मा को आध्यात्मिक यात्रा की सातवीं भूमिका पर प्राप्त होती है, जो हक़ीक़त है। इस स्थल पर आत्मा को खुद अपने द्वारा अपना खुद अनुभव होता है। यह अवस्था ऐक्य (परमात्मा से मिलन) है।

(४) उर्फ़-उल-यक़ीन; अथवा ज्ञान की निश्चितता, मनुष्य में ईश्वरत्व की पूर्णता से सम्बन्ध रखती है जिसके द्वारा मनुष्य ईश्वर का जीवन व्यतीत करता हुआ आत्मा के और विश्व के समस्त रहस्यों को जानता है। यहाँ जो शक्ति काम करती है वह व्यापक मन है (सार्वभौमिक मानस अथवा अक्ल-ए-कुल), जो सकल ईश्वरी विवेक का केन्द्र है।

दृढ़ विश्वास के इन प्रकारों को और अधिक समझाने के लिये, हम कल्पना करें कि एक मनुष्य को ज्ञात होता है कि एक बर्तन में दूध भरा है। इस ज्ञान में बुद्धि एवम् अन्तर्ज्ञान द्वारा प्राप्त बोध से अटूट श्रद्धा रखना इल्म-उल-यक़ीन और यक़ीन-उल-यक़ीन है। यदि वह इस बौद्धिक एवं अन्तर्ज्ञान द्वारा प्राप्त दृढ़ विश्वास से सन्तुष्ट नहीं है और बर्तन के पास जाकर दूध को अपनी आँखों से देखने का सचमुच कष्ट

करता है, और इस प्रकार उसको दृढ़ विश्वास होता है कि वास्तविकता उसके बौद्धिक तथा आन्तरिक ज्ञान से मिलती-जुलती है, तब उसको उस निश्चितता का अनुभव होता है जो ऐन-उल-यक़ीन कहलाती है। दूध पीना, और सर्व उद्देश्यों से उससे मिलकर एक हो जाना, उसको हक्क़-उल-यक़ीन का अनुभव प्रदान करता है; और खुद अपने अन्तर में उस सबका ज्ञान प्राप्त होता है जो दूध, जैसे शकर, पानी, तेल, विटामिन, इत्यादि को प्रकट और प्रस्तुत करता है, और वह इनको तथा दूध के विविध प्रयोगों को दूसरों को विस्तृतरूप से बयान करने में समर्थ होता है, और ज्ञान अथवा ज्ञानपथ की अर्थात् उर्फ़-उल-यक़ीन की, जो मारेफत-ए-हकीकत की स्थिति है, निश्चितता है।

ज्ञान के पाँच प्रकार

सूफ़ियों के मत के अनुसार, मानव प्राणियों को प्रभावित करने वाले ज्ञान के पाँच प्रकार हैं :

पहला प्रकार दुनियाँ के ज्ञान का है, जो भौतिक हित की प्राप्ति तक सीमित है।

दूसरा प्रकार शरियत का ज्ञान है जिसका प्रयोग अधिकान्श में वे लोग करते हैं जिन्होंने इसको, अपने विरोधियों को तर्क और वाद-विवाद के शाब्दिक युद्ध के द्वारा नष्ट करने के लिये, प्राप्त किया है। यह ज्ञान लौकिक धर्मोपदेशकों का है।

ज्ञान का तीसरा प्रकार आध्यात्मिक पथ का प्रकार है; और यह उन लोगों में पाया जाता है जिन्होंने किसी भीतरी अनुशासन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण कर लिया है, और लौकिक धर्मोपदेशकों के समाज को त्याग दिया है। इस ज्ञान में अहम् फिर भी हठात् क़ायम रहता है, और भले तथा बुरे की चेतना अब भी आत्मा से चिपटी रहती है। तत्वज्ञानियों और विचारकों का ज्ञान दूसरे और तीसरे प्रकारों के ज्ञान के बीच सीमान्त रेखा है।

चौथे प्रकार का ज्ञान ईश्वर का ज्ञान है—आतम (हकीकत) का ज्ञान है। जो व्यक्ति इस ज्ञान तक पहुँच जाता है उसके मिथ्या अहम् का नामोनिशान नहीं रहता और समस्त दुई का लोप हो जाता है।

ज्ञान का पाँचवाँ प्रकार वास्तविक ज्ञान मार्ग है—हकीकत की मारेफत है, जिसको मेहेरबाबा समझाते हैं कि वह परमात्मा का पूर्ण

ज्ञान है और विश्व का पूर्ण ज्ञान है। यही पूर्णता का ज्ञान है जो रसूल (अवतार) और कुतुब (सद्‌गुरु) को प्राप्त होता है।

जब तक आत्मा ज्ञान के सभी विभिन्न क्रमों को पार नहीं कर जाती, तसव्वुफ (ज्ञान) की सर्वोच्च स्थिति, जो सुलूक (सामान्य चेतना में उतर कर वापिस आना) है, कभी प्राप्त नहीं हो सकती। ज्ञान मार्ग की इस स्थिति पर पहुँचने पर मनुष्य पूर्ण सूफी (सद्‌गुरु) कहलाने का अधिकारी बन जाता है। जो भी हो, ऐसे उदाहरण हैं जहाँ लोग बीच की स्थितियों को पार किये बग़ैर ज्ञान की चौथी स्थिति पर पहुँच गये हैं, किन्तु वे बिल्कुल दुर्लभ होते हैं, और केवल तभी घटित होते हैं जब ऐसे लोगों का पथ-प्रदर्शन सद्‌गुरु करता है।

मेहेरबाबा अध्यात्म में ऊँचे उठी सभी आत्माओं को पाँच मूल प्रकारों में विभाजित करते हैं: परमात्मा में निमग्न (पूर्ण पुरुष), ईश्वरीय प्रेम के नशे में चूर, ईश्वर में लीन, ईश्वर से संचार रखने वाले तथा ईश्वरोन्मत्त। पाठक को डाक्टर विलियम डङ्किन कृत "दी वेफेयरर्स" ग्रन्थ के अध्याय १, पृष्ठ २१–३७ की ओर ध्यान दिलाया जाता है, जो इस विषय में बाबा के कथन का वर्णन करता है।

१७. परमात्मा अनन्त और सबकुछ है (६२)

परमात्मा अनन्त और सबकुछ है।

सब आत्मायें परमात्मा में हैं।

कुछ आत्माओं को स्थूल जगत का अनुभव होता है, कुछ को सूक्ष्म जगत का अनुभव होता है और कुछ को मनो जगत का अनुभव होता है, और कुछ को परमात्मा का अनुभव होता है।

चूँकि सब आत्मायें परमात्मा के अन्दर हैं इसलिये उनको भी परमात्मा के अन्दर ये विभिन्न अनुभव प्राप्त होते हैं। वे लोग जिनको अनुभव प्राप्त होता है (अर्थात् अनुभव-प्राप्तकर्त्ता) और स्वयं वे अनुभव, सब परमात्मा में होते हैं। यद्यपि अनुभवकर्त्ता और अनुभव परमात्मा में हैं अतः वे परमात्मा के नहीं हैं। वे शून्य के हैं।

परमात्मा सबकुछ है, और शून्य सबकुछ में है।

अस्तु, आत्मायें जिनको केवल शरीर, प्राण अथवा मानस की चेतना प्राप्त होती है उनको खुदी की चेतना प्राप्त नहीं होती। दूसरे

शब्दों में, ऐसी आत्माओं को शून्य की चेतना होती है और सबकुछ की चेतना नहीं होती । ऐसी आत्माओं को स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण जगत का अनुभव प्राप्त होता है और परमात्मा का अनुभव प्राप्त नहीं होता । अर्थात्, उनको शून्य का अनुभव प्राप्त होता है और सबकुछ का अनुभव प्राप्त नहीं होता । अतएव यह कहा जा सकता है कि उन आत्माओं को जो परमात्मा में हैं आत्म की चेतना प्राप्त नहीं होती, और वे परमात्मा का अनुभव नहीं कर रहीं, किन्तु उन्हें शून्य की चेतना प्राप्त होती है और वे शून्य की हैं, और वे शून्य का अनुभव करती हैं ।

ये आत्मायें अपनी तद्‌रूपता इतने वास्तविकरूप से करती हैं कि वे प्रत्यक्षरूप से शून्य बन जाती हैं ।

प्रत्येक प्राणी मूर्तमान शून्य है ।

सम्पूर्ण प्राणी और चीज़ें शून्य की साक्षात् मूर्ति हैं—जो सबकुछ के अन्दर हैं ।

१८. पाँच आध्यात्मिक तथ्य (१२९)

(१) साधारण मानव प्राणी :— मनुष्य, मनुष्य के रूप में, अपने को हरेक में और हर चीज में देखता है ।

(२) छठवीं भूमिका में पीर :— मनुष्य, मनुष्य के रूप में, परमात्मा को हरेक में और हर चीज में देखता है ।

(३) सातवीं भूमिका में मजजूब :— परमात्मा, परमात्मा के रूप में, अपने को हरेक में और हर चीज में देखता है ।

(४) क़ुतुब :— परमात्मा, मनुष्य के रूप में, अपनेआप को साथ-साथ हरेक में और हर चीज में देखता है ।

(५) उद्धारक :— परमात्मा, परमात्मा और मनुष्य के रूप में, अपनेआपको एकसाथ हरेक में और हर चीज में देखता है ।

१९. असली जन्म और असली मौत (१३१)

असली जन्म एक है और असली मौत एक है। तुम्हारा जन्म एकबार होता है और तुम वास्तव में केवल एकबार मरते हो।

असली जन्म क्या है ?

वह सत्यता के महासागर में एक बूंद का जन्म है। सत्यता के महासागर में एक बूंद का जन्म होने का क्या अर्थ है ? वह व्यक्तित्वता का अवतरण है, जिसका जन्म अखण्ड्यता से प्रथम अत्यन्त सीमित चेतना की जगमगाहट के द्वारा होता है, जिसने सीमितता के ज्ञान को असीमित में बदल दिया।

असली मौत से क्या अर्थ है ?

वह सब परिमितताओं से स्वतन्त्र होने की चेतना है। सब परिमितताओं से मुक्त हो जाना असली मौत है। वह सब सीमितताओं की वास्तविक मृत्यु है। वह मुक्ति है, वह असली जन्म और असली मृत्यु के बीच में, तथा-कथित जन्मों और मृत्युओं के रूप जैसी कोई यथार्थता नहीं है।

मध्यवर्ती क्रम में जन्मों और मृत्युओं के रूप में वास्तव में जोकुछ घटित होता है वह यह है कि चेतना की सीमिततायें शनैः शनैः क्षीण होती जाती हैं जब तक कि चेतना सब परिमितताओं से स्वतन्त्र नहीं हो जाती। अन्ततोगत्वा चेतना, सभी परिमितताओं से बिल्कुल स्वतन्त्र हुई, अपरिमित सत्यताओं का अनुभव सतत् करती है। यथार्थ मौत होना यथार्थ जीवित रहने के बराबर है। इसलिये मैं बल देकर कहता हूँ : ईश्वर के लिये मरो और तुम ईश्वर के रूप में रहोगे।

तुम पहले एक बच्चा होते हो। तत्पश्चात् तुम बढ़कर बूढ़े होते हो और शरीर छोड़ देते हो, किन्तु तुम कभी नहीं मरते और कभी जन्म नहीं लेते। पूर्व जगत में, वेदान्ती लोग पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं और अनेक जन्मों और मृत्युओं में विश्वास करते हैं जब तक मनुष्य ईश्वरत्व को प्राप्त नहीं हो जाता। मुसलमान लोग केवल एक जन्म होने और केवल एक मृत्यु होने में विश्वास रखते हैं। क्राईस्ट और जुरथस्त्र के अनुयायी भी वही विश्वास करते हैं। वे सब सही हैं। लेकिन ईसामसीह, बुद्ध, मुहम्मद, ज़ोरास्टर, वे सब उसी मत को मानते हैं जिससे मेरा अर्थ असली जन्म और असली मृत्यु से है। मैं कहता हूँ कि तुम एक बार जन्म लेते हो और मरते हो।

सभी तथा-कथित जन्म और मृत्युयें केवल निद्रा और जागरण हैं। निद्रा और मृत्यु के बीच यह अन्तर है कि तुम सोने के बाद जागते हो और अपने को उसी शरीर में पाते हो; किन्तु मृत्यु के बाद तुम एक भिन्न शरीर में जागते हो। तुम कभी नहीं मरते। केवल भाग्यशाली लोग मरते हैं और ईश्वर के साथ एकरस हो जाते हैं।

२०. फ़ना और फ़ना-फ़िल्लाह (१५१)

फ़ना अचैतन्य चेतना की अवस्था है।

फ़ना-फ़िल्लाह में आत्मा को खुद के परमात्मा होने की चेतना के सिवाय अन्य सबकुछ की अचेतना होती है।

आत्मा के अपनी मानव अवस्था के खोने और निर्विकल्प की ईश्वरी अवस्था प्राप्त करने के पहिले, उसको निर्वाण की शून्य अवस्था का अनुभव करना पड़ता है।

निर्वाण एक अनन्त शून्यता है, ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा को यथार्थ शून्यता की पूर्ण चेतना प्राप्त होती है, और यदि निर्वाण की अवस्था में मानव शरीर छूट जाता है, तो व्यक्ति ईश्वर के अनन्त आनन्द की अवस्था में चला जाता है।

कुछ दशाओं में निर्विकल्प अथवा फ़ना-फ़िल्लाह के पश्चात् तत्काल और अनिवार्यरूप से निर्वाण की अवस्था आ जाती है, जहाँ आत्मा को यथार्थ सबकुछ की पूर्ण चेतना प्राप्त होती है। निर्वाण और निर्विकल्प इतने घनिष्ठरूप से जुड़ी होती हैं कि उनमें से प्रत्येक को ईश्वरी लक्ष्य कहा जा सकता है;

मिथ्या शून्य = मिथ्या सबकुछ
यथार्थ शून्य = न सबकुछ और न कुछनहीं
यथार्थ सबकुछ = अनन्त परमात्मा।

मिथ्या कुछनहीं मिथ्या सबकुछ की ओर ले जाता है; और यथार्थ कुछनहीं यथार्थ सबकुछ की ओर ले जाता है। मिथ्या कुछनहीं मिथ्या सबकुछ से जुड़ा होता है; और यथार्थ कुछनहीं यथार्थ सबकुछ से जुड़ा होता है। अन्ततोगत्वा मिथ्या कुछनहीं मिथ्या सबकुछ में समाप्त हो जाता है, और यथार्थ कुछनहीं यथार्थ सबकुछ में समाप्त हो जाता है। दुई में मिथ्या कुछनहीं मिथ्या सबकुछ है। ऐक्य में यथार्थ कुछनहीं और यथार्थ सबकुछ एक हैं।

मेहेरबाबा ने नीचे लिखी बातें भी बताई हैं :

१. यथार्थ लक्ष्य मनुष्यरूप में ईश्वर का साक्षात्कार करना है; किन्तु जो लोग ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त होने के पहिले अपने शरीर छोड़ देते हैं (अर्थात्, वे लोग जो निर्विकल्प अवस्था प्राप्त करने के पहिले निर्वाण की अवस्था में अपने शरीर छोड़ देते हैं), उनका लक्ष्य पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति है। वे केवल अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं।

२. उस मनुष्य की व्यक्तित्वता जो निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेता है, मानव शरीर त्याग देने के बाद भी, अनन्त और असीमित के रूप में बनी रहती है और "मैं-परमात्मा-हूँ" का अनुभव निरन्तर बना रहता है। किन्तु जिस मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है वह "मैं आनन्द हूँ" (मैं अनन्त आनन्द हूँ) का अनुभव प्राप्त करता है; और इससे उसका "मैं अनन्त शक्ति–ज्ञान–आनन्द" की असीमित व्यक्तित्वता का एकसाथ अनुभव सीमित कर देता है।

३. अनन्त ज्ञान परमात्मा की त्रि-प्रकृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है, जबकि मनुष्य को मानवरूप में ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। अनन्त आनन्द मनुष्य के अनुभव का महत्वपूर्ण पहलू बना रहता है जबकि वह अपना शरीर निर्वाण की दशा में छोड़ देता है और लक्ष्य के रूप में मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

४. मजज़ूब-ए-कामिल एकसाथ अनन्त ज्ञान–शक्ति–आनन्द का अनुभव करता है और जब वह नीचे उतरकर सामान्य चेतना में आता है, अर्थात् जब उसको दुई की चेतना भी प्राप्त होती है और वह मजज़ूब-ए-कामिल की अवस्था में और अधिक नहीं होता, तब उसको न केवल ज्ञान–शक्ति–आनन्द का अनुभव होता है वरन् वह अपना मानव शरीर धारण किये हुये उनका प्रयोग भी करता है।

२१. फ़ना और बक़ा की सूफ़ी कल्पना (१५४)

फ़ना और बक़ा शब्दों का, जैसा सूफ़ी लोग समझते हैं, एक संक्षिप्त अध्ययन है। प्रत्येक भूमिका में खुद उसका फ़ना और बक़ा होता है। यह याद रखना चाहिये कि भूमिकाओं का फ़ना सातवीं भूमिका का फ़ना नहीं है, और भूमिकाओं का बक़ा कुतुब अवस्था—पूर्णता की अवस्था—का बक़ा नहीं है।

सूफ़ी ज्ञान मार्ग में तुलना की निम्नलिखित कुछ खास बातें हैं, और यह दिखाई देगा कि उनका स्पष्टीकरण अधिकांश मात्रा में सातवीं भूमिका के सम्बन्ध में है और उनके शब्द वास्तव में इन्द्रियातीत ज्ञान रखते हैं।

फ़ना का शाब्दिक अर्थ है मिटा देना अथवा नाश कर देना। यह एक अवस्था है जो स्थायी नहीं होती।

बक़ा का शाब्दिक अर्थ है स्थायित्व और वह अवस्था है जो सदैव रहती है।

फ़ना का अर्थ है ईश्वर की ओर यात्रा करने का अन्त।

बक़ा का अर्थ है परमात्मा के अन्दर यात्रा करने का प्रारम्भ।

फ़ना को गुण के रूप में न समझना चाहिये; वह पानी में शकर डालकर घोल तैयार करने की तरह नहीं है। हुजवीरी के अनुसार, इससे सार तत्त्व के लोप होने का अर्थ ध्वनित नहीं होता।

बक़ा उसको प्रस्तुत करता है जो पहले अनास्तित्व न था और, परमात्मा के तत्त्व के समान, वह बाद में अनास्तित्व न होगा।

फ़ना ग़ैर (दूसरा, अर्थात् दुई) के ज्ञान का लोप है।

बक़ा परमात्मा का ज्ञान है जो मनुष्य को ग़ैर का लोप हो जाने के बाद प्राप्त होता है।

फ़ना महमूद शबिस्तरी कृत गुलशन-ए-राज़ में प्रकट किये गये मत के अनुसार, मनोविकार की, अपनी आत्म-इच्छा और अपने अहङ्कार की मृत्यु है, जिसके फलस्वरूप शाश्वत जीवन (बक़ा) की आध्यात्मिक जागृति होती है। इसका अर्थ मिथ्या अहं (खुदी) की विस्मृति भी है जिसने इतने लम्बे समय तक मनुष्य की यथार्थता (परमात्मा) को खुद उससे छिपाये रक्खा है। यदि जिज्ञासु को यह ज्ञान हो जाय कि उसकी खुदी मिट गई है, तो यह एक दोष है। सबसे ऊँची अवस्था है विनाश से विनाश का मिट जाना।

फ़ना दो प्रकार का होता है, बाहरी और भीतरी।

बाहरी फ़ना; यह कर्मों और दिव्य कर्मों के तेज का फ़ना है। इस फ़ना को प्राप्त होने वाला व्यक्ति ईश्वरीय कर्मों में इतना निमग्न हो

जाता है कि उसको खुद अपनी और हर चीज की विस्मृति हो जाती है, सिवाय इच्छा और ईश्वर की मर्जी के। कुछ पवित्र साधकों ने इस मुकाम को प्राप्त कर लिया है जिसमें वे शारीरिक आवश्यकताओं के प्रति इतने उदासीन होते हैं कि परमात्मा उनकी देख-रेख करने के लिये किसी को नियुक्त करता है।

आन्तरिक फ़ना; यह ज़ात (यथार्थता) में गुणों का फ़ना है। जिस मनुष्य को परमात्मा के गुणों के प्रकाशन में हाल (अनुभव) प्राप्त है वह कभी-कभी अपने गुणों के फ़ना में लीन होता है और कभी-कभी परमात्मा के असर एवम् तेज (तजल्ली) के आविर्भाव में लीन होता है।

बाहरी फ़ना हृदय के स्वामियों का और हाल के साथियों का एक अङ्ग है।

आन्तरिक फ़ना श्रेष्ठ पुरुषों का विशिष्ट लक्षण है जो हाल को लाँघ गये हैं और हृदय के पर्दे को बेधकर निकल गये हैं; और हृदय के मनुष्यों के समाज से हृदयों को बदल देने वाले (परमात्मा) के समाज में शामिल हो गये हैं।

बक़ा जो बाहरी फ़ना के सम्बन्ध में यह है : इच्छा और वासना की फ़ना के बाद परमात्मा गुलाम को इच्छा एवं मर्जी का स्वामी बना देता है और उसके हाथ में पथ-प्रदर्शन का पूर्ण नियन्त्रण दे देता है।

बक़ा आन्तरिक फ़ना के सम्बन्ध में यह है : आत्मा न तो सृष्टि के पर्दे के रूप में परमात्मा बनती है और न सृष्टि, परमात्मा का पर्दा बनती है। फ़ना में परमात्मा सृष्टि का पर्दा होता है, और उन लोगों के लिये जो फ़ना की अवस्था तक नहीं पहुँचे, सृष्टि परमात्मा का पर्दा होती है।

२२. चेतना का प्रतिवर्द्धन (१५६)

मेहेरबाबा और आगे बतलाते हैं :—

"पूर्ण चेतना, जो पहली मानव योनि लेते ही पूर्ण हो जाती है, क्रमशः एक भूमिका के बाद दूसरी भूमिका से पीछे को हटती जाती है। चेतना का यह प्रतिवर्द्धन (जो चेतना पहले ही पूर्ण हो चुकी है) प्रथम बार उस समय प्रारम्भ होता है जब गहरे गड़े हुये स्थूल संस्कार क्षीण

हो जाते हैं। इस प्रकार चेतना पहली भूमिका का अनुभव करती है। जैसे-जैसे संस्कार और भी अधिक क्षीण होते जाते हैं चेतना और पीछे को हटती जाती है (प्रतिवर्द्धित होती है) और दूसरी भूमिका का अनुभव करती है, और इसी प्रकार बढ़ती चली जाती है जब तक कि सातवीं भूमिका प्राप्त नहीं हो जाती।

"चेतना के पीछे जाने का अर्थ होता है कि पहले चेतना जो पूर्ण थी, स्थूल संस्कारों पर केन्द्रित थी और आत्म पर केन्द्रित होने से बहुत दूर थी। बाद में, प्रतिवर्द्धन की प्रक्रिया में, जैसे-जैसे संस्कार क्रमशः अधिक और अधिक क्षीण होते जाते हैं, जो वे द्वन्द्वों के विविध अनुभवों की सहायता से होते हैं, वैसे वैसे चेतना भी क्रमशः अपना केन्द्रीकरण निरन्तर खुद की ओर करती है। सातवीं भूमिका में चेतना संस्कारों से रञ्जित चेतना नहीं रहती, और इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि चेतना खुद अपने आत्म के ऊपर केन्द्रित होती है। इसका यह अर्थ होता है कि चेतना अपना तादात्म्य आत्म से करती है जैसे ही सम्पूर्ण संस्कार नष्ट हो जाते हैं।"

२३. पाँच बीजगणित रूप परिभाषायें (१६२)

[१] परमात्मा = अनन्त सत् + अनन्त ज्ञान + अनन्त आनन्द ऋण अचैतन्यता
= सत् + चित् + आनन्द ऋण अचैतन्यता
= सच्चिदानन्द ऋण अचैतन्यता

[२] पूर्ण पुरुष = कुतुब = सद्गुरु
= अनन्त सत् + अनन्त ज्ञान + अनन्त आनन्द + चैतन्यता
= एकसाथ अनन्त होने और सीमित होने की चेतना।

[३] उद्धारक = पूर्ण पुरुष = इन्सान-ए-कामिल = पुरातन पुरुष = बुद्ध
= साहिब-ए-ज़मां = रसूल = अवतार = जीवन्त क्राईस्ट

= अनन्त सत् + अनन्त ज्ञान + अनन्त आनन्द + चेतना
= एक ही समय असीमित होने की और सीमित होने की चेतना ।

[४] मनुष्य
अथवा
जीव-आत्मा
अथवा
इन्सान
} = शरीर + प्राणशक्ति + मन + चेतना + आत्मा

[५] मजजूब-ए-कामिल, = ईश्वरीय "अहं"
= दिव्य चेतना ऋण सीमित चेतना

२४. चार प्रकार की मुक्ति अथवा मोक्ष (१६३)

पूर्णता के विविध प्रकारों का वर्णन करने के लिये, कुछ विशिष्ट सुपरिचित शब्दों का संक्षिप्त प्रयोग यहाँ किया गया है, ताकि जिज्ञासु उनको ईश्वर-साक्षात्कार के विषय के ढांचे में फ़िट कर सके। पूर्णता के इन प्रकारों का वर्णन करने में, विशेष शब्द मुक्ति का प्रयोग, जिसका शाब्दिक अर्थ "छुटकारा" होता है, यहाँ चार प्रकार की मुक्ति की परिभाषा देने के लिये किया गया है।

निम्नलिखित चार्ट में आत्मा की चारों प्रकार की मुक्ति सातवीं भूमिका से सम्बन्ध रखती है।

१) साधारण मुक्ति (साधारण मोक्ष)
२) विदेह मुक्ति
३) जीवन मुक्ति
४) परम मुक्ति

१) साधारण मुक्ति (मोक्ष)

साधारण मुक्ति (नजात) केवल मृत्यु के बाद कुछ असाधारण, ईश्वर को डरने वाली, सत्य-प्रिय, श्रेष्ठ आत्माओं को प्राप्त होती है; और यह मुक्ति आमतौर पर आत्मा के शरीर छोड़ देने के तीन से पांच दिनों के बाद आती है। क्योंकि यह मुक्ति बिना शरीर के प्राप्त होती है,

अत: व्यक्तिगत आत्मा केवल परमानन्द का उपभोग करती है; और यद्यपि शक्ति एवं ज्ञान वहाँ विद्यमान होते हैं, तथापि ऐसा मुक्त उनका अनुभव नहीं कर सकता। ऐसी मुक्त आत्मा को केवल मिलन के आनन्द की चेतना प्राप्त होती है, और उसके लिये सृष्टि का कोई अस्तित्व नहीं रहता, जिसके जन्मों और मृत्युओं के निरन्तर चक्र का अन्त हो जाता है।

निर्विकल्प समाधि को यह साधारण मुक्ति अथवा मोक्ष अवस्था समझने की भ्रान्ति न करनी चाहिये। यदि आत्मा मुक्ति अवस्था को पहुँच जाती है, तो ऐसा भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद होता है। ऐसी आत्मा परमात्मा के पास पहुँच जाती है, किन्तु यह घटना केवल मृत्यु के बाद होती है। इस प्रकार एक ओर साधारण मुक्ति और दूसरी ओर निर्विकल्प समाधि के बीच महत्वपूर्ण भेद होता है, क्योंकि निर्विकल्प समाधि का अनुभव तब होता है जब आत्मा शरीर धारण किये रहती है और इस प्रकार विदेह मुक्त हो जाती है।

२) विदेह मुक्ति

कुछ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मायें जो विदेह मुक्त कहलाती हैं, साक्षात्कार प्राप्त होने के बाद तीन या चार दिन तक शरीर बनाये रखती हैं। उनकी चेतना खुद उनके यथार्थ स्वरूप में पूर्णतया निमग्न हो जाती है, और इसलिये उनको न तो अपने शरीरों की ओर न सृष्टि की चेतना होती है। उन्हें निरन्तर परमात्मा के अनन्त आनन्द, शक्ति और ज्ञान का अनुभव प्राप्त होता है, जो परमात्मा अब खुद उनका आत्मस्वरूप बन गया है, किन्तु वे न तो सृष्टि में उनका चैतन्यरूप से प्रयोग कर सकते हैं और न मुक्ति प्राप्त करने के लिये दूसरों की सहायता कर सकते हैं। फिर भी, पृथ्वी पर उनकी उपस्थिति, कुछ दिनों के लिये जब तक वे यहाँ बने रहते हैं, अनन्त शक्ति, ज्ञान और ईश्वरीय आनन्द प्रसारित करने का केन्द्र होती हैं; और जो लोग उनके पास जाते हैं, उनकी सेवा और पूजा करते हैं, उनका बहुत कल्याण होता है। अन्य आत्मायें अपने 'प्रारब्ध' के वेग के अनुसार अपने शरीर को वर्षों तक बनाये रखती हैं। विदेह मुक्त ब्रह्मीभूत, अथवा सूफ़ियों का मजज़ूब-ए-कामिल होता है और वह आपहीआप ईश्वर की त्रि-प्रकृति—सत्-चित्-आनन्द—का अनुभव करता है।

३) जीवन मुक्ति

जीवनमुक्त (आज़ाद-ए-मुतलक) तुर्यावस्था (फ़ना-मा-अल-बक़ा) में सर्वानन्द, सर्वज्ञान और सर्वशक्ति, का आनन्द लेता है, और उसको चेतना "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था की और तीनों लोकों की होती है—और स्थूल, सूक्ष्म और मनोलोक की भी होती है; लेकिन ड्यूटी प्राप्त न होने के कारण वह दूसरों के लिये ज्ञान, आनन्द और शक्ति का प्रयोग नहीं करता।

४) परम मुक्ति

परम मुक्त, जो पूर्ण पुरुष, कुतुब अथवा सद्‌गुरु कहलाता है, ईश्वर-साक्षात्कार के पश्चात् सामान्य चेतना में वापस आता है, और साथ-साथ उसको "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था की चेतना होती है, और तीन सापेक्षिक अस्तित्वों और उनके अनुरूप लोकों की चेतना होती है। वह न केवल सर्वशक्ति, सर्वज्ञान, सर्वानन्द का रस लेता है, बल्कि उनका प्रयोग अस्तित्व की सभी भूमिकाओं में व्यापक मन और व्यापक शरीर के द्वारा करता है।

ऐसे परम मुक्त जनों को खुद परमात्मा स्वरूप होने की चेतना होती है और वह चेतना उसके अप्रकट और प्रकट दोनों पहलुओं में होती है। उनको खुद दोनों अपरिवर्तनीय दिव्य सत्त्व (ज़ात) और अनन्त विविध आविर्भावों (सिफ़त) का ज्ञान होता है। वे खुद अपने को सृष्टि से अलग परमात्मावत् कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता के रूप में अनुभव करते हैं; और परमात्मा को उस रूप में अनुभव करते हैं जो सृष्टि के बन्धनों को स्वीकार करके उनको लांघ गया है। इसका यह अर्थ है कि ऐसे व्यक्ति को परमात्मा की दसों अवस्थाओं में प्रत्येक दशा की चेतना होती है, जो पृष्ठ १८६ के सामने लगे चार्ट में दिखाया गया है।

परम मुक्त निरन्तर परमात्मा की त्रि-प्रकृति—सत्-चित्-आनन्द की निपट शान्ति एवं पूर्णता का अनुभव एवं प्रयोग करता है। वह सृष्टि की दिव्य लीला के पूर्ण आनन्द और क्लेश का रस लेता है। उसको हरेक चीज़ में खुद परमात्मा होने का ज्ञान होता है और इसलिये वह हरेक को आध्यात्मिक सहायता देने में समर्थ होता है, और वह मुक्त के चार प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार के रूप में दूसरी आत्माओं को ईश्वर का साक्षात्कार करा सकता है। वास्तव में वह खासकर मानवजाति का और आमतौर पर सृष्टि का सहायक होता है।

२५ चार प्रकार की मुक्ति का सारांश (१६३)

मुक्ति के इन चार प्रकारों के सारांश का खुलासा मेहेरबाबा निम्नलिखित रूप से करते हैं :

मुक्ति का प्रकार	चेतना	द्वैत में कर्तव्य
साधारण मुक्ति	केवल परमात्मा; "मैं-परमात्मा-हूँ" अथवा दुई की चेतना नहीं।	नहीं
विदेह मुक्ति	"मैं-परमात्मा-हूँ" (सत्-चित्-आनन्द अथवा ज्ञान, शक्ति और आनन्द) दुई की चेतना से रहित।	नहीं
जीवन मुक्ति	दुई की चेतना के साथ "मैं-परमात्मा-हूँ" (सत्-चित्-आनन्द)।	नहीं
परम मुक्ति	एकसाथ "मैं-परमात्मा-हूँ" (सत्-चित्-आनन्द हूँ) के सहित क्रियाशील दुई और दिव्यता।	हाँ

[आगे पूरक के अन्त और उपसंहार के बीच में दिया गया सारांश भी देखिये। सम्पादक]

२६ पूर्णता के लक्षण (१६६)

एक शिष्य ने एक बार मेहेरबाबा से प्रार्थना की कि पूर्ण पुरुष को निश्चितरूप से पहचानने की रीति क्या है ? तब मेहेरबाबा ने समझाया : "साधारण पुरुष छठवीं भूमिका तक आध्यात्मिक उपलब्धि की विभिन्न स्थितियों के बीच सन्तोषपूर्वक अन्तर जानने में समर्थ नहीं हो सकता। वह यह जानने के योग्य हो सकता है कि ऐसी आत्मायें ऊँची आत्मायें हैं, लेकिन वह उनकी उन्नति की सीमा नहीं जान सकता। किन्तु जब सत्य की सच्ची एवं धैर्यपूर्वक खोज करने वाला पथिक उस व्यक्ति के सम्पर्क में आता है जो आध्यात्मिक प्रगति में पूर्ण है, तब उसको विशेष बाहरी लक्षण दिखाई पड़ेंगे जो अखण्डरूप से आन्तरिक आध्यात्मिक पूर्णता से सम्बन्धित हैं।

"इन लक्षणों में सबसे महत्वपूर्ण लक्षण तीन हैं : पहले, पूर्णता न केवल 'परमात्मा के साथ ऐक्य', है, वरन् वह 'सबकुछ से ऐक्य' का सतत् एवं अबाध्य अनुभव होता है। सद्गुरु सतत् खण्डित हुये बग़ैर, खुद अपने आत्म का, प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त सत्ता के रूप में, अनुभव एवं साक्षात्कार करता है। यह आन्तरिक अनुभव बाहरी रूप से सहज प्रेम में अपनेआप को प्रगट करता है कि जिसका अनुभव ऐसा व्यक्ति सकल सृष्टि की ओर महसूस अथवा अभिव्यक्त करता है। उसके लिये कुछ भी आकर्षक अथवा अनाकर्षक नहीं होता। भला और बुरा, सन्त और पापी, सुन्दरता और कुरूपता, बुद्धिमत्ता एवं मूर्खता, स्वास्थ्य एवं बीमारी—ये सब उसकी स्वयं अपनी अभिव्यक्ति करने की रीतियाँ हैं। जब मूर्तमान पूर्णता प्रेम करती है, दुलार करती है, अथवा किसी जीवित प्राणी को भोजन कराती है, तब वह ऐसा महसूस करती है कि जैसे वह खुद अपने आपा से प्रेम कर रही हो, दुलार कर रही हो और उसको भोजन करा रही हो। इस स्थिति में दूसरेपन का लेशमात्र चिन्ह नहीं रहता।

"दूसरा लक्षण परमानन्द का वातावरण है जो पूर्णता अपने निकटतम पड़ोस में प्रसारित करती है, अर्थात् वह वातावरण जिसे अजनबी व्यक्ति उसकी खोज में, उसकी अनुभूति किये बग़ैर नहीं रह सकता। सद्गुरु न केवल अनन्त आनन्द का रस लेता है बल्कि वह विश्वव्यापी पीड़ा का अनुभव भी करता है। तथापि, पीड़ा की तीक्ष्णता परमानन्द की प्रबल अनुभूति के द्वारा नष्ट हो जाती है अथवा दब जाती है, इसलिये पूर्णता हर प्रकार की पीड़ा एवं उपद्रव के सन्मुख बाहर से आनन्द से भरपूर शान्त दिखाई पड़ सकती है :

"पूर्णता का तीसरा लक्षण उसकी वह शक्ति है कि वह अपना सामंजस्य मानवता के किसी भी स्तर से कर सकती है। वह सिंहासन पर तथा गन्दे पनाले में समानरूप से उदासीन रह सकती है। वह अत्यन्त स्वाभाविक रूप से गरीबों के साथ मितव्ययी, अमीरों के साथ अमित-व्ययी, बादशाहों के साथ शाहंशाह, विद्वानों के साथ बड़ा ज्ञानी और निरक्षर तथा अज्ञानी लोगों के साथ सीधी-सादी हो सकती है। जिस प्रकार विद्वान अध्यापक प्रारम्भिक तथा स्नातक विद्यार्थियों को विभिन्न रीतियों से अंग्रेज़ी की शिक्षा देता है, उसी प्रकार से सद्गुरु भी उन लोगों के स्तर पर सामंजस्य स्थापित करता है जिनको वह आध्यात्मिक ज्ञान में ऊँचा उठाना चाहता है।"

एक बार घाऊस अली शाह क़लन्दर ने, आध्यात्मिक पूर्णता (फ़कीरी) के विषय पर प्रवचन देते समय, कहा था : "शिष्य को पूर्णता प्रदान करना एक निमेष की बात है । कान के अन्दर फूंका एक शब्द मनुष्य को सीमितता से अनन्तता तक ऊँचा उठाने के लिये काफी है, और ऐसा रूपान्तर प्रार्थनाओं अथवा उपवासों पर निर्भर नहीं रहता ।"

मौलाना रूमी ने कहा है :

बाद-ए ऊरा क़ाबलियत-ए शर्त नीस्त
बल्के शर्त-ए क़ाबलियत दाद-ए ऊस्त ।

"ईश्वरीय कृपा योग्यता की शर्तों से सीमित नहीं होती ।
योग्यता, वास्तव में, दैवी कृपा से अनुकूलित होती है ।"

यह सुनकर, एक शिष्य ने कहा, "जनाब, यदि ईश्वर-साक्षात्कार की प्राप्ति इतनी आसान होती, तब क्या कारण है कि शिष्यगण को परीक्षाओं और कठोर संयमों से अनिवार्यरूप से लम्बे समय तक गुज़रना पड़ता है ?" इसके उत्तर में, घाऊस अली शाह ने निम्नलिखित दृष्टान्त दिया :

"एक विशेष आदमी ने, जिसके पास तमाम वर्षों से मोर्चा लगे और धूल से भरे दो बर्तन थे, उनको साफ़ कराने का निश्चय किया । उसने एक बर्तन एक व्यवसायी को दिया जिसने उसको ४० दिन में साफ़ करने का वादा किया, और दूसरा बर्तन एक दूसरे आदमी को दिया जिसने वह कार्य केवल एक दिन में कर देने का वचन दिया । व्यवसायी ने वैज्ञानिकरूप से अपने बर्तन को साफ़ करने का कार्य प्रारम्भ किया । उसने उसको ४० दिन तक विभिन्न रीतियों से साफ़ किया, और उसने बर्तन को न केवल नया बना दिया बल्कि इस्तेमाल करने योग्य एक चीज़ भी बना दिया ।

"दूसरे आदमी ने, जिसने उस कार्य को एक दिन में पूरा करने का वादा किया था, बर्तन को आग की बड़ी भट्ठी में जलाने की बहुत कठोर विधि अपनायी । इस क्रिया से बर्तन तेज़ी से और पूर्णरूप से साफ़ हो गया, लेकिन उसको कुरकुरा एवं निरर्थक कर दिया । इसलिये यह देखा जा सकता है कि यद्यपि दोनों बर्तन साफ़ कर दिये गये थे, लेकिन

केवल वह बर्तन जो लम्बी प्रक्रिया से गुज़रा था, प्रयोग में आने योग्य बना था।"

गुरुदेव ने अपना प्रवचन जारी रखते हुये कहा कि इसी कारण से सद्‌गुरु बिरले ही साधक को तत्क्षण ईश्वर-साक्षात्कार प्रदान करता है, किन्तु वह साधक को धीरे-धीरे साक्षात्कार की ओर अग्रसर करता है जिससे कि वह ईश्वर के काज के लिये उपयोगी और हट्टा-कट्टा पात्र बन सके।

इस सम्बन्ध में, मेहेरबाबा ने एक बार अपने शिष्यों से कहा था, "ईश्वर-साक्षात्क़ार किसी को भी एक निमेष में प्रदान किया जा सकता है। लेकिन तब वह मनुष्य की खुदी के लिये होगा और उससे दूसरों को लाभ न होगा। घोर तपस्या, आत्म-त्याग और कठिनाई की अवधि, जिससे मनुष्य सद्‌गुरु के साथ गुज़रता है, शक्ति को जन्म देती है और साक्षात्कार प्राप्त हो जाने पर दूसरों को आध्यात्मिक जागृति प्रदान करने के लिये अधिकार देता है।"‡

२७. हाल और मुक़ाम (१६७)

सूफ़ी ज्ञानमार्ग की दृष्टि से यहाँ हाल (अनुभव) और मुक़ाम (स्थिति) का सारान्श दिया जाता है। कुछ सूफ़ियों का विश्वास है कि हाल और मुक़ाम के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं है। वे कहते हैं कि प्रत्येक मुक़ाम प्रारम्भ में हाल होता है और विकसित होकर अन्त में मुक़ाम बन जाता है। यह बात सब भूमिकाओं पर लागू होती है जिनका समावेश सूक्ष्म और मनोलोकों में होता है। जो भी हो, अनेक लोग हाल को मुक़ाम से भिन्न मानते हैं।

बसरा के अब्दुल्ला हरीस मुसाहिबी के मतानुसार :

हाल परमात्मा की देन है; वह इतनी क्षणभंगुर होती है जितनी बिजली होती है, और अभ्यास (मुजाहिदा) द्वारा सुरक्षित होती है।

मुक़ाम प्रायश्चित का परिणाम होता है, और वह हाल के निरन्तर आच्छादन में सुरक्षित रहता है।

---

‡ (इसे भी पढ़िये : आध्यात्मिकता पूर्णता और दुई के प्रदेश से सम्बन्धित सापेक्षिक पूर्णता के बीच का अन्तर समझने के लिये, पाठक मेहेरबाबा कृत "परिपूर्णता", शीर्षक सम्भाषण, १ : ११५–१२०, का अध्ययन करें। —सम्पादक)

अवारीफुल-मारिफ़ के लेखक ने उसको निम्न प्रकार से प्रगट किया है :

हाल एक छिपी हुई घटना का द्योतक है जो ऊपर की दुनियाँ से यात्री के हृदय पर उतरता है, और तब तक जाना और आना जारी रखता है जब तक कि ईश्वरीय आकर्षण उसको नीचे से नीचे स्तर से लेकर ऊँचे से ऊँचे स्तर पर नहीं ले जाता।

मुक़ाम पथ पर स्थित स्टेशन हैं जिस पर तीर्थयात्री पहुँचता है। वह उसके प्रवास का स्थान बना रहता है जब तक कि वह और आगे नहीं बढ़ता।

हाल तीर्थयात्री के नियन्त्रण में नहीं रहता; तीर्थयात्री उससे नियन्त्रित होता है।

मुक़ाम यात्री के शासन में होता है।

हाल एक देन (माओहिब) है।

मुक़ाम एक (कस्ब) उपलब्धि है।

हाल कभी मुक़ाम से सम्बन्धित हुये बग़ैर नहीं हो सकता।

मुक़ाम कभी हाल से सम्बन्धित हुये बग़ैर नहीं हो सकता।

शेख मुहम्मद इब्राहीम, जो घाज़ूर-ए-इलाही के नाम से भी प्रसिद्ध है, अपनी कृति इर्शादत में कहता है :

जब हाल जारी रहता है, तो वह मुक़ाम बन जाता है। जिस किसी को भी हाल एक बार प्राप्त होता है वह नवसिखुवा होता है, और जो कोई भी उसको अन्तर में बनाये रखता है वह अनुकूल बन जाता है।

मेहेरबाबा ने समझाया है कि :

शब्द के सामान्य अर्थ में, हाल (जिसमें नियन्त्रित और अनियन्त्रित दोनों प्रकार के अति आनन्द का समावेश होता है) पथ की पहली से लेकर छठवीं भूमिकाओं (Stages) पर सापेक्षिक अस्तित्वों का भीतरी अनुभव है। विशेष अर्थ में, हाल महान ईश्वरीय आनन्द की अवस्था है और उसको अपने सापेक्षिक मुक़ाम के अनुसार सदैव शक्ति के अन्शों में अनुभव प्राप्त होता है। वेदान्त में हाल भाव कहलाता है और मुक़ाम स्थान कहलाता है।

मुक़ाम एक दी हुई भूमिका में तीर्थयात्री का प्रवास, उस विशेष हाल में होता है।

हाल और मुक़ाम छठवीं भूमिका तक और उसके अन्तर तक साथ-साथ जाते हैं। हाल सदैव मुक़ाम पर हावी रहता है।

हाल और मुक़ाम का अस्तित्व सातवीं भूमिका पर नहीं होता।

जहाँ कहीं भी हाल है, वहीं दुई है। जब कोई व्यक्ति सातवीं भूमिका से नीचे उतर कर सामान्य चेतना में आता है और कर्तव्य के लिए अपनेआप को किसी भूमिका पर स्थापित करता है, तब वह खास भूमिका उसका मुक़ाम बन जाती है। इस प्रकार कुतुब (सद्गुरु) के लिये कोई हाल नहीं है, केवल मुक़ाम है। साधारण पुरुष, जो स्वभाव से भावुक होते हैं, सङ्गीत सुनते हुये साधारण हाल का आनन्द रस चख सकते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या हाल है और उसकी तुलना पथ पर चलने वाले पथिक के आध्यात्मिक हाल से नहीं करनी चाहिये।

२८ अवतार का अवतरण (१७७)

बाबा से प्रश्न किया गया कि क्या अवतार प्रथम व्यक्तिगत आत्मा थी या नहीं जिसको ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त हुआ था ? बाबा ने उत्तर दिया:—

"वह ईश्वर ही था जिसको पहले-पहल अपार चैतन्यता प्राप्त हुई थी (ईश अवस्था २—ब में इसकी व्याख्या देखिये)। इस सबका यह अर्थ है कि परमात्मा ने ही पहले-पहल स्वयं अपना साक्षात्कार प्राप्त किया। उसके साथ-साथ, परमात्मा अपनी २—अ अवस्था में अपारतया अचैतन्य है (ईश अवस्था २—अ में इसकी व्याख्या देखिये)। परमात्मा की अन्य अवस्थायें और समस्त ईश्वरीय स्थितियाँ परमात्मा २—अ की उपज हैं जो अनन्त चैतन्यता प्राप्त करने के लिये नित्य अभिलाषा करती हैं।

"इस सबके फलस्वरूप, हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य परमात्मा बन जाता है।

"सद्गुरु नर-नारायण (मनुष्य का ईश्वर बनना) है और उसको विकास एवं प्रतिवर्द्धन की प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता था, जबकि अवतार ईश-पुरुष है; अर्थात् परमात्मा विकास और प्रतिवर्द्धन की प्रक्रिया से होकर गुजरे बग़ैर सीधेसीध मनुष्य बन जाता है।

"पाँच सद्गुरु (कुतुब, पूर्ण पुरुष) अवतार (रसूल, क्राईस्ट, बुद्ध) को पृथ्वी पर उतारते हैं और इसलिये पृथ्वी पर प्रथम अवतार का अवतरण, उस अवतरण को लाने के लिये, पहले उन पाँच सद्गुरुओं के होने के बग़ैर सम्भव न था। इसके फलस्वरूप प्रारम्भ में पहले पाँच सद्गुरुओं को ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त हुआ और फिर पृथ्वी पर अवतार का पहला अवतरण हुआ ।

"भले ही आदम के समय से २६ अवतार हुये हैं, अथवा एक लाख चौबीस हज़ार नबी हुये हैं जिसका दावा कभी-कभी किया जाता है, और चाहे ईसामसीह अन्तिम एवं एकमेव मसीहा थे अथवा मुहम्मद अन्तिम नबी थे, यह सब निरर्थक और महत्वहीन होता है जब हम अनन्तता और सत्यता पर विचार करते हैं। यह वादविवाद करना बिल्कुल तुच्छ होता है कि दस अथवा छब्बीस अथवा दस लाख अवतार हुये हैं। सत्य यह है कि अवतार सदैव वही एक होता है और पाँच सद्गुरु अवतार को पृथ्वी पर उतारते हैं। ऐसा युगों-युगों से होता आया है, और ऐसे लाखों काल चक्र गुजर गये होंगे और अनन्तता पर लेशमात्र प्रभाव डाले बग़ैर गुज़रते रहेंगे।"

२८ सातवीं भूमिका का ज्ञानपथ (१७७)

मेहेरबाबा मजज़ूब, आज़ाद-ए-मुतलक़, कुतुब, और रसूल से सम्बन्धित, सातवीं भूमिका "मैं-परमात्मा-हूँ"‡ के ज्ञानमार्ग का वर्णन क्रमशः निम्नलिखित रूप से करते हैं :—

१ मजज़ूब (ब्रह्मीभूत)
अनल हक़—इसका अर्थ है "मैं परमात्मा हूँ" (अनन्तरूप से)।

२ आज़ाद-ए-मुतलक़ (जीवनमुक्त)
अनल हक़, सहित
हमा बा मन अस्त—इसका अर्थ है "सबकुछ मेरे साथ है।"

३ कुतुब (सद्गुरु)
अनल हक़, और उसके साथ-साथ
हमा मन अम—इसका अर्थ है "सबकुछ मैं हूँ।"

‡ भौतिक मृत्यु के बाद उन सबका ज्ञान मार्ग अनन्तरूप से "मैं परमात्मा हूँ" बना रहता है।

हमा दर मन अस्त—इसका अर्थ है "सबकुछ मुझमें है।"
हमा अज़ मन अस्त—इसका अर्थ है "सबकुछ की उत्पत्ति मुझसे हुई है।"

४ साहेब-ए-ज़मां (अवतार)‡
अनल हक़, और उसके साथ-साथ
मन हमा अम—इसका अर्थ है "मैं हर चीज हूँ।"
मन दर हमा अम—इसका अर्थ है "मैं हर चीज में हूँ।"
हमा अज़ मन अस्त—इसका अर्थ है "हर चीज की उत्पत्ति मुझसे है।"
हमा दर मन अस्त—इसका अर्थ है "हर चीज मुझमें है।"

३०. अवतार और सद्गुरु (१७८)

बाबा जो अर्थ प्रकट करना चाहते हैं वह यह है : "जब यह कहा जाता है कि सद्गुरु स्वस्थ है अथवा बीमार है, तो यह सब साधारण मानव प्राणी कहते हैं और देखते हैं और महसूस करते हैं। सद्गुरु के दृष्टिकोण से अन्तर्निहित सत्य यह है कि न तो अच्छा स्वास्थ्य और न बीमारी और न कोई भी चीज उसकी अनन्तता को लेशमात्र स्पर्श करती है, क्योंकि उसको माया की माया के रूप में पूर्ण चैतन्यता प्राप्त होती है और इस प्रकार उसको पूर्ण ज्ञान होता है कि स्वास्थ्य और बीमारी दोनों भ्रमात्मक हैं (अर्थात्, उनकी उत्पत्ति शून्य से है)।

"शून्य उसको कभी भी कैसे प्रभावित कर सकता था ? सद्गुरु ने विकास, पुनर्जन्म और प्रतिवर्द्धन की प्रक्रिया के द्वारा शून्य के संस्कारों को जीत लिया है, और उसने अनुभव कर लिया है कि वह सबकुछ है (जिसमें वास्तव में कुछनहीं का समावेश होता है) ; चाहे सद्गुरु सृष्टि के विधान के अन्दर बना रहे, स्वयं विधान उसका स्पर्श नहीं करता।

" 'सद्गुरु' का यह अर्थ है कि मनुष्य परमात्मा बन गया है। इसलिये, जब मनुष्य परमात्मा बन गया है तो उसके बाद वह कभी मनुष्य नहीं बन सकता, और यदि उसको मनुष्य के समान जीवन व्यतीत

‡ ['कुतुब' और 'साहेब-ए-ज़मां' (अवतार) के ज्ञान के बीच सूक्ष्म भेद की ओर संकेत करते हुये, मेहेरबाबा ने आगे समझाया :
'कुतुब' को ज्ञान होता है "मैं परमात्मा हूँ और परमात्मा सबकुछ है", जबकि 'साहेब-ए-ज़मां' का ज्ञान होता है "मैं परमात्मा हूँ और मैं सबकुछ हूँ।" —सम्पादक]

करना पड़ता है तो उसको इच्छानुरूप कार्य करते हुये मनुष्य की तरह कार्य, व्यवहार करना अथवा दिखना पड़ता है, अर्थात् मनुष्य की सभी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित करनी पड़ती हैं।

"सद्गुरु होते हुये, सद्गुरु इतने पूर्णरूप से सभी स्तरों और सब भूमिकाओं में पार्ट अदा करता है कि, सब परिस्थितियों में और सर्वथा वह सब साधारण मनुष्यों को ऐसा दिखाई पड़ता है कि वह स्थूल जगत के लोगों के बीच एक मनुष्य है। वह ऐसा भी दिखाई पड़ता है जैसे कि वह, उन लोगों के लिये जो सूक्ष्म भूमिकाओं में स्थित हैं, सूक्ष्म भूमिकाओं के मनुष्यों में एक है, और उन लोगों के लिये जो मनो भूमिकाओं में हैं वह ऐसा दिखाई पड़ता है जैसे कि वह उनमें से एक हो।

"सद्गुरु एकसाथ नीचे से नीचे और ऊँचे से ऊँचे स्तर पर होता है। एक ओर वह अनन्तता (यथार्थता) में स्थापित होता है और दूसरी ओर वह माया का स्वामी होता है। इस प्रकार सद्गुरु के शासन के अन्तर्गत दो चरमसीमायें होती हैं, और दो चरमसीमाओं के बीच समाधान केवल तभी स्थापित हो सकता है और क़ायम रह सकता है जब सभी बीच की स्थितियों और अवस्थाओं में सद्गुरु सब भूमिकाओं और सब स्तरों पर एकसाथ कार्य करता है।

"अवतार के उदाहरण में, कहानी बिल्कुल भिन्न होती है। समस्त अन्तर इस तथ्य में निहित होता है कि सद्गुरु का अर्थ है मनुष्य का परमात्मा बन जाना, जबकि अवतार का अर्थ है परमात्मा का मनुष्य बनना। 'अवतार' शब्द के पूरे अर्थ को समझना बहुत कठिन है। मानव-जाति के लिये यह घोषित करना सरल और आसान है कि अवतार परमात्मा है और इसका यह अर्थ है कि परमात्मा मनुष्य बन जाता है। लेकिन इस सबसे 'अवतार' शब्द का अर्थ ध्वनित अथवा प्राप्त नहीं होता।

"यह कहना अधिक उचित होगा कि अवतार परमात्मा है और परमात्मा समस्त मानवजाति के लिये मनुष्य बनता है और उसके साथ-साथ परमात्मा भी सृष्टि में सब गौरैया पक्षियों के लिये एक गौरैया बन जाता है, और सृष्टि में सब चींटियों के लिये एक चींटी बन जाता है, सृष्टि में सब सुअरों के लिये सुअर का बच्चा बन जाता है, सृष्टि में सब धूल कणों के लिये धूल का कण बन जाता है, सृष्टि में सब पवनों के लिये पवन का एक कण इत्यादि बन जाता है, अर्थात् हरेक और हर चीज़ के लिये जो सृष्टि में है वही बन जाता है।

"जब पाँच सद्‌गुरु परमात्मा के ईश्वरत्व को माया में उतारते हैं, तब इस ईश्वरत्व का प्रभाव माया के ऊपर छा जाता है और अपने-आप को अनन्त विविध योनियों में प्रस्तुत करता है—जैसे स्थूल, सूक्ष्म और मानसिक योनियाँ। इसके फलस्वरूप अवतारिक अवधियों में परमात्मा मानवजाति के रूप में मनुष्य और चींटियों की दुनियाँ में एक चींटी, इत्यादि के रूप में हिलमिल जाता है लेकिन दुनियाबी आदमी इसको देख नहीं सकता और इसलिये वह केवल यह कहता है कि परमात्मा मनुष्य बन गया है और वह मानवजाति की खुद अपनी दुनियाँ में इस समझ को पा जाने से सन्तुष्ट रहता है।

"मनुष्य चाहे जोकुछ समझे, यह तथ्य क़ायम रहता है कि अवतार बनता है और सद्‌गुरु अभिनय करता है।

"अवतार की बीमारी को मनुष्यों के कर्म अपने ऊपर लेने से कोई सरोकार नहीं होता क्योंकि अवतार परमात्मा है जो सर्वथा मनुष्य बन गया है, तो इसका कोई कारण नहीं है कि वह मानव प्राणी की सब स्वाभाविक प्रवृत्तियों के प्रति ग्रहणशील न हो। आखिरकार, परमात्मा मनुष्य बन गया है और वह वास्तव में मनुष्य है। लेकिन यद्यपि अवतार यथार्थरूप से बीमार हो जाता है, तो मनुष्य के रूप में जो बीमार हो जाता है, यह स्मरण रखना चाहिये कि उसके साथ-साथ उसकी अनन्त शक्ति, ज्ञान और परमानन्द की पृष्ठभूमि भी होती है।

"अवतार व्यक्तियों के कर्म कभी अपने ऊपर नहीं लेता किन्तु उसका ईश्वरत्व व्यापकरूप से कार्य करता है।"

३१. कर्म और अकर्म (१७६)

१. परमात्मा की परात्पर परब्रह्म अवस्था में अचैतन्य अकर्म होता है।

२. ईश्वर-साक्षात्कार की अवस्था में चैतन्य अकर्म होता है। यह परिपूर्णता की अवस्था है किन्तु सद्‌गुरु की अवस्था नहीं है।

३. (१ और २ के बीच की) मध्य अवस्था में चैतन्य कर्म होता है। कर्म संस्कारों की बढ़ती करते हैं। संस्कार उलट कर और अधिक कर्मों की बढ़ती करते हैं तथा बन्धन पैदा करते हैं। इस अवस्था में बन्धन होता है।

४. सातवीं भूमिका के मजजूब की अवस्था में अचैतन्य कर्म होता है ।

५. सद्गुरुओं की अवस्था में चैतन्य क्रियाशील अकर्म होता है। सद्गुरु संस्कारों से मुक्त होते हैं। उनके कोई संस्कार नहीं होते। इस रूप में, खुद उनके कर्मों के लिये कोई स्थान नहीं रह सकता। उनके जीवन अकर्म के जीवन होते हैं, किन्तु वे प्रचलित वातावरण की परिस्थितियों के कारण क्रियाशील हो जाते हैं। सद्गुरुओं के कर्म वातावरण से गतिशील होते हैं—उस समय जो भी वातावरण प्रबल होता है उससे गतिशील होते हैं।

उदाहरण :

१. परमात्मा की परात्पर-परब्रह्म अवस्था की तुलना झूलना में गहरी नींद में सोते हुये बच्चे से की जा सकती है। यह अचैतन्य अकर्म का एक उदाहरण है।

२. ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त व्यक्ति की अवस्था की तुलना (सद्गुरु की नहीं) एक बच्चे से की जा सकती है जो पूर्णतः जागृत हो किन्तु उस समय भी झूलना में पड़ा हो। यह चैतन्य अकर्म का एक उदाहरण है।

३. १ और २ अवस्था के बीच की तुलना एक बच्चे से की जा सकती है जो जागृत हो और झूलना के बाहर हो। यह चैतन्य कर्म का एक उदाहरण है।

४. सातवीं भूमिका के मजजूब की अवस्था की तुलना एक स्वप्नचारी व्यक्ति से की जा सकती है। स्वप्नचारी व्यक्ति स्वप्न में इधर-उधर चलता-फिरता है अथवा दूसरे कार्य करता है और उसको भान नहीं होता कि वह इस अवस्था में क्या कर रहा है। इसी प्रकार से सातवीं भूमिका का मजजूब कार्य करता है और उसको उन कार्यों की चेतना नहीं होती। उसका अचैतन्य कर्म है : वह खाता है, पीता है, बोलता है, इत्यादि। किन्तु यह सब उसका अचैतन्य कर्म है।

५. सद्गुरु की अवस्था की तुलना एक बच्चे से की जा सकती है जो बिल्कुल जागृत हो किन्तु झूलने के भीतर हो जो निरन्तर

मानवजाति के द्वारा झुलाया जाता हो। यह चैतन्य क्रियाशील अकर्म है। अकर्म झूलना के अन्दर होना है और क्रियाशील अकर्म दूसरे लोगों द्वारा झूलना को झुलाना है।

३२ दिव्य शासक मण्डल के विषय में मेहेरबाबा का मत (१७६)

मेहेरबाबा कहते हैं, "प्रत्येक काल युग‡ में, जो ७०० वर्ष से लेकर १४०० वर्ष तक रहता है, हरेक में ६५ से लेकर १२५ वर्ष के ग्यारह काल होते हैं। प्रत्येक युग के आदि से लेकर अन्त तक, कुल ५५ सद्गुरु रहते हैं और उसका यह अर्थ है कि प्रत्येक काल‡ में केवल पाँच (५) सद्गुरु होते हैं। अन्त में, प्रत्येक युग के ग्यारहवें काल में, अवतार (साहेब-ए-ज़मां) भी मौजूद होता है। ५५ सद्गुरुओं और अवतार के अतिरिक्त, प्रत्येक युग में ५६ मजज़ूब-ए-कामिल भी होते हैं। ये मजज़ूब, जिन्हें फ़ना-फ़िल्लाह की अवस्था का अनुभव होता है, सृष्टि की दिव्य लीला के संचालन में 'सुषुप्त' अथवा 'निष्क्रिय' भागीदार होते हैं।"

	पूर्ण पुरुष (सद्गुरु)	पूर्ण पुरुष (मजज़ूब-ए-कामिल)
प्रथम काल	५	७ [जिनमें से ४ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त होते ही भौतिक शरीर छोड़ देते हैं]
द्वितीय काल	५	३
तीसरा काल	५	७ [जिनमें से ४ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त होते ही भौतिक शरीर छोड़ देते हैं]
चौथा काल	५	३
पाँचवाँ काल	५	७ [जिनमें से ४ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त होते ही भौतिक शरीर छोड़ देते हैं]

‡ वेदान्त में कालचक्र 'युग' कहलाता है, और अवधि [*Age*] 'काल' कहलाती है; सूफ़ीमत वाले काल चक्र को 'दौर' अथवा 'ज़मां' कहते हैं और काल को वक़्त कहते हैं।

छठा काल	५	३	
सातवाँ काल	५	७	[जिनमें से ४ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त होते ही भौतिक शरीर छोड़ देते हैं।]
आठवाँ काल	५	३	
नवाँ काल	५	७	[जिनमें से ४ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त होते ही भौतिक शरीर छोड़ देते हैं।]
दसवाँ काल	५	३	
ग्यारहवाँ काल	५	६	[जिनमें से ३ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त होते ही भौतिक शरीर छोड़ देते हैं।]
अवतार १			
	५६	५६	

इस तालिका का अध्ययन करने में हमें स्मरण रखना चाहिये कि :—

(१) एक युग लगभग ७०० वर्ष से लगभग १४०० वर्ष तक चलता है और वह सब ११ कालों से बना होता है। प्रत्येक काल लगभग ६५ से १२५ वर्ष तक रहता है, उसकी लम्बाई, युग की लम्बाई के समान, भौतिक, आध्यात्मिक और विश्वव्यापी परिस्थितियों के ऊपर निर्भर होती है।

(२) प्रत्येक काल में कार्यकारी दिव्य शासक मण्डल में ७००० आध्यात्मिक प्राणी होते हैं (चाहे वे उन्नत हों अथवा पूर्ण हों)। उन्नत आध्यात्मिक प्राणी या तो पहली भूमिका से लेकर छठवीं भूमिका तक के बीच होते हैं और पूर्ण पुरुष या तो सद्गुरु होते हैं या मजजूब होते हैं। प्रत्येक काल में १ से १० सद्गुरु मिलकर ५ सद्गुरु (कुतुब) होते हैं, जिनमें से एक कुतुब-ए-इर्शाद होता है।

(३) एक युग के ग्यारहवें और अन्तिम काल में कुतुब-ए-इर्शाद उस रूप में कार्य करना बन्द कर देता है जैसे ही अवतार (साहेब-

ए-अमाँ अथवा उद्धारक) खुद अपना मसीहीपद (मुकाम-ए-मुहम्मदी) सदेह धारण करता है। इस प्रकार ५ सद्गुरुओं की संख्या प्रत्येक काल में वही बनी रहती है।

(४) पूर्ण मजजूब प्रत्येक क्रमबद्ध काल में संख्या में बदलते रहते हैं, इनमें से सात प्रथम काल में होते हैं और तीन दूसरे काल में होते हैं, सात तीसरे काल में होते हैं, और ऐसा ही क्रम चलता रहता है। तथापि ग्यारहवें काल में ६ मजजूब-ए-कामिल होते हैं।

उन कालों में जहाँ ३ मजजूबों से अधिक मजजूब होते हैं, अर्थात्, प्रथम, तृतीय, पाँचवाँ, सातवाँ, नवाँ और ग्यारहवें कालों में अतिरिक्त मजजूब, ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त करने (मजजूब-ए-कामिल होने) के बाद तुरन्त शरीर छोड़ देते हैं। इसका यह अर्थ है कि पहले, तीसरे, पाँचवें, सातवें और नवें कालों में, सात में से चार मजजूब ईश्वर-साक्षात्कार होने के बाद तुरन्त मर जाते हैं और ग्यारहवें और अन्तिम काल में जिनमें छः पूर्ण मजजूब होते हैं, तीन मजजूब साक्षात्कार प्राप्त करने के बाद तुरन्त मर जाते हैं।

इसका यह परिणाम होता है कि किसी दिये हुये काल में केवल तीन मजजूब शरीर में बने रहते हैं। इस प्रकार कार्य करती हुई दिव्य मण्डली के दृष्टिकोण से प्रत्येक काल में वास्तव में केवल तीन मजजूब होते हैं।

मेहेरबाबा एक विशिष्ट काल के लिये, सात आध्यात्मिक भूमिकाओं के अन्दर और उसके बीच स्थित दिव्य शासक मण्डली के ७,००० सदस्यों का विभाजन निम्न प्रकार करते हैं :

पहली भूमिका में, और पहली तथा दूसरी के बीच, दूसरी और तीसरी के बीच, तीसरी और चौथी के बीच, चौथी और पाँचवीं के बीच, पाँचवीं और छठवीं के बीच भी निम्नरूप से विभाजन करते हैं :

छठवीं और सातवीं	...	...	...	...	५,६००
दूसरी भूमिका में	...	...	...	...	६६६
तीसरी भूमिका में	...	...	...	...	५५८
चौथी भूमिका में	...	...	...	...	५६
पाँचवीं भूमिका में	...	...	...	...	५६

छठवीं भूमिका में	५६
सातवीं भूमिका में (अर्थात्, शरीर धारण किये हुये मजजूब)	३
पूर्ण पुरुष (सद्‌गुरु)	५
	७,०००
अवतार, प्रत्येक युग के ग्यारहवें काल में, उनकी संख्या बढ़ाकर ७००१ कर देता है	७,००१

पृथ्वी पर मानवरूप में सदैव, सब अवधियों में और सब कालों में, ५६ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मायें अथवा शिव-आत्मायें होती हैं; और इन ५६ आत्माओं में केवल ८ आत्माओं को सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होती है और वे कार्य करती हुई दिव्य शासक मण्डल के क्रियाशील सदस्यों के रूप में कार्य करती हैं, जिनकी संख्या ७,००० सदस्यों की होती है, जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति अथवा परिपूर्णता के अनुसार चेतना की विविध भूमिकाओं पर निर्दिष्ट आध्यात्मिक ड्यूटियाँ करती हैं।

शेष ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त ४८ आत्मायें ७,००० सदस्यों के कार्यशील आध्यात्मिक मण्डल के बीच नहीं होतीं। वे दूर रहती हैं और लोग उनकी दिव्यता को नहीं पहिचान पाते, यद्यपि उन सब ४८ आत्माओं को वही अनुभव प्राप्त होता है और वे अन्य ८ आत्माओं के समान "मैं परमात्मा हूँ" की उसी दिव्य अवस्था का अनुभव करती हैं और आनन्द लेती हैं। ये ४८ आत्मायें, प्रतीक्षा सूची में होती हैं और वे किसी भी आकस्मिक आध्यात्मिक घटना में सहायता करने के लिये उद्यत रहती हैं जो घटना एक अथवा अधिक कार्यकारी सदस्यों के शरीर छोड़ने पर पैदा होती है।

८ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्माओं में से जो ७,००० सदस्यों के कार्यकारी आध्यात्मिक शासक मण्डल में प्रमुख होती हैं, ५ सद्‌गुरु होती हैं, जिनको विस्तृत सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होने के अलावा, अखिल मानवजाति की आध्यात्मिक सेवा एवम् हित करने में एक ड्यूटी प्राप्त होती है। शेष ३ आत्मायें मजजूब होती हैं जिन्हें, ईश्वरत्व प्राप्त कर लेने के बावजूद और भौतिक शरीर धारण किये रहने के बावजूद, मानवजाति के प्रति करने के लिये कोई आध्यात्मिक ड्यूटी प्राप्त नहीं होती। तथापि वे उन सबके लिये आध्यात्मिक हित के स्रोत होती हैं जो उनके सम्पर्क में आते हैं।

अस्तु ऐसा कहा जा सकता है कि जबकि ५ सद्गुरु समष्टिरूप में मानवजाति की आध्यात्मिक सेवा करते हैं, वे चन्द लोग जो उनके सम्पर्क में आते हैं और ३ मजजूबों की सेवा करते हैं उनसे उनको आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता है, जबकि ४८ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मायें मान्यता और कार्यव्यापार से अलग रहती हैं, जब तक कि एक या अधिक ८ ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्माओं के भौतिक शरीर छोड़ देने पर कार्यकारी दिव्य शासक मण्डल में एक दरार नहीं हो जाती।

२३. अवतार के रूप में परमात्मा का अवतरण (१८०)

विश्व की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है। परमात्मा की उत्पत्ति विश्व से नहीं हुई है। माया की उत्पत्ति सत्य से हुई है। सत्य की उत्पत्ति माया से नहीं हुई है। एकमेव परमात्मा सत्य है; विश्व स्वत: माया है।

अवतार के रूप में और सद्गुरुओं के रूप में, माया के अन्तर्गत परमात्मा का ज्वलन्त जीवन, मायावी नहीं है; जबकि सृष्टि में सब जड़ और चेतन प्राणियों के रूप में ज्वलन्त ईश्वरीय जीवन यथार्थ और मायावी दोनों है। माया, मायावी जीवन और माया के अन्तर्गत ईश्वर का जीवन, एक ही नहीं है और न एक हो सकते हैं। माया के जीवन नहीं होता और वह कोई जीवन प्राप्त नहीं कर सकती। माया माया है और वह स्वमेव कुछनहीं है। मायावी जीवन का अर्थ है माया के अन्तर्गत जीवन, माया के साथ जीवन, माया से घिरा जीवन, और यद्यपि वह जीवन है (जैसा कि आत्मा सृष्टि के अन्तर्गत अनुभव करती है) तथापि वह मायावी जीवन है। किन्तु माया के अन्तर्गत जीवन्त ईश्वर का जीवन है मायावी नहीं है, क्योंकि मायावी जीवन व्यतीत करने के बावजूद परमात्मा को खुद अपनी सत्यता की चेतना बनी रहती है।

परमात्मा बिल्कुल स्वतन्त्र है, और विश्व बिल्कुल परमात्मा के ऊपर निर्भर है। फिर भी जब सद्गुरु ईश्वर को पृथ्वी पर अवतार के रूप में उतारते हैं, तब वे सत्यता और माया को, एक के ऊपर दूसरे को रखकर, एक-दूसरे के आश्रित कर देते हैं। और इस प्रकार ही परमात्मा की अनन्त दया एवम् असीमित प्रेम शाश्वत: उन लोगों के द्वारा आकर्षित किये जाते हैं, जो माया में डूबे हैं।

परमात्मा और विश्व के बीच, अनन्त दया एवम् असीमित प्रेम एक प्रमुख कड़ी के रूप में कार्य करते हैं जिसका प्रयोग शाश्वत: वे लोग करते हैं जो परमात्मा (सद्‌गुरु, पूर्ण पुरुष, अथवा कुतुब) बन जाते हैं, और जिसका प्रयोग परमात्मा करता है जो मनुष्य (अवतार, क्राईस्ट अथवा रसूल) बन जाता है, और इसलिये विश्व परमात्मा के खेल का शाश्वत खिलाड़ी बन जाता है। इस प्रमुख कड़ी के द्वारा अवतार ने न केवल अपने दिव्य खेल में जीवन स्थापित किया, वरन् माया में विधान की भी स्थापना की। और यह विधान, ईश-पुरुष अथवा अवतार द्वारा स्थापित होने के कारण, विधानरहित अनन्तता का विधान है और यह शाश्वत: यथार्थ तथा साथ-साथ मायावी है। यह विधान ही विश्व का सञ्चालन करता है—उसके समस्त उत्थान और पतन को नियन्त्रित करता है। रचना और ध्वन्स इसी नियम से सञ्चालित होते हैं।

युग की अवधि में, परमात्मा की स्वतन्त्र परिपूर्णता इस विधान के ऊपर ईश-पुरुष द्वारा परमात्मा की मर्ज़ी के रूप में, क्रियान्वित की जाती है, और इसका अर्थ है कि कोई भी चीज़ और हर चीज़ जिसकी मर्ज़ी अवतार करता है, ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट होती है।

३४. तौहीद

अथवा ईश्वर की ऐक्य अवस्था (१८८)

तौहीद में समाविष्ट सिद्धान्त, अथवा परमात्मा की ऐक्य अवस्था, निर्विवाद है। वह सभी ज्ञात धर्मों की और सूफ़ीवाद तथा वेदान्त दोनों में आध्यात्मिक अनुशासन के लक्ष्य की मूल आधार है। सिद्धान्तरूप में तौहीद को स्वीकार करना जनसमूह का विशेषाधिकार है, किन्तु उसकी खोज में तत्पर होना चुने हुये कुछ जनों की विशेषता है। यह सरल और कठिन दोनों है। तौहीद दिखाव में इतनी आसान मालूम पड़ती है कि उसके विषय में सारे विश्व में धर्म आसन और मञ्च पर चर्चा की जाती है और फिर भी उसकी उपलब्धि इतनी कठिन होती है कि उसमें अच्छे से अच्छे प्रयास जड़ता और व्याकुलता के सिवाय कुछ भी प्रदान नहीं करते।

परमात्मा का ऐक्य, अपने श्रेष्ठ पहलू में, सूफ़ीवाद की तौहीद-ए-तनज़ीही (पूर्ण ऐक्य) और वेदान्त का अद्वैत है। तौहीद की समस्या विविध प्रकार के पहलू प्रस्तुत करती है, जिसका दृष्टान्त वह पुरानी

कथा है जिसमें अनेक अन्धे लोगों ने एक हाथी की परीक्षा की थी। उनमें से प्रत्येक ने हाथी के विभिन्न अङ्ग का स्पर्श किया और उसके विषय में अपना विभिन्न मत बनाया। विषय की ओर व्यक्तिगत जाना सापेक्षिक-रूप से बिल्कुल सत्य है और उसको चुनौती नहीं दी जा सकती, और फिर भी हाथी समग्र रूप से अन्धे आदमियों के लिये बिल्कुल भिन्न और न समझने योग्य होता है। तौहीद और उसके पहलुओं के विषय में प्रमुख सूफ़ियों को जो कथन आकर्षित करते हैं उनमें से विख्यात सूफ़ियों के कुछ कथन निम्नलिखित हैं :‡

---

‡ सूफ़ियों के शब्दों में प्रत्यक्ष विरोधोक्तियाँ अनुभव की गई सत्यताओं को व्यक्त करने के लिये और अनुभूत सत्यताओं का वर्णन विभिन्न प्रसङ्गों में, विभिन्न दृष्टिकोणों से, जो अकेले एक अनुभव में अथवा समग्ररूप से साक्षात्कार करने में, सदैव साथ-साथ चलते हैं, केवल साधनों की सीमितताओं के कारण होते हैं। मेहेरबाबा कहते हैं कि ऐसे शाब्दिक भेद परस्पर विरोध पैदा नहीं करते किन्तु अनुभूति एवं साक्षात्कार प्राप्त सत्यताओं के प्रकाशनों की पूर्ति करते हैं जो ऐसी विरोधोक्तियों के अन्तर्गत होते हैं। इस विषय की स्पष्टियों को, जो पिछले पृष्ठों में पहले ही दी जा चुकी हैं, सदैव ध्यान में रखना चाहिये, अर्थात् :

पृष्ठ २२८ : सत्य तक पहुँचना व्यक्तिगत चीज है, अतः विवरणों के विषय में बहुत कुछ व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रवृत्ति, शारीरिक योग्यता और बाहरी परिस्थितियों के ऊपर निर्भर होता है।

पृष्ठ २३२ : हजारों खोजी ऐसे अनेक अनुभवों का आनन्द रस ले रहे हो सकते हैं, फिर भी 'ज्ञानपथ' की 'राह' केवल एक है।

पृष्ठ २४५ : अनुभव के अनुभवों के विभिन्न पहलुओं के बावजूद, समस्त पहलुओं का अनुभव एक ही समय एकसाथ होता है।

पृष्ठ २७० : एक ओर, अधिक विवरण मनुष्य को और अधिक भ्रान्ति में डालते हैं, और कम विवरण चीजों को कम मात्रा में स्पष्ट करते हैं। इस क्रिया से नानाप्रकार के शब्दों एवम् स्पष्टियों की उत्पत्ति होती है जिसका प्रयोग विभिन्न दृष्टिकोणों से और विभिन्न प्रसङ्गों में किया जा सकता है। यथार्थ अनुभव के अभाव में, उसी चीज के वर्णन बहुधा परस्पर-विरोधी मालूम पड़ते हैं। किन्तु सापेक्षिक अनुभवों की दृष्टि से अथवा सत्य के अन्तिम साक्षात्कार की दृष्टि से, स्वयं ये ही परस्पर-विरोधी कथन उसी एक सत्य के विषय में यथार्थ पूरक अभिव्यक्तियाँ सिद्ध होते हैं।

"तौहीद वह यथार्थता है जिसमें संस्कार (नक्श) नष्ट होते हैं, और ज्ञान प्रकट होता है तथा परमात्मा इतना निर्मल एवं निर्दोष बना रहता है जैसा वह पहले था।"

—बगदाद का जुनायद

"तौहीद परमात्मा का ज्ञान है और यह ज्ञान ज्ञानमार्गी को मूल (क़दीम) और सन्दिग्ध (हदीस) प्राणी के बीच विभेद करने योग्य बनाता है। तौहीद की अतिश्रेष्ठ अवस्था में तौहीद की अस्वीकृति का समावेश होता है।"

—बगदाद का जुनायद

"तौहीद प्रियतम के गुणों में प्रेमी का सफाया है।"

—जहाँगीर सनमानी

तौहीद के दो पहलू होते हैं : पहला पहलू अवस्था है और दूसरा पहलू उसका वर्णन है। तौहीद का वर्णनात्मक पहलू नबियों के दुनियाबी उद्देश्यों से सम्बन्ध रखता है, और उसकी अवस्था में अनन्त एवं सीमा-रहित महासागर का समावेश होता है। वर्णनात्मक पहलू वाणी, दृष्टि, सुनने और बोध के साधनत्व पर निर्भर होता है। और इन सबके लिये पृथक् पुष्टि अभीष्ट होती है। बाहरी प्रमाणों के आधार पर पुष्टि करना दुई का संकेत करना है, और तौहीद दुई के सभी लक्षणों से स्वतन्त्र होती है। मनुष्य के अन्तस्तल में श्रद्धा द्वैत के भीड़ से भरे मार्ग से होकर चलती है, और यह स्थिति पूर्णतः नहीं त्यागी जा सकती।

वर्णनात्मक तौहीद एक दीपक के समान है, जबकि तौहीद स्वयं में और स्वतः सूर्य है। जब सूर्य निकलता है, तब दीपक की ज्योति शून्यता में लुप्त हो जाती है। वर्णनात्मक तौहीद परिवर्तनशील है, जबकि तौहीद की अवस्था अटल एवं शाश्वत होती है। वाणी के द्वारा उच्चारण किये गये शब्द हृदय के द्वारा पराजित हो जाते हैं। जबकि आध्यात्मिक यात्रा में कोई व्यक्ति हृदय के स्टेशन पर अधिकार कर लेता है तब ज़बान वाणीरहित और निष्क्रिय हो जाती है। बाद में हृदय भी आत्मा (जान) के आधीन हो जाता है, और इस स्थिति में पथिक उससे बात करता है। यह वार्ता सार तत्त्व के सम्बन्ध में नहीं होती, बल्कि उसके गुण के सम्बन्ध में होती है। गुण में परिवर्तन होता है और सार में नहीं होता। सूर्य पानी को गर्म कर देता है, जिसके द्वारा गुण में परिवर्तन

हो जाता है लेकिन पानी में नहीं होता। इस प्रकार "तौहीद की पुष्टि करने का स्वयं प्रयास तौहीद की निर्मल पवित्रता को नष्ट करना है" (अस्बत उत-तौहीद, फ़ासीदून फ़ित-तौहीद)।

तौहीद अद्वैतवादी (मवाहिद) व्यक्ति के लिये परम ऐक्य (जमाल-ए-अहादियत) के सौन्दर्य के ऊपर पर्दा डालती है। इस कारण से तौहीद शङ्कामयी है क्योंकि तुम उसकी अभिलाषा खुद अपने से करते हो।

"जो व्यक्ति तौहीद के विषय में लिखता है वह मुलहिद (तर्कवादी) है; जो मनुष्य उसकी तरफ़ संकेत करता है वह द्वैतवादी है; वह मनुष्य जो उसके विषय में निष्कर्ष निकालता है, मूर्ति पूजक है; वह मनुष्य जो उसके विषय में बात करता है, ग़ैर जिम्मेदार है; वह मनुष्य जो उसके विषय में मौन है वह अज्ञानी है; वह मनुष्य जो सोचता है कि उसने उसका साक्षात्कार कर लिया है वह आत्मभ्रम का शिकार है; जो मनुष्य उसकी निकटता की कल्पना करता है वह उससे दूर है; जो उसको बुद्धि से तौलता है, और उसके विषय में मत निर्धारित करता है, वह विश्वास पैदा करने में रत है; और जो मनुष्य उसको खोज किये बग़ैर पाता है वह भटक गया है।"

—अबू बक्र शिवली

"तौहीद, यदि उसकी वार्ता अखण्डता (तन्ज़ीह) के सम्बन्ध में की जाती है, तो यह उसको कम करना है, और उसका उल्लेख कम करने के रूप में (तश्बीह) किया जाता है तो यह उसको परिमित एवं सीमित बनाना है। दो चरम सीमाओं को समानार्थक बनाना, पूर्ण है और जो वांछित है वही है।"

—मुहयुद्दीन इब्न अरबी

"तौहीद साररूप से तौहीद की विस्मृति है। सामान्य चेतना को पुनः प्राप्त किये लोगों को, भौतिक भूमिका पर कुछ कार्य करने की नितान्त आवश्यकता है। इसलिये तौहीद की समता एक महाजन से की जा सकती है जिसका कर्ज़ जीवन में कभी पर्याप्त और पूर्ण रूप से अदा नहीं हो सकता।"

—क़ुद्दुन्तुल क़ुब्रा

इसलिये तौहीद, जो परमात्मा की अद्वैत अवस्था है, किसी भाषा को सहन नहीं करती, क्योंकि उस अतिश्रेष्ठ अवस्था में ऐसा कोई नहीं होता जिसको खुद सम्बोधित किया जाय।

सूफ़ियों ने तौहीद को, मनुष्य के आध्यात्मिक उधार की विभिन्न स्थितियों के अर्थ में, अथवा उनके अनुसार पांच मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया है। वे निम्नलिखित हैं :

(अ) तौहीद-ए-अक़्वाली—परमात्मा की मौखिक एकता।
(ब) तौहीद-ए-अफ़्आली—परमात्मा की क्रियाशील एकता।
(स) तौहीद-ए-अह्वाली—परमात्मा की एकता की अनुभूति।
(द) तौहीद-ए-सिफ़ती—गुणों में ईश्वर की एकता।
(य) तौहीद-ए-ज़ती—सार रूप में परमात्मा की एकता।

(अ) तौहीद-ए-अक़्वाली अधिकान्श मानवजाति से सम्बन्ध रखती है जो किसी भी एक नबी (अवतार) में आस्था रखते हैं और उसके सन्देश में श्रद्धा रखते हैं। इस स्थिति में परमात्मा की केवल मौखिक स्वीकृति अथवा परमात्मा की एकता, और उनसे सम्बन्ध रखने वाले कर्तव्यों का पालन करना, जिसका आनन्द रस विधान को देने वाला चखता है, आध्यात्मिक जीवन के आगामी क्रमों के लिये तैयारी के रूप में पर्याप्त समझा जाता है। इसको तौहीद-ए-शरियत भी कहते हैं।

(ब) तौहीद-ए-अफ़्आली उन लोगों से वास्ता रखता है जो मार्ग में यथार्थरूप में प्रविष्ट हो गये हैं। परमात्मा की एकता का प्रकाशन सूक्ष्म लोक (आलम-ए-मलकूत) के ऐसे नये साधकों के साथ पवित्र आत्माओं, फ़रिश्तों के, स्वाभाविक जीवन को उकसाता है। इस स्थिति में आध्यात्मिक विश्वास की दृढ़ता, जो अन्तस्तल में उत्पन्न हुई है, यह है कि प्रत्येक भली अथवा बुरी चीज़ के पीछे परमात्मा की प्रेरक शक्ति होती है।

(स) तौहीद-ए-अह्वाली का उदय, मनोलोक में पाँचवीं भूमिका की उन्नत आत्माओं पर होता है। इस स्थिति में आत्मा अपने को

ईश्वरत्व के सीधे प्रसारण से सम्पन्न पाती है और सूक्ष्म तथा स्थूल लोकों में चेतन अथवा अचेतन रूप से दूसरों को बहुत सहायता देती है।

(द) तौहीद-ए-सिफ़ती उसी लोक (मनो लोक) में छठवीं भूमिका से सम्बन्ध रखती है। भौतिकता के सभी पहलू स्थूल और सूक्ष्मता से और सूक्ष्म भूमिकाओं से अब भी आत्मा से चिपके रहते हैं, बिल्कुल हटा दिये जाते हैं और नष्ट कर दिये जाते हैं, जिस प्रकार तारागण की दीप्ति सूर्य निकलने के पहले समाप्त हो जाती है। (स) और (द) दोनों तौहीद उसी मनोलोक (आलम-ए-जबरूत) से सम्बन्ध रखते हैं और तीनों (ब), (स) और (द) सामूहिक रूप से तौहीद-ए-तरीक़त कहलाते हैं।

(य) तौहीद-ए-ज़ती हक़ीक़त के पाँचवें असली लोक में ईश्वर का साक्षात्कार है, जिसमें मारेफ़त-ए-हक़ीक़त अर्थात् हालात-ए-मुहम्मदी का लहूत के क्रम में, और हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी का यथार्थता के लोक के हाहूत के विभिन्न क्रमों अथवा पहलुओं का समावेश होता है।

सूफ़ीमत वाले इस बात पर एकमत हैं कि साक्षात्कार में अथवा तौहीद-ए-ज़ती में अन्तर्निहित विविध पहलुओं में, अत्यन्त पूर्ण पहलू मनुष्य और परमात्मा के बीच उबूदियत (सेवकभाव) के भेद की गति है। इस आध्यात्मिक तथ्य का मसीही समुदाय ने ग़लत अर्थ लगाया है और ग़लत रूपसे प्रयोग किया है, यह स्थापित करने में कि मनुष्य मनुष्य है और परमात्मा परमात्मा है, और मनुष्य कभी परमात्मा नहीं बन सकता और न परमात्मा कभी मनुष्य बन सकता है। जो हो, इस स्थिति में अन्तर्निहित सत्य यह है कि तौहीद-ए-ज़ती के साक्षात्कार के बाद उबूदियत (सेवकभाव) पर ज़ोर देना सालिकों की तीसरी यात्रा का अर्थ ध्वनित करता है जिसे सैयर-ए-मा अल्लाह कहते हैं, अथवा परमात्मा के साथ पुनः सामान्य चेतना प्राप्त करना है।

तौहीद की नानाप्रकार की स्थितियाँ और पहलू, जिनका विवेचन ऊपर किया गया है, सूची के रूप में नीचे दिये हैं :—

स्थितियाँ	पहलू	लोक
तौहीद-ए-ज़ती	१) आशिक़-ओ-माशूक (प्रेमी और प्रियतम एक में) २) आशिक़ (प्रेमी) और माशूक़ (प्रियतम) एकसाथ	१) आलम-ए-लहूत २) आलम-ए-हहूत (पाँचवाँ लोक)
तौहीद-ए-सिफ़ाती	आशिक़ (प्रेमी)	आलम-ए-जबरूत
तौहीद-ए-अहवाली	आरिफ़ (ज्ञानी)	(तीसरा लोक)
तौहीद-ए-अफ़ा अली	वासिफ़ (स्तुति-कर्त्ता)	आलम-ए-मलाकूत (द्वितीय लोक)
तौहीद-ए-अक़वाली	वाक़िफ़ (स्थूल चेतना)	आलम-ए-नसूत (प्रथम लोक)

वुजूदियाह और शुहूदियाह

नानाप्रकार के अद्वैतवादियों (**अहल-ए-तौहीद**) में, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और तर्कपूर्ण दो विचारधारायें हैं जो **वुजूदियाह** और **शुहूदियाह** कहलाती हैं।

मुहियुद्दीन इब्न अरबी **वुजूदियाह** विचारधारा का महान प्रतिपादक है, वह **वहदत-उल-उजूद** (सत् की एकता) का सार्थक है, जो वेदान्त में अद्वैतवाद है, जिसका समर्थन उसके सबसे बड़े प्रतिपादक शङ्कराचार्य ने किया है। गजूर-ए-इलाही के मतानुसार, इब्न-अरबी ने प्रतिपादित किया था कि सत् (**वुजूद**) एक से अधिक नहीं है और वह बिल्कुल वही होता है, ख़ुद अपनेआप से अपनेआपको अभिव्यक्त करता है—पानी के समान जो सीमितता के रूप में अपनेआपको बर्फ़ के रूप में प्रकट करता है। जब **फ़ना** की अवस्था में, सीमितता (रूप) लुप्त हो जाती है तब, परम तत्त्व बना रहता है और हू हू (**वह, वह**) बन जाता है।

शेख शहाबुद्दीन सोहरावर्दी, जो शुहूदियाह मत के मुख्य प्रतिपादक हैं, उसके तत्त्वज्ञान के लक्षण को वहादत-उल-शुहूद [स्पष्टवाद] के रूप में प्रस्तुत करते हैं; वेदान्त का **विशिष्ट अद्वैत** प्रतिपादित करता है कि **फ़ना** में, **बन्दा** [उसके समान सीमित] कानहू हू बन जाता है और हू हू [वह, वह] नहीं बनता, जैसाकि अग्नि में लोहा होता है, जो अग्नि के समान हो जाता है लेकिन स्वयं आग नहीं बन जाता—लोहे की यथार्थता अग्नि की यथार्थता से बिल्कुल भिन्न होती है। शुहूदियाह मत वाले लोग दो विभिन्न अस्तित्वों (ज़ात) की परिभाषा करते हैं और दो स्पष्ट चीज़ों को दृष्टि में रखते हैं—लोहा और अग्नि। लोहा क्षणिक समय के लिये अग्नि बन जाता है और फिर लोहा लोहा है, अग्नि अग्नि है।

मिर्जा जान जनान कहते हैं कि परमात्मा के अप्रकट पहलू और परमात्मा के प्रकट पहलू के बीच का सम्बन्ध वह है कि जो महासागर, लहरों और बुलबुलों के बीच विद्यमान रहता है। और यह बाहुल्य किसी प्रकार से यथार्थता के एकत्व [ऐक्य] में बाधा अथवा प्रभाव नहीं डालता। यह **वहदत-उल-वुजूद** (सारूप्यता) है। इसके विपरीत, दूसरी स्थिति जो परमात्मा और सृष्टि के बीच के सम्बन्ध को निश्चित करती है, जैसा कि मूल और उसकी छाया के रूप में अथवा सूर्य और उसकी किरणों के रूप में होता है। **वहदत-उल-शुहूद** [स्पष्टवाद] है।

मुहीयुद्दीन इब्न अरबी का **वहदत-उल-वुजूद अहादियत** (चैतन्य ऐक्य) की चरम सीमाओं से है, और इसलिये इस स्थिति से सम्बन्धित ज्ञानमार्ग '**हमा-ऊस्त**" [वह सबकुछ] है।

शेख शहाबुद्दीन सोहरावर्दी, जो **मुजद्दिद** भी कहलाता है, का **वहदत-उल-शुहूद** सत्यता (**हक़ीक़त**) के उन्हीं परम शिखरों से आता है, किन्तु उससे प्रकट ज्ञान को "**हमा अज़ ऊस्त**" [अर्थात् सबकुछ की उत्पत्ति उससे है] के रूप में प्रकट किया जाता है।

दो सिद्धान्त और उसके फलस्वरूप होने वाले वादविवाद वर्तमान **दौर-ए-क़लन्दरी** (प्रभुता का युग) के प्रारम्भ में हुये बाद के विकास हैं, इसलिये वे अरब के नबी के जीवनकाल में उत्पन्न नहीं हुये थे। **वुजूदियाह** का सिद्धान्त अनुभव + *(Plus)* युक्ति पर आधारित होता है और **शुहूदियाह** मत वाले लोग इसे अनुभव के और सामान्य हित के कुरान के पहलुओं पर आधारित करते हैं।

इब्न अरैबी श्रेष्ठता तथा अन्तर्वर्ती अवस्था को अस्वीकार करता है, जिसका आशय दुई होता है। वह प्रतिपादित करता है कि परमात्मा एक है और केवल एक उसी का अस्तित्व है। अन्य सबकुछ जो अस्तित्व में दिखाई पड़ता है उसकी अभिव्यक्तियाँ अथवा **तजल्लियत** हैं। इसलिये परमात्मा **सिफ़ात** [गुणों] के तद्रूप होता है, और सब ईश्वरीय नाम नामधारी सत् के तद्रूप होते हैं जो **अल्लाह** है। सन्त जो **वुजूदियाह** विचारधारा से सम्बन्ध रखते हैं, अपनी दृष्टि सत् की एकता (**वहीद-उल-वुजूद**) पर रखते हैं, जो परमात्मा की पहली **तजल्ली** (आविर्भाव) **अहादियत** की स्थिति से उत्पन्न होती है; और इसलिये बाद में होने वाली अवनतियाँ [अर्थात् मनो, सूक्ष्म और स्थूल जगत] एक छाया *(Zil)* के समान हैं, जो शून्य है और इस रूप में वह **ज़ात** [ईश्वरीय तत्त्व] के ऊपर एक छाया निर्मित करता है। छाया का अस्तित्व परमात्मा से होता है और वह परमात्मा पर निर्भर होती है, जो अनन्त और शाश्वत है। इस प्रकार छाया भी इस आशय में होती है कि **वुजूदियाह** मत वाले हर चीज़ को परमात्मा के रूप में मानते हैं, यहाँ तक कि वे छायाओं (मानसिक, सूक्ष्म और स्थूल भुवनों) को भी सबकुछ मानते हैं जिनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, **शुहूदियाह** मत के लोग, दो **ज़ातों** का प्रतिपादन करते हैं, एक सत् और दूसरा असत् का, एक परमात्मा का और दूसरा **बन्दा** का, प्रतिपादन करता है। **बन्दा** की **ज़ात** शून्य *(Adum)* है और यह **आदम** (शून्यता) तार्किक (**इज़ाफ़ी**) है, और यथार्थ (**हक़ीक़ी**) नहीं है। यदि शून्य (**आदम**) को सारतत्त्व (सत्यता) समझा जाय, तब दो **ज़ातें** होंगीं, जिनके फलस्वरूप द्वैत की उत्पत्ति होती है। **आदम-ए-इज़ाफ़ी** केवल सापेक्षरूप से **आदम** [शून्य] है। वह केवल शून्य है। यदि कितने भी शून्य एक शून्य में जोड़ दिये जायँ तो संख्या के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः इस प्रकार **आदम** ईश्वर के ज्ञान में एक प्रतीक है। चूँकि परिपूर्णता **ज़ात** से सम्बन्ध रखती है, इसलिये परमात्मा स्वयम् परिपूर्णता है। अपूर्णता शून्य (**आदम**) से सम्बन्ध रखती है और इसलिये, "बुराई" **आदम** [अस्तित्वरहित अस्तित्व] की अभिव्यक्ति है। केवल **मुजद्दिद** मत वालों ने **वहदत-उल-शुहूद** [*Apparentism* स्पष्टवाद] के सिद्धान्त की पुनः पुष्टि की और उस

पर पुनः ज़ोर दिया; इस सिद्धान्त की मूल नींव **अल-इन्सान-उल-कामिल** के लेखक अब्दुल **करीम अल-जिली** ने डाली थी।

जो भी हो, आध्यात्मिक तथ्य यह है कि **वुजूदियाह** दर्शन **शास्त्र** एक उच्चतर प्रकार का है और वह सुविधा अथवा समझौता के किन्हीं भी विचारों को स्थान नहीं देता। मेहेरबाबा का ज्ञानपथ सत्य की ओर ले जाने वाले इन दोनों मार्गों में बराबर लागू होता है और उसका अनुसरण करने के लिये जैसा "परमात्मा की दस अवस्थाओं" में दिया है, **तनज्जुलत**—परम तत्व के अधःपतनों—का वर्णन करने की सूफ़ी रीति से कुछ परिचय होना चाहिये, और यह अभिव्यक्तियों की क्रमवद्ध श्रेणियों के माध्यम से होना चाहिये जो सूफ़ी दुनियाँ के **खमसा-वुजूदत** (पाँच अस्तित्व) कहलाते हैं और ये सत्य के खोजी के लिये सहायक होंगे।

समस्त पूर्ण सूफ़ियों के ज्ञानपथ का आशय यह है कि परात्पर परब्रह्म अवस्था में परमात्मा अज्ञेय और परिभाषा न करने योग्य है। परमात्मा की इस अवस्था (**वरा-उल-वरा**) को समझने में, जो परात्पर परब्रह्म अवस्था से परे है, विचार और कल्पना के पङ्ख शक्तिहीन हो जाते हैं। परात्पर परब्रह्म अवस्था में, परम परमात्मा (**वुजूद-ए-मुतलक़**) है।

सूफ़ियों ने परमात्मा की इस श्रेष्ठ अवस्था का वर्णन अनेक रीतियों से किया है, जैसे :—

ग़ैब-उल-ग़ैब [छिपे हुओं में छिपा]।

मज़्हूल-अन-नत [अज्ञेय और परिभाषा न करने योग्य]। इस अवस्था में ही **ज़ात** के लिये स्वयं अपना ज्ञान नहीं होता।

मुनक़त-उल-इज़हारात [वह अवस्था जिसके सम्बन्ध में समस्त लक्षण समाप्त हो जाते हैं]।

अल अमा [अँधेरा कोहरा] जिसका आशय होता है—परमात्मा के परात्पर आन्तरिक पहलू के सम्बन्ध में परमात्मा की अप्रत्यक्ष शक्यता की अवस्था, और उसके **अहदियत** [चैतन्य ऐक्य] के बाह्य पहलू में, जिसमें **ज़ात** को अपनी श्रेष्ठ एकता का भान होता है, परमात्मा की अप्रत्यक्ष शक्यता की अवस्था।

मेहेरबाबा समझाते हैं कि यद्यपि परमात्मा परब्रह्म अवस्था (चैतन्य एकता) से परात्पर परब्रह्म अवस्था में लौट नहीं सकता, वह जानता है कि वह अनन्त सत्, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द था और

अब भी है और उससे, वह जानता है कि उसकी मूल अवस्था परात्पर-परब्रह्म अवस्था (ज़ात-अल-बहत) थी।

जो भी हो, सत्य के खोजियों को यह विषय समझने योग्य बनाने की दृष्टि से, सूफ़ियों ने ईश्वरीय विषय को पाँच विभिन्न प्रकार के अधःपतनों एवं अभिव्यक्तियों के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

खमसा वुजूदत अथवा पाँच प्रकार के अस्तित्व

(१) **वहीद-उल-वुजूद** (इकाई सम्बन्धी अस्तित्व) यथार्थ लोक के **आलम-ए-लहूत** में प्रथम अभिव्यक्ति अथवा **तजल्ली-ए-अव्वल** है और उसमें **अहादियत** (चैतन्य एकता) के क्रम का समावेश होता है।

(२) **आरिफ़-उल-वुजूद** (अस्तित्व का ज्ञान रखना) वह स्थिति है जिसका संसर्ग **हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी** (मुहम्मद की यथार्थता) अथवा **नूर-ए-मुहम्मदी** (मुहम्मद की ज्योति),* सत्यता के लोक में **हहूत** की स्थिति से होता है। यह **वहदियत** की स्थिति है जो **वहीदियत** की चेतना से सम्पन्न होती है (चैतन्य ऐक्य जिसमें अनेकता-में-एकता की चेतना होती है)। यह दूसरी अभिव्यक्ति है, अर्थात् **तजल्ली-ए-दोयम** है।

(३) **मुमतान-उल-वुजूद** [नकारात्मक अस्तित्व] अभिव्यक्ति की [**तजल्ली-ए-सोयम**] तीसरी श्रेणी है। यह **आलम-ए-जबरूत** [मनो भुवन] है जिस स्थल पर **वहीदियत** की श्रेणी [अनेकता में एकता] का प्रारम्भ होता है।

(४) **मुमकिन-उल-वुजूद** [सम्भव अस्तित्व] जिसमें अन्य बातों के अलावा फ़रिश्तों की दुनियाँ, आत्माओं और प्रेत आत्माओं का समावेश होता है, और वह **आलम-ए-मलकूत** [सूक्ष्म लोक] कहलाता है, जो **प्राण शक्ति** का प्रदेश है। यह अभिव्यक्ति की चौथी श्रेणी, **तजल्ली-ए-चहारूम** प्रस्तुत करता है।

(५) **वजीब-उल-वुजूब** [अनिवार्य अस्तित्व] स्थूल अस्तित्व से

---

* 'हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी' : परमात्मा के मूल 'शब्द' का साक्षात्कार।
'नूर-ए-मुहम्मदी' : परमात्मा के मूल 'शब्द' की अभिव्यक्ति।
'हक़ीक़त--ए-मुहम्मदी' में 'नूर-ए-मुहम्मदी' का समावेश होता है, किन्तु 'नूर-ए-मुहम्मदी' में 'हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी' का समावेश 'नहीं' होता।

सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक चीज़ का समावेश होता है। **सूफ़ी** लोग उसको **आलम-ए-नसूत** [स्थूल लोक], अभिव्यक्ति का पाँचवाँ पहलू, **तजल्ली-ए-पंजुम** के रूप में जानते हैं।

ये परमात्मा की परब्रह्म अवस्था से, परमात्मा के पाँच अवतरणों का प्रतिनिधित्व करती है जो अवस्था **तजल्लियत-ए-खमसा** [पाँच अभिव्यक्तियाँ] अथवा **खमसा-वुजूदत** [पाँच अस्तित्व] के रूप में जानी जातीं है।

अब हम उनमें से प्रत्येक का विवेचन ऊँची चढ़ती हुई श्रेणियों में करेंगे, जिसका प्रारम्भ हम **वजीब-उल-वुजूद** [अनिवार्य अस्तित्व] से करेंगे और उसका अन्त **वहीद-उल-वुजूद** [एकात्मक अस्तित्व] से करेंगे।

शरियत [विधान] के प्रदेश में, **वजीब-उल-वुजूद** [अनिवार्य अस्तित्व] का अर्थ आध्यात्मिक विद्या वाले के लिये परम परमात्मा होता है जिससे अस्तित्व की सभी श्रेणियों की उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर, सूफ़ी मत वाले लोग इसके विपरीत इस शब्द का प्रयोग उस सबको ध्वनित करने के लिये करते हैं जो स्थूल और भौतिक है। इस स्थल पर **वुजूद** का अर्थ शरीर से है, क्योंकि विकसित होती हुई आत्मा पत्थर में, वनस्पति में, पशुओं में, और मानव योनियों में पाँच तत्वों से निर्मित स्थूल माध्यमों के बग़ैर विकसित होती नहीं कही जा सकती। यह भौतिक अस्तित्व **वाजिब-उल-वुजूद** की श्रेणी में ईश्वर का दिया हुआ महान वरदान है, क्योंकि इसके बग़ैर पूर्णता, सन्तपन और नेतृत्व के क्रमों की प्राप्ति अविचारणीय होगी।

स्थूल शरीर एक आश्चर्यजनक एवं अद्वितीय यन्त्र कला है जिसमें सभी अन्य चार सापेक्षिक और वास्तविक अस्तित्व निहित होते हैं—सूक्ष्म, मानसिक, उप-श्रेष्ठ, तथा स्वयं परमात्मा। इसलिये सूफ़ीमत वाले मानव शरीर को **आलम-ए-सगीर** [मानव शरीर का सूक्ष्म दर्शन] कहते हैं जो **आलम-ए-कबीर** का संक्षेप संग्रह (*Microcosm*) है जिसमें सभी पाँचों तत्वों का समावेश होता है, जिसके रहस्य को सद्गुरु अथवा उद्धारक के विराट् मन की सहायता के बग़ैर कोई नहीं उघार सकता।

वाजिब-उल-वुजूद [अनिवार्य अस्तित्व, अथवा स्थूल लोक] की उत्पत्ति **मुमकिन-उल-वुजूद** से होती है अथवा वह **मुमकिन-उल-वुजूद** [सूक्ष्म लोक] का प्रतिबिम्ब है। इस स्थिति में परमात्मा और सृष्टि

के बीच का सम्बन्ध प्रभू और दास का जैसा सम्बन्ध है। इस स्थिति की विकसित होती हुई चेतना अथवा मन **नफ्स-ए-अम्मारा** (दुरात्मा) कहलाती है और उसमें किसी भी स्थूल चीज़ का रस लेने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यहाँ मनुष्य के परमात्मा से सम्बन्ध का विचार **तौहीद-ए-अक़्वाली** (परमात्मा की मौखिक एकता) कहलाता है जो परमात्मा के अस्तित्व को मुख से स्वीकार करता है।

मुमकिन-उल-वुजूद (सम्भव अस्तित्व, अथवा सूक्ष्म लोक) की उत्पत्ति **मुमतान-उल-वुजूद** [मनो लोक] से होती है। यहाँ परमात्मा और उसके प्रकट हुये गुणों के बीच का सम्बन्ध उस प्रकार का होता है जो पिता और बच्चों के बीच विद्यमान होता है। इस स्थल पर परमात्मा अपने बच्चों के प्रति—जो लापरवाह होते हैं, जिन्हें दण्ड अथवा पुरस्कार पाने का कोई विचार नहीं होता, ज्ञान प्राप्त करने की कोई इच्छा नहीं होती, और आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिये कोई तीव्र अभिलाषा नहीं होती—कृपालु, दयालु और जागरूक होता है। और, ऐसे सत्व आमतौर पर फ़रिश्तों के रूप में जाने जाते हैं। इस लोक [**आलम-ए-मलकूत**] की चेतना **नफ्स-ए-लव्वामा** (निन्दनीय आत्म) की श्रेणी में रक्खी जाती है और इस क्रम में परमात्मा का बोध **तौहीद-ए-अफ़ाली** [कर्म की एकता] कहलाता है, जिसका यह अर्थ है कि इस दुनियाँ के सत्व परमात्मा का स्मरण करने के अपने निर्धारित कार्य में अनन्य रूप से व्यस्त होते हैं।

मुमतान-उल-वुजूद (नकारात्मक सत्, अथवा मनो लोक) में आध्यात्मिक मार्ग की पाँचवीं और छठवीं भूमिकायें अन्तर्निहित होती हैं जो इस स्थिति पर **वहीदियत** (अनेकता में एकता) में पहुँच जाती है। **वहीदियत** पाँचवीं भूमिका से प्रारम्भ होती है और छठवीं भूमिका में अपने चरम शिखर पर पहुँच जाती है और उसके अन्तर्गत सृष्टि के सब विवरण स्पष्ट होते हैं जिनमें सूक्ष्म और स्थूल भूमिकायें सम्मिलित होती हैं। यह **आलम-ए-जबरूत** है जो अपना अस्तित्व **आरिफ़-उल-वुजूद** (**हक़ीक़त-ए-मोहम्मदी** की स्थिति) से प्राप्त करती है और **आरिफ़-उल-वुजूद** का प्रतिबिम्ब होती है। यह **मुमतान-उल-वुजूद**, अथवा **नकारात्मक सत्** कहलाता है, केवल इस कारण से कि **मुमतान** का अर्थ है वह जिसका अस्तित्व नहीं है, और **वुजूद** का अर्थ सत् का शरीर अथवा रूप है। इस प्रकार, **मुमतान-उल-वुजूद** शब्द से यह अर्थ ध्वनित होता है कि उसके

अन्तर्गत रूप अस्तित्वरहित है। यह स्थिति बीज के समान है **जिसके** अन्तर्गत वृक्ष की शाखाओं और जड़ों के लिये क्षमता होती है, जो पूरेतौर से विकसित और आविर्भूत हो जाने पर, सूक्ष्म और स्थूल भूमिकाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूफ़ी मत वाले इसे **ला मकां** के रूप में जानते हैं जिसमें काल और देश के सब विचार एक स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं।

मनोलोक की चेतना को सूफ़ी मत वाले **नफ्स-ए-मुतमय्यना** कहते हैं, जिसका अर्थ होता है पांचवीं भूमिका में आनन्द भरा अथवा सन्तुष्ट आत्म, और **नफ्स-ए-मुलहिमा** का अर्थ होता है छठवीं भूमिका में, उत्प्रेरक सत्व। इस स्थल पर परमात्मा और सृष्टि के बीच का रिश्ता प्रियतम और प्रेमी का होता है, और इन स्थितियों में परमात्मा का विचार सूफ़ी मत वालों को **तौहीद-ए-अहवली** [भावना की एकता] की तरह ज्ञात होता है। यह वह स्थिति है जो **हक़ीक़त-ए-इन्सानी** [मानव की वास्तविकता] कहलाती है जिसके अन्तर्गत मनुष्य परमात्मा के आमने-सामने आ जाता है, लेकिन उसने अब भी अपने अहङ्कार का त्याग नहीं किया और वह अब भी दुई के प्रदेश में है।

वहीद-उल-वुजूद [एकात्मक अस्तित्व] सत्यता के लोक के **आलम-ए-लहूत** की स्थिति में, वह अवस्था है जिसमें परमात्मा को पहले अपनी **अहदियत** [चेतन ऐक्य] की चेतना प्राप्त हुई, और **आरिफ़-उल-वुजूद** वास्तविकता के उसी लोक के **आलम-ए-हहूत** के क्रम में **वहीदियत** की **वहदियत** अवस्था (अनेकता-में-एकता का चैतन्य ऐक्य) में है, जो **हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी** भी कहलाती है।

वरा-उल-वरा की अवस्था में, परमात्मा, सूफ़ी मत वालों के अनुसार, एक छुपा हुआ भण्डार था और चाहता था कि वह जाना जावे। जैसे ही "छुपे भण्डार" ने अपनेआपको जानने की इच्छा प्रकट की, उसको 'ज्योति' [**नूर**] के रूप में खुद अपना भान हो गया, अथवा **नूर-ए-मुहम्मदी** का भान हो गया, जिसके अस्तित्व के अन्दर समस्त सृष्टि और अभिव्यक्त जगत प्रसुप्त और अन्तर्निहित है; और इसी के सम्बन्ध में **नबी मुहम्मद** ने कहा है, "परमात्मा ने पहले मेरी ज्योति पैदा की, और मेरी ज्योति से, विश्व की उत्पत्ति हो गई।" परमात्मा के ज्ञान में यह **जमाल** (सौन्दर्य) का पहलू है जो **तौहीद-ए-जती** [सारतत्व की एकता] में समाविष्ट है। इस स्थल पर, परमात्मा और सृष्टि के बीच विद्यमान सम्बन्ध ऐसा है जैसा प्रेमी और प्रियतम के बीच विद्यमान होता

है। यहाँ प्रेमी परमात्मा है और मुहम्मद प्रियतम है। यहाँ परमात्मा को अपने खुद का और सृष्टि दोनों का पूर्ण भान होता है।

वहीद-उल-वुजूद [अस्तित्व की एकता] परमात्मा की परात्पर परब्रह्म अवस्था में पहली सीमितता है और पाँचवें लोक की स्थितियों में से एक एकता है जो **लहूत** कहलाता है। यह चैतन्य अखण्डता की स्थिति है, जो **आरिफ़-उल-वुजूद** [ज्ञानमय अस्तित्व] द्वारा त्रिलोक में लाये जाने पर, उसको **फ़ना** और **बक़ा** दोनों का अनुभव प्रदान करती है। यह स्थिति पथ की अन्य सब स्थितियों के समान, मन और बुद्धि के परे है और वह शब्दों में घेरी नहीं जा सकती, और इसमें **तजल्ली ए-जमाली** (सौन्दर्य का आविर्भाव) और **तजल्ली-ए-जलाली** (परमानन्द का आविर्भाव) दोनों का समावेश होता है। **तजल्ली-ए-जलाली** वह है जो आत्मा को **फ़ना** [पूर्णनाश] का अनुभव प्रदान करती है, और **तजल्ली-ए-जमाली** उसको एक बार फिर से सामान्य चेतना प्रदान करती है, जिसको सूफ़ी मत वाले **बक़ा** [स्थायित्व] के रूप में जानते हैं। **तजल्ली-ए-जलाली आशक़ियत** भी है जिसमें परमात्मा प्रियतम होता है और मनुष्य प्रेमी होता है; और **तजल्ली-ए-जमाली माशूक़ियत** है जिसमें परमात्मा **प्रेमी** होता है और मनुष्य प्रियतम होता है। यह बाद वाली स्थिति सर्वोच्च आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, जो **फ़क्र** अथवा **फ़क़ीरी** कहलाती है।

इस प्रकार, पाँचवें यथार्थ लोक के **आलम-ए-लहूत** और **आलम-ए-हहूत** में, क्रमशः **आशिक़-ओ-माशूक़** [प्रेमी और प्रियतम एक में] और **आशिक़** (प्रेमी) और **माशूक़** [प्रियतम] के पहलुओं में एक-साथ पूर्णता की श्रेणियाँ हैं। **आलम-ए-जबरूत** [मनोलोक] में **आशिक़** (प्रेमी) और **आरिफ़** [ज्ञानपथ] की श्रेणियाँ होती हैं, **मलाकूत** [सूक्ष्म लोक] गुणों की गणना करने वाली श्रेणी है, और **नसूत** (स्थूल लोक) **वाक़िफ़** [स्थूल चैतन्य परमात्मा] की स्थिति है। ऊर्ध्वगामी क्रम में इन स्थितियों का वर्णन करते हुये, जब **वाक़िफ़**, अर्थात् चैतन्य पुरुष, और अधिक चैतन्य हो जाता है, तब वह **वासिफ़** [गुणों] की स्थिति में प्रवेश करता है, और **वासिफ़** से वह **इरफ़ान** (ज्ञानपथ) की स्थिति में पहुँचता है, और **इरफ़ान** से वह परमात्मा के रहस्यों(**मारिफ़**) के प्रदेश में पहुँचता है। **मारिफ** की स्थिति से उसको परमात्मा की ज्योति प्राप्त होती है जो उसको प्रेमी का पद प्रदान करती है, और जब

वह अन्ततोगत्वा **प्रेम** बन जाता है, तब उसको मालूम होता है कि वह खुद सबकुछ का सर्वस्व था। हुयत की इस स्थिति में सबकुछ परमात्मा की, "मैं—परमात्मा—हूँ" अवस्था में समाप्त हो जाता है।

३५ माया* (१६६)

जो शक्ति मनुष्य को आध्यात्मिक रूप से अन्धा, बधिर, इत्यादि, बनाये रखती है वह खुद उसकी अज्ञानता है जिसका नियन्त्रण ऐहिक अज्ञानता का सिद्धान्त करता है जिसको आमतौर पर माया‡ कहते हैं।

माया को समझना विश्व को समझना है। समस्त मिथ्या मूल्य एवं मिथ्या आस्थायें **माया** के चंगुल के कारण होती हैं। बुद्धि विशेषरूप से माया के हाथों में झूलती है, क्योंकि बुद्धि उस चेतना के लिये सक्षम नहीं होती जिसको अनुभव होता है कि **परमात्मा सत्य** है। सत्य का ज्ञान केवल ऐहिक माया को, जो **माया** के कारण सत्यवत् दिखाई पड़ती है, लाँघ जाने के बाद ही हो सकता है।

माया, अर्थात् अज्ञानता के सिद्धान्त, को केवल तभी लाँघा जा सकता है जबकि आध्यात्मिक जिज्ञासु यह अनुभव करने के योग्य होता है कि **माया** परमात्मा की छाया है और इस रूप में वह शून्य है। माया की पहेली केवल आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होने के बाद ही हल होती है।

३६ मेहेरबाबा कहते हैं : (२२३)

अ. आध्यात्मिक विरोधाभास

"जब तक कि अज्ञानता नहीं हटती और ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती (अर्थात् उस ज्ञान की प्राप्ति जिसके द्वारा दिव्य जीवन का अनुभव एवं आचरण होता है) तब तक आध्यात्मिकता से सम्बन्धित सबकुछ विरोधाभास—परमात्मा, मालूम पड़ता है जिसको हम नहीं देखते, और हम उसे सत्य कहते हैं; और दुनियाँ को, जो हमें दिखाई पड़ती है, हम असत्य कहते हैं। अनुभव में, जोकुछ का अस्तित्व हमारे लिये होता है

---

* [मेहेरबाबा, "माया", जैसा आयरीन कोनीबेयर कृत 'इन क्वेस्ट आफ़ ट्रूथ" में उद्धृत किया गया है (काकीनाडा, आन्ध्र प्रदेश, भारत : स्वामी सत्य-प्रकाश उदासीन), पृष्ठ २७४—२७५। —सम्पादक]

‡ [इसे भी पढ़िये : मेहेरबाबा, "माया", सम्भाषण, ३ : १३७—१५९। —सम्पादक]

वास्तव में उसका अस्तित्व नहीं होता; और जिसका अस्तित्व हमारे लिये नहीं होता, उसका अस्तित्व वास्तव में होता है।

"अपने खुद को पाने के लिये हमें अपने खुद को खो देना चाहिये; इस प्रकार स्वयं क्षति लाभ है। हमें ईश्वर में वास करने के लिये खुद अपने प्रति मर जाना चाहिये; इस प्रकार मौत का अर्थ जीवन है। हमें पूर्णरूप से ईश्वर के अधिकार में होने के लिये अन्तस्तल में बिल्कुल खाली हो जाना चाहिये; इस प्रकार पूर्ण रिक्तता का अर्थ पूर्ण परिपूर्णता होता है। हमें शून्य होने के द्वारा आपा से नग्न हो जाना चाहिये जिससे हम ईश्वर की अनन्तता में निमग्न हो जायँ; इस प्रकार कुछनहीं का अर्थ है सबकुछ।"

ब. अस्तित्व सारतत्व है और जीवन छाया है

"अस्तित्व शाश्वत है, जबकि जीवन नश्वर है।

"तुलनात्मक दृष्टि से अस्तित्व ऐसा है जैसा मनुष्य के लिये उसका शरीर होता है, और जीवन उस कपड़े के समान है जो शरीर को ढाँकता है। वही शरीर मौसमों, समय और परिस्थितियों के अनुसार कपड़े बदलता है, ठीक जिस प्रकार एक और शाश्वत **अस्तित्व**, जीवन के असंख्य और विविध पहलुओं के आद्योपान्त, सदैव विद्यमान रहता है।

"अस्तित्व, अपनी विविध परतों और रंगों के साथ जीवन के लबादा से ढका होने से पहिचान में न आने के कारण अपरिवर्तनशील है। जीवन का लिबास, अपने मन, शक्ति और स्थूल रूपों के पर्दों के सहित जो अस्तित्व के ऊपर 'छाया' और लदा रहता है, शाश्वत, अखण्ड्य और अपरिवर्तनशील अस्तित्व को नश्वर, विविध एवं नित्य—परिवर्तनशील के रूप में प्रस्तुत करता है।

"**अस्तित्व** सर्व-व्यापी है, और सब चीज़ों का अन्तर्निहित सार है, चाहे वे जड़ अथवा चेतन हों, यथार्थ अथवा मिथ्या हों, विविध उप जातियों में हों अथवा एकरूप हों, सामूहिक अथवा व्यक्तिगत हों, भावात्मक अथवा सारभूत हों।

"अस्तित्व की नित्यता में समय नहीं होता। उसमें भूत और भविष्य नहीं होता; केवल नित्य वर्तमान होता है। अनन्तता में कभी कुछ नहीं घटित हुआ और कभी कुछ घटित न होगा। हर चीज़ अनन्त **वर्तमान** (*Now*) में घटित हो रही है।

"अस्तित्व परमात्मा है; जबकि जीवन माया है ।

"अस्तित्व यथार्थता है; जबकि जीवन कल्पना है ।

"अस्तित्व अनश्वर है; जबकि जीवन क्षणिक है ।

"अस्तित्व अपरिवर्तनशील है; जबकि जीवन नित्य परिवर्तनशील है ।

"अस्तित्व स्वतन्त्रता है; जबकि जीवन एक बन्धन है ।

"अस्तित्व अखण्ड्य है; जबकि जीवन बहुगुना है ।

"अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं है; जबकि जीवन धोखा है ।

"अस्तित्व स्वाधीन है; जबकि जीवन मन, प्राणशक्ति और स्थूल रूपों पर निर्भर है ।

"अस्तित्व **है**; जबकि जीवन होता मालूम पड़ता है ।

"अतएव, अस्तित्व जीवन नहीं है ।

"जन्म और मृत्यु जीवन के आदि अथवा अन्त नहीं होते। जबकि जीवन की असंख्य स्थितियाँ और अवस्थायें, जो तथाकथित जन्मों और मृत्युओं को निर्मित करती हैं, विकास और पुनर्जन्म के विधान से नियन्त्रित होती हैं, जीवन **केवल एकबार** अस्तित्व में आता है, वह सीमित चेतना की प्रथम धुँधली किरणों के आगमन के साथ आता है, और अनन्त अस्तित्व की असीमित चेतना प्राप्त होने पर **केवल एकबार** मरता है ।

"अस्तित्व सर्वज्ञ, सर्व—शक्तिमान, सर्व—व्यापी परमात्मा, होने के कारण, कारण और कार्य के परे, देश और काल के परे, समस्त क्रियाओं के परे होता है ।

"अस्तित्व सबका स्पर्श करता है, सब चीज़ों और सब छायाओं का स्पर्श करता है । कोई भी चीज़ कभी भी **अस्तित्व** का स्पर्श नहीं कर सकती । अस्तित्व का स्वयं होना भी **अस्तित्व** का स्पर्श नहीं कर सकता ।

"अस्तित्व का साक्षात्कार करने के लिये, जीवन का त्याग कर देना चाहिये । जीवन ही असीमित आपा को सीमिततायें प्रदान करता है । सीमित सत्व का जीवन संस्कार पैदा करते हुये मन के द्वारा स्थिर रहता है; प्राणशक्ति द्वारा स्थिर रहता है जो अभिव्यक्तियों द्वारा इन संस्कारों को संचित और नष्ट करने की प्रेरणा प्रदान करती है; और स्थूल रूपों तथा शरीरों द्वारा स्थिर रहता है जो ऐसे माध्यमों के रूप में

कार्य करते हैं जिनके द्वारा ये संस्कार नष्ट होते हैं, पुनः संचित होते, और अन्ततः **कर्मों** द्वारा समाप्त हो जाते हैं।

"जीवन कर्मों की शृङ्खला से गहरा जुड़ा रहता है। जीवन कर्मों के द्वारा आचरित होता है। जीवन का मूल्य कर्मों के द्वारा आँका जाता है। जीवन का अतिजीवन कर्मों पर निर्भर रहता है। सचेत जीवन कर्म है—स्वभाव में विपरीत कर्म, स्वीकारात्मक और नकारात्मक कर्म, रचनात्मक और विनाशक कर्म।

"इसलिये, जीवन को उसकी अन्तिम मृत्यु के अधीन होने देना सब संस्कारों का अन्त होने देना है। सव कर्मों का अन्त पूर्णतया हो जाता है, तब जीवन अपने को सहजतया असीमित **सत्व के अस्तित्व** के रूप में अनुभव करता है। अस्तित्व का साक्षात्कार हो जाने पर, चेतना का विकास एवं प्रतिवर्द्धन परिपूर्ण हो जाता है, माया का लोप हो जाता है, और पुनर्जन्म का विधान आगे बन्धन नहीं पैदा करता।

"केवल कर्म करने से मुँह चुराने से कर्मों का अन्त कभी न होगा। इसका केवल यह अर्थ होगा एक कर्म को अब भी दूसरे कर्म में क्रियाशील करना—अर्थात्, अकर्मता को क्रियाशील करना।

"कर्मों का उन्मूलन करने के लिये कर्मों से बचना उपाय नहीं है। इसके विपरीत, ऐसा करने से सीमित सत्व को स्वयं बचने की क्रिया में अधिक उलझने का विस्तार मिलेगा, और इस प्रकार और अधिक कर्म पैदा होंगे। अच्छे और बुरे, दोनों कर्म, जीवन के उलझे हुये धागे में लगी गाँठों के समान हैं। कर्म की गाँठों को खोलने के लिये जितने अधिक प्रयत्न किये जाते हैं, उतनी ही अधिक गाँठें दृढ़ हो जाती हैं और उतनी ही अधिक उलझ जाती हैं।

"केवल कर्म ही कर्मों का सफाया कर सकते हैं, जिस तरह से जहर ही ज़हर के प्रभावों को नष्ट कर सकता है। एक गहरा गड़ा हुआ काँटा, दूसरे काँटे के द्वारा अथवा उसी प्रकार की किसी तेज़ चीज़ के द्वारा, जैसे सुई, बाहर निकाला जा सकता है, यदि उसका प्रयोग चतुरता और सावधानी से किया जाता है। इसी प्रकार से, कर्मों का पूर्ण उन्मूलन दूसरे कर्मों के द्वारा किया जाता है—जब वे 'आत्म' के अलावा किसी अन्य क्रियाशील साधन के द्वारा किये जाते हैं।

"**कर्म योग, ज्ञान योग, राज योग** और **भक्ति योग** सत्य के मार्ग पर प्रमुख संकेत चिन्ह होते हैं, जो **खोजी** को शाश्वत **अस्तित्व** के लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं। किन्तु जीवन का बन्धन, जिसका पोषण कर्मों से होता है, जिज्ञासु के ऊपर इतना कड़ा होता है कि वह इन स्फूर्तिदायक संकेत चिन्हों की सहायता प्राप्त होने पर भी, सही दिशा में पथप्रदर्शन पाने में असफल होता है। जब तक 'आत्म' कर्मों के बन्धन में जकड़ा रहता है, तब तक जिज्ञासु, अथवा सत्य की ओर जाने वाले मार्ग का तीर्थयात्री भी, निश्चय ही आत्म-वंचना के द्वारा भटक जायगा।

"समस्त कालों के आद्योपान्त, **साधुओं** और खोजियों, सिद्धों और सन्तों, **मुनियों** और **साधुओं, तपस्वियों** और **संन्यासियों**, योगियों, सूफ़ियों और **तालिबों**, ने अपने जीवनकालों में तपस्या की है, और अपनेआपको कर्मों की भूल-भुलइयों से छुड़ाने के लिये और जीवन पर विजय प्राप्त करके शाश्वत सत् का साक्षात्कार करने के लिये, संघर्ष किया है और अकथनीय कठिनाइयों का सामना किया है।

"वे अपने प्रयासों में असफल होते हैं क्योंकि वे अपने 'अहं' *(Selves)* से जितना अधिक संघर्ष करते हैं, उतनी ही दृढ़ता से उनके 'आत्म', संयमों और तपस्याओं के द्वारा प्रगाढ़ हुये कर्मों के माध्यम से, एकान्तवासों और तीर्थयात्राओं से, ध्यान और चित्त की एकाग्रता करने से, सत्यान्वेशी वचनों और शान्त चिन्तनों से, प्रगाढ़ क्रिया और अकर्मता से, मौन और भाषण से, **जपों** और **तपों** से, और सब प्रकार के **योगों** और **चिल्लाओं** से, जीवन के बन्धन में जकड़ जाते हैं।

"जीवन के चंगुल से छुटकारा और कर्मों की भूल-भुलइयों से स्वतन्त्रता सबके लिये सम्भव हो जाती है और चन्द लोगों को प्राप्त होती है, जबकि **पूर्ण पुरुष, सद्गुरु** अथवा **कुतुब** के पास पहुँच हो जाती है और उसकी कृपा तथा पथप्रदर्शन प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की जाती है। पूर्ण पुरुष की अनिवार्य सलाह उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करने के लिये होती है। वे चन्द लोग जो अपना सर्वस्व—मन, शरीर, आधिपत्य—सबकुछ समर्पित कर देते हैं, और इस प्रकार वे अपने पूर्ण आत्मसमर्पण के साथ सद्गुरु को चेतनतया खुद अपने अहं भी समर्पित कर देते हैं, तब भी स्वयं उनका अस्तित्व कर्म करने के लिये चैतन्यरूप

से बच रहता है, जो कर्म अब केवल सद्‌गुरु के आदेशों से क्रियाशील होते हैं।

"ऐसे कर्म साधक के 'अहं' के आत्म-समर्पण के बाद अब उसके खुद के कर्म नहीं रह जाते। अतएव, ये कर्म अन्य सब कर्मों का उन्मूलन करने की क्षमता रखते हैं जो जीवन का पोषण करते और उसको स्थिर रखते हैं। तब जीवन क्रमशः निर्जीव हो जाता है और अन्ततोगत्वा, सद्‌गुरु की कृपा से, अपनी अन्तिम मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जीवन, जो किसी समय सतत् **अस्तित्व** का अनुभव करने से परिश्रम करते हुये साधक को रोके था, अब वह खुद अपने छल को कार्य का रूप नहीं दे सकता।

"मैंने भूतकाल में ज़ोर देकर कहा है, मैं तुमको अब बतलाता हूँ, और मैं युग-युगान्तर में सदैव बारम्बार बतलाऊँगा कि तुम अपने जीवन के लबादा को उतार फेंको और सत् का साक्षात्कार करो जो शाश्वतः तुम्हारा **है**।

"अपरिवर्तनशील, अखण्ड्य, सर्व-व्यापी **सत्** की इस सत्यता का अनुभव करने के लिये, सबसे सरल मार्ग है मेरे प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करना; इतने पूर्णरूप से आत्म-समर्पण करना कि तुम्हें अपने आत्म-समर्पण करने की चेतना भी न रहे, और केवल मेरी आज्ञा का पालन करने की तथा जब और जोकुछ मैं आज्ञा दूँ वही करने की चेतना रहे।

"यदि तुम नित्य जीवन्त रहने की इच्छा करते हो, तो तुम मेरे प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करने के हाथों से अपने छली अहं की मौत करने की अभिलाषा करो। यह **योग** सब मिलाकर एक किये गये **योगों** का सार है।"

स. चार यात्रायें

"ईश्वर अनन्त है और उसकी छाया भी अनन्त है। ईश्वर की छाया अनन्त अन्तरिक्ष है जो अनन्त स्थूल लोक को धारण करता है जो, मनुष्य के ज्ञान के विस्तार के भीतर और बाहर, लाखों विश्वों की अपनी घटनाओं सहित, सृष्टि है जिसका प्रारम्भ अनन्त सत् में जो ईश्वर है सीमितता के बिन्दु से हुआ था।

"इन सब लाखों विश्वों में नक्षत्रों सहित अनेक प्रणालियाँ हैं। कुछ प्रणालियाँ गैस सरीखी अवस्थाओं में हैं, कुछ ठोस होने की अवस्थाओं में हैं, कुछ पाषाण एवं धातु की अवस्थाओं में हैं, कुछ ऐसी अवस्थाओं में हैं जो वनस्पति भी रखती हैं। कुछ प्रणालियों में जीवन की योनियाँ भी विकसित हो गई हैं जैसे कीड़ों की योनियाँ, कुछ मछलियों की भी, कुछ पक्षियों की भी, कुछ पशुओं की भी, और कुछ मनुष्य की योनियाँ भी विकसित हो गई हैं।

"इस प्रकार ही हजारों विश्वों के आद्योपान्त नक्षत्र हैं जिन पर विकास के सात जगतों की अभिव्यक्ति है, और चेतना एवं योनियों का विकास पूर्ण हो गया है।

"किन्तु केवल **पृथ्वी** के नक्षत्र पर मानव प्राणियों का पुनर्जन्म होता है, और आत्म-साक्षात्कार के प्रतिवर्द्धन के मार्ग का प्रारम्भ होता है।

"लाखों विश्वों के इस अनन्त स्थूल लोक का केन्द्र **पृथ्वी** है; इस रूप में कि यह वह **बिन्दु** है जिस पर समस्त मानवी-चेतनायुक्त आत्मायें प्रतिवर्द्धन के मार्ग को प्रारम्भ करने के लिये आती हैं।

"इस प्रतिवर्द्धन के पथ में सात स्टेशनें होती हैं और सातवीं स्टेशन पर पहुँचने से ईश्वर-प्राप्ति की प्रथम यात्रा पूर्ण हो जाती है।

"यद्यपि इस यात्रा की पूर्णता समस्त मानवी आत्माओं का लक्ष्य है, तथापि केवल कुछ आत्मायें किसी भी निश्चित क्षण पर इस मार्ग पर आरूढ़ होती हैं। इस यात्रा के अन्त पर पहुँचना अनन्त चेतना के महासागर में व्यक्तित्व का डूब जाना है, और यात्रा की परिपूर्णता, पूर्ण चेतना के सहित, 'मैं-परमात्मा-हूँ' की अवस्था में आत्मा की निमग्नता है, और, परमात्मा के रूप में, वह अनन्त **शक्ति**, **ज्ञान** और **आनन्द** का अनुभव करती है।

"उन सब आत्माओं में से जो पहिली यात्रा पूरी कर लेती हैं, बहुत थोड़ी आत्मायें दूसरी यात्रा में प्रवेश करती हैं। इस यात्रा में कोई स्टेशनें नहीं होतीं। यह एक तात्कालिक यात्रा है—जिसमें अनन्त चेतना की यात्रा 'मैं-परमात्मा-हूँ' अवस्था की अपनी निमग्नता से टकराकर

परमात्मा में परमात्मावत् निवास करना है। इस अवस्था में व्यक्तित्वता पुनः प्राप्त हो जाती है, किन्तु व्यक्तित्वता अब अनन्त हो जाती है, और इस अनन्तता में स्थूल चेतना का समावेश होता है, अतः मनुष्य और परमात्मा के रूप में उसको अनन्त शक्ति, ज्ञान और परमानन्द का अनुभव अत्यन्त सीमितता के मध्य होता है—असीमित आत्मा को सीमितता के बीच अपनी असीमितता का ज्ञान होता है।

"तीसरी यात्रा पर केवल वे लोग चलते हैं जिन्होंने दूसरी यात्रा पूर्ण कर ली है, और जिनके भाग्य में अनन्त शक्ति, ज्ञान और आनन्द के प्रयोग करने का बोझ, वहन करना है और इस प्रकार ईश्वर का ज़ीवन एकसाथ मनुष्य और परमात्मा के दोनों रूपों में व्यतीत करना है।

"किसी भी निश्चित क्षण में केवल ऐसे पाँच सद्‌गुरु पृथ्वी पर सजीव होते हैं, और वे विश्व की हलचलों को तथा मनुष्यों की दुनियाओं के कार्य-व्यापार को नियन्त्रित करते हैं। केवल जब इन पाँच सद्‌गुरुओं में से एक अपना शरीर छोड़ देता है तब उनमें से एक, जो ईश्वर में ईश्वरवत् वास करते हैं, आगे आता है और रिक्त हुये पद को पूरा करने के लिये तीसरी यात्रा पूर्ण करता है।

"इन पाँच **सद्‌गुरुओं** की यह ड्यूटी होती है कि वे **पुरातन पुरुष** (**अवतार**) को पृथ्वी पर उतारें और उसको खुद उसकी सृष्टि का कार्यभार सौंप दें।

"वे सब लोग जो पृथ्वी पर ईश्वर का जीवन व्यतीत करते हैं और सब लोग जो पृथ्वी पर परमात्मा में परमात्मावत् वास करते हैं, जब वे अपने शरीर छोड़ते हैं, तब वे सदैव के लिये अपने सूक्ष्म और कारण शरीरों को भी छोड़ देते हैं और पूर्णतः परमात्मावत् गुज़र जाते हैं, जबकि वे अपनी अनन्त व्यक्तित्वता को धारण किये रहते हैं तथा अनन्त शक्ति, ज्ञान और आनन्द का अनुभव करते रहते हैं। यह चौथी यात्रा है।

"वास्तव में इन चार यात्राओं की यात्रायें कभी नहीं की जातीं, क्योंकि ईश्वर को यात्रा करने के लिये कहीं स्थान नहीं होता। वह आदि

और अन्त से रहित होता है; और हर चीज़ जो अस्तित्व रखती प्रतीत होती है, उससे प्रकट हुई थी जिसका आदि नहीं है और लौटकर उसमें समा जाती है जिसका कोई अन्त नहीं है।"

३७. भूलोक की दुनियाँ (२७५)

भूलोक के रूप में कोई दुनियाँ नहीं है। भूलोक की दुनियाँ सूक्ष्म जगत का अङ्ग नहीं है। तथापि, स्थूल और सूक्ष्म जगतों के बीच सात परदे हैं जिनसे भूलोक के तथाकथित जगत का निर्माण होता है, और यह दो दुनियाओं के बीच एक कड़ी का कार्य करता है।

एक स्थूल-चेतनायुक्त आत्मा लिङ्गदेह रखती हुई कही जा सकती है जो स्थूल को सूक्ष्म से जोड़ती है। लिङ्गदेह स्थूल के ऊपर सूक्ष्म की छाप कही जा सकती है, जो छाप न स्थूल है और न सूक्ष्म।

निद्रा में, साधारण स्वप्न अवस्था में, मनुष्य को अर्द्धचैतन्य रूप से सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल जगत के संस्कारों का अनुभव होता है, और लिङ्गदेह के साथ नहीं होता। भूलोक की दुनियाँ में समस्त अनुभवों के अनुभव जो लिङ्गदेह के माध्यम द्वारा अनुभव में आते हैं वे स्वप्नों की तरह निरर्थक होते हैं।

शरीर त्याग देने के बाद आत्मा भूलोक की दुनियाँ का अनुभव लिङ्गदेह में करती है। इसे आत्मा की भूलोक यात्रा कहा जा सकता है। जब आत्मा मूर्तमान शरीर हो जाती है, तब लिङ्गदेह छूट जाती है और वह नवीन स्थूल शरीर के साथ नई लिङ्गदेह प्राप्त करती है; किन्तु जब तक वह मूर्तमान नहीं होती, तब तक उसके सूक्ष्म और कारण शरीर स्वर्ग अथवा नर्क की अवस्था के अनुभवों से गुज़रते हैं, और ऐसा वे लिङ्गदेह के माध्यम के द्वारा उन संस्कारों के अनुसार करते हैं जो तब सञ्चित हुये थे जब वे मूर्तमान अवस्था में थे।

आध्यात्मिक पथ केवल चेतना के प्रतिवर्द्धन के साथ प्रारम्भ होता है जब आत्मा सूक्ष्म जगत की प्रथम भूमिका का अनुभव करने लगती है, और वह ठीक उस क्षण शुरू नहीं होता जब उसकी पहुँच

स्थूल जगत से भूलोक तक हो जाती है। उस स्थिति में जब आत्मा सूक्ष्म जगत की पहिली भूमिका का पूर्ण अनुभव करती है, तब भूलोक का पर्दा जो सूक्ष्म को स्थूल से जोड़े था सदैव के लिये समाप्त हो जाता है।

मनुष्य द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार

(मनुष्य का शाश्वतः परमात्मा बनना)

सत्यता का लोक

"मैं-परमात्मा-हूँ" का ज्ञानपथ प्रत्येक मनुष्य के लिये सामान्य है और भौतिक मृत्यु होने पर उसका अन्त नहीं होता।

शब्द	स्थिति	अवस्था	क्रम या पहलू	ज्ञानपथ
सूफ़ी	मजज़ूब-ए-कामिल	जाम या हालात-ए-मुहम्मदी	आलम-ए-लहूत	अनल हक़
वेदान्तिक*	ब्रह्मी भूत	निर्विकल्प समाधि	विज्ञान	अहम् ब्रह्मास्मि
गूढ़	पूर्ण पुरुष	ईश्वर में निमग्न	महा-चैतन्यता	मैं परमात्मा हूँ
सूफ़ी	मजज़ूब-सालिक या सालिक-मजज़ूब	जाम फ़र्क़ के साथ अथवा फ़र्क़ के बिना पारी-पारी से	फ़ना-मा-अल-बक़ा	"हमा बा मन अस्त" के सहित अथवा उसके बग़ैर पारी-पारी से "अनल हक़"
वेदान्तिक	परमहंस	निर्विकल्प समाधि त्रिभुवन की चेतना के सहित अथवा उसके बग़ैर पारी-पारी से	तुरिया अवस्था	जिवोहम् के सहित अथवा उसके बग़ैर पारी-पारी से शिवोहम्
गूढ़	दैवी उत्तम-पुरुष	सृष्टि की चेतना के सहित अथवा उसके बग़ैर पारी-पारी से ईश-चेतना	दिव्य सन्धि	"सबकुछ मेरे साथ है" के सहित अथवा उसके बग़ैर पारी-पारी से "मैं परमात्मा हूँ"

* वेदान्तिक तथा निकट वेदान्तिक शब्द।

सूफ़ी	आज़ाद-ए-मुतलक़ या साहेब-ए-जमो-फ़र्क़	जाम के सहित फ़र्क़	फ़ना-मा-अल-बक़ा	"हमा बा मन अस्त" "अनल हक़" के सहित
वेदान्तिक	जीवनमुक्त	त्रिभुवन की चेतना के साथ सहज समाधि	तुरिया अवस्था	जिवोहम् के साथ शिवोहम्
गूढ़	मुक्त हुआ शरीर धारी पुरुष	सृष्टि की चेतना से युक्त ईश-चेतना	दिव्य सन्धि	"मैं परमात्मा हूँ" "सवकुछ मेरे साथ है के साथ"
सूफ़ी	कुतुब	जाम-उल-जाम या बक़ा-बिल्लाह या फ़र्क़-बा-दुल-जाम	मुकाम-ए-मुहम्मदी	"अनल हक़", "हमा मन अम", "हमा दर मन अस्त", तथा "हमा अज़ मन अस्त" एकसाथ
वेदान्तिक	सद्गुरु	सहज समाधि या आत्मप्रतिस्थापना त्रिभुवन की ड्यूटी के साथ	विज्ञान भूमिका	शिवोहम् और सर्वोहम् एकसाथ
गूढ़	पूर्ण पुरुष	नर-नारायण	ईश-चेतना और सृष्टि चेतना एकसाथ	"मैं परमात्मा हूँ" और "सवकुछ मैं हूँ, मुझमें है और मुझसे उत्पन्न है" एकसाथ

नोट : 'जाम' परमात्मा से मिलन की चेतना है।

'फ़र्क़' ईश्वर से पृथक् होने की चेतना है। इसलिये 'फ़र्क़' का आशय होता है तीनों भुवनों—स्थूल, सूक्ष्म, मनोलोक—में से किसी एक अथवा तीनों की चेतना।

'हाल' (सापेक्षिक अस्तित्व का आन्तरिक अनुभव) छठवीं भूमिका तक अन्दर और ऊपर केवल भूमिकाओं में प्राप्त होता है। सातवीं भूमिका में कोई 'हाल' नहीं होता।

उपसंहार

परमात्मा सर्वत्र है और सबकुछ करता है ।

परमात्मा हमारे अन्दर है और सबकुछ जानता है ।

परमात्मा हमारे बाहर है और सबकुछ देखता है ।

परमात्मा हमसे परे है और सबकुछ है ।

एकमेव परमात्मा है ।

शब्द-कोश

यह शब्द-कोश शब्दों का एक संचय है जिसका उपयोग मेहेरबाबा ने **ईश्वर वाणी** का लेख लिखाने में किया है। अन-अँग्रेज़ी शब्दों की उत्पत्ति, अधिकांश रूप में, सूफ़ी अथवा वेदान्तिक परम्पराओं में होती है। उनमें से लगभग सब शब्द अरबी, फ़ारसी अथवा संस्कृत भाषाओं से प्राप्त होते हैं। मेहेरबाबा अपने मौन में वर्णमाला तख्ती पर **ईश्वर वाणी** लिखाते समय, शब्दों का प्रयोग एक वाक्य में चार विभिन्न भाषाओं से करते थे, और ऐसा वह अपना सही अर्थ प्रकट करने में समय बचाने के लिये करते थे। दूसरी ओर, वह कभी-कभी एक शब्द का प्रयोग कुछ विभिन्न आशय में करते थे, जिस शब्द का सही अर्थ वेदान्त शिक्षा में गर्भित होता है। ऐसी दशा में, वह उसकी परिभाषा उस सन्दर्भ से करते थे जिसमें उन्होंने उसका प्रयोग किया था।

इस शब्द-कोश में दी गई परिभाषायें उस आशय के लिये हैं जिसमें मेहेरबाबा ने शब्द का प्रयोग किया है। एक शब्द के बाद अक्षर (S) का यह अर्थ है कि वह सूफ़ी मूल का शब्द है और अरबी अथवा फ़ारसी भाषाओं से प्राप्त होता है। अक्षर (V) का अर्थ है कि वह संस्कृत का शब्द है, और वह आमतौर पर किन्तु सदैव नहीं वेदान्त परम्परा के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। वे शब्द जिनका मूल अन्य भाषाओं में (अर्थात् हिन्दी, मराठी भाषाओं में) होता है वे इसी प्रकार अंकित किये गये हैं। अँग्रेज़ी शब्दों के नीचे तिरछी रेखा *(italics)* नहीं खीची गई।

ईश्वर वाणी के मूल पाठ में अँग्रेज़ी के अलावा अन्य सब भाषाओं के शब्दों के हिज्जे मेहेरबाबा और उनकी **मण्डली** के किये हुये प्रयोग के अनुसार हैं। उनकी सूची उस हिज्जे के अनुसार शब्द-कोश में दी गई है। हमारे सौभाग्य से, मेहेरबाबा के शरीर छोड़ देने के पहले, मेहेरबाबा ने इस शब्द-कोश को, जिसे मैं डाक द्वारा भेज चुका था, देखा और उसको स्वीकार किया।

शब्द-कोश में दिये गये प्रत्येक शब्द के बाद उसका अर्थ अँग्रेज़ी अक्षरों में दिया गया है जिसमें 'काँग्रेस के यू० एस० पुस्तकालय' की पद्धति का प्रयोग किया गया है। इसका वर्णन उनके कैटेलॉजिग सर्विस बुलेटिन ६४, दिनांक फ़र्वरी १९६४ में दिया गया है।

लुडविग एच० डिम्फिल, अप्रैल ५, १९७१

* * * * *

अब्दल (S) : *[abdal]* एक आध्यात्मिक गुरु जिसमें यह विशेष लक्षण होता है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने एक भौतिक शरीर को दूसरे शरीर से बदल सकता है और बदलता है।

अबरार (S) : पाँचवीं भूमिका का सन्त। V : **महापुरुष (सन्त)**।

आदम : सर्वप्रथम आत्मा जिसने विकास चक्र को (पाषाण से मनुष्य तक), और (मनुष्य को वापिस ईश्वर तक) के प्रतिवर्द्धन तक पूर्ण किया था। परम्परागत रूप से, प्रथम मनुष्य। प्रथम **अवतार** भी।

अध्यात्म मार्ग (V) : *[adhyatmamarga]* आध्यात्मिक पथ। S : **तरीक़त, राह-ए-तरीक़त**।

आध्यात्मिक मार्ग (V) : *[adhyatmikamarga]* = अध्यात्म मार्ग।

आदम (S) : *['adam]* **शून्यता**।

अद्वैत (V) : परम ऐक्य। दुई से रहित केवल एक। S : **तौहीद-ए-तन्ज़ीही**।

अद्वैतवाद : शंकराचार्य द्वारा संस्थापित वेदान्त का "अन-द्वैत" सम्प्रदाय। इसकी तुलना सूफ़ी लोग **वुजूदियाह** दृष्टिकोण से करते हैं।

अफ़राद (S) : छठवीं भूमिका पर स्थित प्रवीण तीर्थयात्री। V : **सत्पुरुष**।

अफ़रीदगर (S) : *[afridgar]* विधाता। V : **ब्रह्मा**।

अहदियत (S) : *(ahadiyat)* शब्दार्थ, ऐक्य। चैतन्य ऐक्यता। सर्वोच्च चेतना। S : **हालात्-ए-मुहम्मदी**। V : **विज्ञान**।

अहम् ब्रह्मास्मि (V) : *(ahambrahmasmi)* "मैं-परमात्मा-हूँ"। S : **अनल हक़**।

अहल-ए-तौहीद (S) : *(ahl–i tauhid)* तौहीद, ईश्वर की एकता, से सम्बन्धित गूढ़वादी सम्प्रदायों के सदस्य। **वुजूदियाह** और **शुहूदियाह**।

अहूरमज्द (ज़ोरास्ट्रियन) : सर्वशक्तिमान ईश्वर। S : **अल्लाह**। V : **परमात्मा**।

ऐक्य (V) : मिलन। S : **हक़ीक़त, वस्ल**।

ऐन-उल-यक़ीन : देखिये : **यक़ीन**।

अख़यार (S) : मार्ग पर ऊँचा उठा तीर्थयात्री। V : **महात्मा**।

अकमल (S) : अत्यन्त पूर्ण पुरुष। **बक़ा-बिल्लाह** में ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त **सालिक** का एक दुर्लभ प्रकार जिसे द्वैत में ड्यूटी प्राप्त होती है, लेकिन शिष्य मण्डली प्राप्त नहीं होती। वह **सालिक-ए-अकमल** भी कहलाता है।

अल : (अरबी लेख वर्णमाला में नहीं लिखा गया।)

आलम-ए-हहूत (S) : (*'alam-i hahut*) प्रभुता का लोक। पाँचवें (यथार्थ) लोक का पहलू जहाँ से **कुतुब** और **अवतार** विश्व का संचालन करते हैं। V : **विज्ञान भूमिका**।

आलम-ए-जबरूत (S) : (*'alam-i jabrut*) मनो लोक, जिसमें चेतना की पाँचवीं और छठवीं भूमिकायें होती हैं। V : **मनो भुवन**।

आलम-ए-कबीर (S) : त्रिभुवन, जिसमें पाँच प्रकार के अस्तित्व, **ख़मसा वुजूदत**, होते हैं।

आलम-ए-लहूत (S) : पूर्णता का लोक। V : **विज्ञान**।

आलम-ए-मलकूत (S) : सूक्ष्म लोक, जिसके अन्तर्गत चेतना की प्रथम भूमिका से चौथी भूमिकाओं तक भूमिकायें होती हैं। V : **प्राण भुवन**।

आलम-ए-नसूत (S) : (*'alam-i nasut*) स्थूल लोक। पदार्थ की दुनियाँ, जिसकी प्रथक् चेतना अधिकांश मानव प्राणियों को होती है। V : **अन्न भुवन**।

आलम-ए-सग़ीर (S) : पिण्ड। मनुष्य देह।

अल्लाह (S) : परब्रह्म परमात्मा अवस्था में ईश्वर। सर्वशक्तिमान ईश्वर। V : **परमात्मा**। ज़ोरास्ट्रियन : **अहूरमज्द, यजदान**।

अल अमा (S) : (*al–a'ma*) अँधेरा कोहरा। ईश्वर की परात्पर अवस्था का एक पद।

अनल हक़ (S) : "मैं-परमात्मा-हूँ।" V : **अहम् ब्रह्मास्मि**।

आनन्द (V) : परमानन्द। S : **मुसर्रत**।

अनन्त [V] : अपार। S : **ला महदूद**।

आना (हिन्दी) : एक छोटा सिक्का, रुपये का सोलहवाँ हिस्सा।
अन्न भूमि [V] : स्थूल जगत। S : **आलम-ए-नासूत।**
अन्न भूमिका [V] : स्थूल भूमिका।
अन्न भुवन [V] : स्थूल लोक। S : **आलम-ए-नासूत।**
अन्तर दृष्टि [V] : [*antardrsti*] शब्दार्थ, अन्तस्तल में "देखना" (परमात्मा को देखना)। दृष्टि द्वारा दृढ़ विश्वास।
S : **ऐन-उल-यकीन।** देखिये : **यकीन।**
अनवर [S] : [*anvar*] नूर का बहुवचन, **तजल्ली** के प्रसंग में भी देखिये।
अक्ल-ए-कुल [S] : [*'aql–i kull*] विराट मन। सद्गुरुओं द्वारा प्राप्त किया गया। V : **सार्वभौमिक मन।**
आरिफ़ [S] : [*'arif*] शब्दार्थ, ज्ञाता। चेतना की पाँचवीं भूमिका पर स्थित एक आत्मा।
आरिफ़-उल-वुजूद : देखिये : **वुजूद।**
अर्श-ए-आला [S] : [*'arsh i 'ala*] शब्दार्थ, उच्च सिंहासन। सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति, अर्थात् **अवतार** और सद्गुरुओं की अवस्था।
V : **विज्ञान भूमिका।**
आसन [V] : [*asana*] बैठने का ढँग, जैसा ध्यान लगाने के लिये।
असर [S] : *(asar)* परमात्मा का प्रभाव (जिसका अनुभव **हाल** प्राप्त करने वालों को होता है)।
आशिक़ [S] : शब्दार्थ, प्रेमी। छठवीं भूमिका पर स्थित एक आत्मा।
आशिक-ओ-माशूक [S] : प्रेमी और प्रियतम एक में, पूर्णता के लोक में परमात्मा का पहलू, **आलम-ए-लहूत।**
आशक़ियत [S] : प्रेमी होने की स्थिति। प्रथम अभिव्यक्ति में महिमा का आविर्भाव, जिसमें ईश्वर प्रियतम होता है और मनुष्य प्रेमी होता है।
आसमान [S] : भूमिका। V : **भूमिका।**
आत्मा [V] : (*atman* : *atman* भी) आत्मा। S : **जान** अथवा **रूह।**
आत्मप्रतिस्थापना [V] : = **सहज समाधि।** देखिये : **बका-बिल्लाह।**
अत्तर, शेख़ फ़रीदुद्दीन। निशापुर निवासी। **मन्तिक-उत-तायर** [पक्षियों के सम्मेलन] के लेखक। जिनका वध १९२९ ई० में निशापुर के मुग़ल लूट-पाट में हुआ था।

अवतार [V] : क्राईस्ट, रक्षक, पुरातन पुरुष। S : **रसूल, साहेब-ए-ज़मां**।
आवागमन (हिन्दी) : देखिये : **रिफ़त**।
अवारिफ-उल-मारिफ [S] : (*'avarifulma'arif*) **ज्ञानपथ** की देनें, जिसको तेरहवीं शताब्दी के सूफ़ी, शेख सुहरावर्दी ने लिखा था।
ऐन [S] : (अथवा *ain*) सार, **ज़ात** का पर्यायवाचक। नेत्र, अथवा दृष्टि, भी।
आजाद-ए-मुतलक [S] : मुक्त हुआ शरीरधारी। नवीं अवस्था में परमात्मा। V : **जीवन मुक्त**।
अज्ल-उल-अजल [S] : *[azalulazal]* नित्यताओं की **नित्यता**। परमात्मा की **परात्पर अवस्था** का एक पद।
बन्दा [S] : शब्दार्थ, गुलाम; सेवक। माया में बँधी सीमित आत्मा।
बका [S] : निवास करना। देखिये : **फना-बका**।
बका-बिल्लाह् [S] : दूसरी **ईश्वरीय यात्रा** के अन्त में परमात्मा में निवास करना। V : **आत्मप्रतिस्थापना सहज समाधि**।
बका-उल-बका [S] : *(baqa'lbaqa')* परमात्मा के ईश-पुरुष होने की अवस्था (परमात्मा खुद को **अवतारवत्** जानता हुआ)।
बा सिफत बा सूरत [S] : रूप में सगुण और अभिव्यक्त। V : **सगुण साकार**।
भाव [V] : अतिहर्ष। (**देवता** के सम्बन्ध में) भक्ति का रूप। हर्षोन्माद। S : **ह्गाल**।
भूमिका [V] : भूमिका। स्थिति। S : **आसमान**।
बेहोशी [S] : (*bi hushi*) शब्दार्थ, अचैतन्यता। दुनियाँ में रुचि का अनिच्छित ह्रास जो पीछे को गिरने अथवा व्यक्तिगत आपदा के कारण पैदा होती है। किंचित् आध्यात्मिक मूल्य की।
बेखुदी [S] : खुद की विस्मृति। पथ पर की प्रथम सीढ़ियों में।
ब्रह्मा [V] : विधाता। S : **अफरीदगर**।
ब्राह्मण [V] : यथार्थता। S : **हक़**।
ब्रह्माण्ड [V] : मायावी विश्व।
ब्रह्मी भूत [V] : [*brahmibhuta*] ईश्वर में निमग्न आत्मा। अवस्था ८ में परमात्मा। S : **मजजूब-ए-कामिल**।
बुद्ध : वह **अवतार** जिसकी शिक्षायें हमें बुद्ध धर्म से प्राप्त होती हैं।

उसका जन्म मगध (विहार, भारत) में ईसामसीह के जन्म के लगभग ५६८ वर्ष पहले हुआ था और मृत्यु लगभग ४७७ वर्ष पहले हुई थी।

चिल्ला [S] : [*cillah*] (तपस्या के) ४० दिनों की अवधि।

चिल्ला-नशीनी (S–हिन्दी) : [*cillah-nasini*] ४० दिनों की तपस्या करना।

चित् [V] : [*cit*] ईश्वरीय ज्ञान। S : **मारेफ़त**।

करोड़ (हिन्दी) : [*karora*] १०० लाख। (१०,०००,०००)।

दौर [S] : [*daur*] = **ज़मा** : ७०० से १४०० वर्ष तक का एक काल चक्र, जो **अवतार** के प्रगट होने के समय से प्रारम्भ होता है। V : **युग**।

दौर-ए-कलन्दरी (S) : प्रभुता का चक्र।

दर्शन [V] : शब्दार्थ, देखना, श्रोता। किसी अवसर पर सद्गुरु का प्रगट होना, भक्तों को आशीर्वाद प्रदान करने के लिये, कभी-कभी **प्रसाद** के रूप में।

धर्म शास्त्र *(V)* : सामान्य पथ। पुराणपन्थी। S : **शरियत**।

सम्भाषण : [*Discourses*] : मेहेरबाबा द्वारा १९३८ से १९४४ ई० तक दिये गये सम्भाषणों का संचय।

दिवान (S) : (*divan*) फ़ारसी कविता की ख़ास शैलियों में से एक शैली। अनेक कवियों ने इस शैली में कवितायें की हैं। इस शैली में एक कवि द्वारा रची गई कविताओं का संचय उसका **दिवान** कहलाता है। देखिये : हाफ़िज़।

अन्य महत्वपूर्ण शैलियों के उदाहरण हैं **मसनवी**, और **रुबइयत**।

डिवाईन थीम : **गाड स्पीक्स** में मेहेरबाबा द्वारा दिया गया विषय का खाका, जो प्रथम बार १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ था। अब वह **गाड स्पीक्स** में पूरक १४ के रूप में पुनः मुद्रित हुआ है।

ज्ञान (V) : (*jnana*) ज्ञानपथ। S : **इरफान**।

दो आलम (S) : दो लोक; जैसे स्थूल लोक (**दुनियां**) तथा सूक्ष्म। मनो लोक (**उक़बा**), और चौथे [मिश्रित] लोक का भी समावेश करते हुये। V : **त्रिभुवन**।

डंकिन, डाक्टर विलियम : (१९११-१९६९)।

अँग्रेज़ डाक्टर, लम्बे समय से मेहेरबाबा का शिष्य। प्रथम बार बाबा से १९३३ ई० में लन्दन में मिला। दि वेफ़ेयरर्स ग्रन्थ का लेखक।

दुनियाँ (S) : देखिये : **दो आलम**।

सबकुछ : अनन्त परमात्मा। **सबकुछ**, हर चीज़ होने के कारण, उसमें **शून्य** सम्मिलित होता है।

फना, अन्तिम (S) : **मन** (खुदी) का नाश। V: **मनोनाश (निर्वाण)**।

फ़ना-बक़ा (S) : *(fana' baqa')* तीन प्रकार के स्थायी-नाश के अनुभवों में से एक के प्रसंग में जा सकता है जिसके बीच समानार्थक शब्द निकाले जा सकते हैं : (१) सोना, और साधारण मनुष्य का प्रतिदिन पुनः जागना, (२) मिथ्या अहं के किसी पहलू का नाश (**फना**) जो पथ की प्रत्येक भूमिका में प्रवेश करने के पहले होता है, और उस भूमिका में (**बका**) का जीवन व्यतीत करने में होता है, और (३) **मजज़ूब-ए-कामिल का यथार्थ फना-फिल्लाह**, और **जीवनमुक्त** तथा **सद्गुरु** का **बका-बिल्लाह**।

फना-फिल्लाह (S) : *[fana' fillah]* पूर्ण पुरुष की "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था। V : **निर्विकल्प समाधि**।

फ़नाकार (S) : संहारकर्त्ता। V : **शिव, महेश**।

फना-मा-अल-बका (S) : *[fana' m'ahulbaqa']* **दिव्य सन्धि** पर परमात्मा की नवीं अवस्था। V : **तुरिया अवस्था**।

फना-उल-फना (S) : *[fana'lfana']* परमात्मा की मनुष्य बनने की अवस्था (परमात्मा का **अवतार** के रूप में पृथ्वी पर सीधा अवतरण)।

फकीरी (S) : शब्दार्थ, ग़रीबी। एक दरवेश का जीवन। सर्वोच्च आध्यात्मिक अभिव्यक्ति भी। **पूर्णता**।

फक्र (S) : = **फकीरी**।

फर्क (S) : परमात्मा से चैतन्य पृथक्ता।

फर्क-बा-दुल-जाम (S) : *[farq baduljam']* = **बका-बिल्लाह** के प्रसंग में देखिये।

अल-फ़ुतूहत-अल-मक्कैया (S) : *[al-futuhatulmakkiyyah]* देखिये : इब्न अरबी।

गैब-उल-गैब (S) : (*ghaibulghaib*) छिपों में छिपा । परमात्मा की **परात्पर** अवस्था का एक पद ।

गैर (S) : (*ghair*) शब्दार्थ, दूसरा । दुई ।

ग़ज़ाली, इमाम मुहम्मद : प्रसिद्ध इस्लामिक ब्रह्मज्ञानी और सूफ़ीवाद का लेखक । १०५९ ई० में तस (खुरासान) में जन्म । ११११ ई० में मृत्यु ।

घूँघट (**हिन्दी**) : शब्दार्थ, एक स्त्री का पर्दा । सांकेतिक अर्थ में, **अज्ञान** का पर्दा ।

ईश-पुरुष : **क्राईस्ट** । **मसीहा** । S : **रसूल** । V : **अवतार** ।

गुलशन-ए-राज़ (S) : **गुलाब के बाग़ का रहस्य,** मौलाना शबिस्तरी, कृत तेरहवीं शताब्दी की एक सूफ़ी कविता ।

गुण (V) : *[guna]* देखिये : **सिफत** ।

हदस (S) : (*Hadas*) वह जो अनिश्चित है, अथवा उद्भूत है । **कदीम** से तुलना कीजिये ।

हाफिज, शमसुद्दीन मुहम्मद : चौदहवीं शताब्दी में शीराज़ का **सद्गुरु** । अपने **दीवान** के लिये प्रसिद्ध । मेहेरबाबा का अतिप्रिय कवि ।

हाहूत [S] : (*hahut*) प्रभुता ।

हैरत [S] : *[hairat]* अचरज ।

हाल [S] : [*hal*] आध्यात्मिक समाधि जो अतिहर्ष उत्पन्न करती है, जिसका अनुभव नये स्थान अथवा भूमिका में प्रवेश करने पर होता है । V : **भाव** ।

हालात-ए-मुहम्मदी [S] : *[halat-i-muhammadi]* = **अहदियत** : ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त आत्माओं का चैतन्य ऐक्य ।

हमा अज़ मन अस्त [S] : हर चीज की उत्पत्ति **मुझसे** है ।

हमा अज़ ऊस्त [S] : *(hamah az ust)* हर चीज़ की उत्पत्ति **उससे** है ।

हमा बा मन अस्त (S) : हर चीज़ **मेरे** साथ है ।

हमा बा ऊस्त (S) : हर चीज़ **उसके** साथ है ।

हमा दर मन अस्त (S) : हर चीज़ **मुझमें** है ।

हमा दर ऊस्त (S) : हर चीज़ **उसमें** है ।

हमा मन आम [S] : *[hamah manam]* हर चीज़ **मैं** (***Me***) है ।

हमा ऊस्त (S) : *[hamah ust]* हर चीज़ **वह** है ।

हक़ीक़त (S) : (*haqiqat*) सत्यता । यथार्थता ।

हक़ीक़त-ए-इन्सानी [S] : [*haqiqat–i insani*] मनुष्य की यथार्थता। छठवीं भूमिका के सन्त की अवस्था जो ईश्वर को आमने-सामने देखता है ।

हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी [S] : मुहम्मद की यथार्थता। पूर्ण प्रभुता। परमात्मा की दसवीं अवस्था ।

हक़ीक़ी [S] : यथार्थ । **इज़ाफ़ी** से तुलना कीजिये ।

हक़ (S) : (*haqq*) शब्दार्थ, सत्यता । यथार्थता । परमात्मा । V : **ब्रह्म** ।

हक़ उल-यक़ीन : देखिये : **यक़ीन** ।

हू (S) : (*hu*) शब्दार्थ, वह । परमात्मा ।

हुजवीरी, अली बेन उथमान : **कश्फ़-अल-महजूब (रहस्य का उद्घाटन)** का लेखक । ग़ज़ना में १००० ई० में जन्म । १०७५ ई० में मृत्यु ।

हुवल आख़ेर (S) : (*huvalakhir*) वह आख़िरी है ।

हुवल अव्वल (S) : (*huvalavval*) वह प्रथम है ।

हुवल बातिन (S) : (*huvalbatin*) वह आन्तरिक है ।

हुवल ज़ाहेर (S) : [*huvazzahir*] वह बाह्य है ।

हुयत [S] : [*huviyat*] शब्दार्थ, वह-पन [*He–ness*] । ईश्वर का खुद अपने रूप में खुद का ज्ञान । ईश्वरत्व ।

इब्न अरबी, मुहीउद्दीन : सद्गुरु, जुलाई ११६५ ई० में स्पेन में जन्म : दमस्कस में, अक्टूबर १२४० ई० में मृत्यु । सूफ़ीवाद की उसकी व्याख्या उसकी मुख्य कृति **अल-फ़ुतूहत-अल-मक्किया** में है ।

अज्ञानता : उच्चतर आध्यात्मिक ज्ञान के बग़ैर, माया का ज्ञान । स्थूल-चेतनायुक्त आत्मा के ज्ञान की अवस्था ।

माया : माया का सृजन, विश्व, जिसको स्थूल-चेतनायुक्त आत्मा ग़ल्ती से यथार्थता समझती है ।

इल्म-उल-यक़ीन : देखिये : **यक़ीन** ।

इन्सान [S] : मानवी । व्यक्ति । V : **मानव** ।

इन्सान-ए-कामिल [S] : [*insan-i kamil*] पूर्ण (अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त) मानव । V : **शिव-आत्मा** ।

अल-इन्सान-उल-कामिल [S] : [*al-insanalkamil*] **पूर्ण पुरुष,** चौदहवीं शताब्दी के सूफ़ी, अब्दुल करीम अल-जिली कृत लेख ।

इकबाल, डाक्टर मुहम्मद : पाकिस्तानी कवि एवं दार्शनिक, सियालकोट, पंजाब में १८७३ ई० में जन्म।

इरफान [S] : [*'irfan*] ज्ञानमार्ग। आरिफ़ का ज्ञान; छठवीं और सातवीं भूमिकाओं पर स्थित व्यक्तियों का ज्ञान भी। V : **ज्ञान**।

इरतेका [S] : (*irtiqa'*) विकास। V : **उत्क्रान्ति**।

इसराफील [S] : (*israfil*) प्रधान देवदूत राफ़ेल।

इजाफी [S] : सम्बन्धीय, अथवा सम्बन्धित। **हकीकी** से तुलना कीजिये।

इज़्राईल [S] : (*'izra'il*) प्रधान देवदूत इज़राइल।

जलाल [S] : प्रताप। स्वर्गीय सुख।

जलालुद्दीन रूमी, मौलाना : तेरहवीं शताब्दी का सद्‌गुरु। **मेवलेवी** ("भँवर के समान चक्कर काटते हुये") फ़क़ीरों का संस्थापक। **मसनवी** का लेखक।

जाम (S) : [*jam'*] शब्दार्थ, प्याला। ईश्वर से चैतन्य मिलन। ईश्वर-साक्षात्कार।

जमाल (S) : सौन्दर्य।

जमाल-ए-अहदियत [S] : [*jamal-i ahadiyat*] पूर्ण ऐक्य की सुन्दरता।

जाम-उल-जाम (S) : (*jam'uljam'*) = **बका-बिल्लाह**।

जान (S) : आत्मा। V : **आत्मा** अथवा **आत्मन**।

जान-ए-जिस्मी (S) : [*jan–i jismi*] देखिये : **जीव-आत्मा**।

जानां (S) : (*janan*) प्रियतम।

जापस [V] : (जप-एकवचन) आमतौर पर **मन्त्रों** अथवा प्रार्थनाओं का जप।

जेसस : नज़ारेथ का, क्राईस्ट।

जिबराईल [S] : [फ़ारसी : **जिबराईल**; कुरान : **जिबरील**।] गैबरील नाम का देवदूत।

अल-जिली, अब्दुल करीम : **अल-इन्सान-उल-कामिल** [पूर्ण मानव] का लेखक, और सूफ़ी सम्प्रदाय **स्पष्टवाद** (**वहदत-उल-शुहुद**) का संस्थापक। १४०८ ई० में मृत्यु।

जिस्म-ए-अल्ताफ़ [S] : (*jism–i altaf*) कारण शरीर। V : **कारण शरीर**।

जिस्म-ए-कसीफ़ (S) : (*jism–i kasif*) स्थूल शरीर। V : **स्थूल शरीर**।

जिस्म-ए-लतीफ़ [S] : (*jism-i latif*) सूक्ष्म शरीर। V : **सूक्ष्म शरीर।**

जीवनमुक्त (V) : एक पूर्ण पुरुष। S : **आज़ाद-ए-मुतलक, साहेब-ए-जमो-फ़र्क, सालिक-ए-कामिल।** देखिये : मुक्त।

जीवनमुक्ति : देखिये : **मुक्ति।**

जीव-आत्मा [V] : (*jivatma*) देहधारी आत्मा। व्यक्ति। S : **जान-ए-जिस्मी।**

जिवोहम् [V] : (*jivo'ham*) "मैं व्यक्ति हूँ।"

बगदाद का जुनायद : नवीं शताब्दी का विख्यात सूफ़ी शेख। ९१० ई० में मृत्यु।

कान्नहू हू [S] : शब्दार्थ, ठीक वही। उसके सामने। अन्तिम **फना** में आत्मा जोकुछ हो जाती है उसका **शुहूदियाह्** सम्प्रदाय द्वारा वर्णन।

कबीर : बनारस का चौदहवीं शताब्दी का सद्गुरु, १४३५ ई०-१५१८ ई०।

काल [V] : लगभग ६५ से १२५ वर्ष की अवधि का एक युग। हर कालचक्र में ग्यारह युग होते हैं। *S* : **वक्त।**

कामिल [*S*] : = **सालिक-ए-कामिल** : देखिये : **सालिक।**

करामत [*S*] : (बहुवचन में **करामात**) : पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं पर स्थित व्यक्तियों द्वारा किया गया चमत्कार।

कारण शरीर [V] : (*karanasarira*) मानस शरीर। S : **जिस्म-ए-अल्ताफ।**

कर्म [V] : शब्दार्थ, क्रिया। भाग्य। व्यक्ति के जीवनकाल में स्वभाविक और आवश्यक घटनायें, जो व्यक्ति के भूतकाल के जीवनों के अनुसार होती हैं।

कर्मकाण्ड [V] : देखिये : **शरियत।**

कस्ब [S] : एक उपार्जन, जैसे खरीदने अथवा व्यापार करने के द्वारा। **मावहीब** से तुलना कीजिये।

कश्फ़-अल-महजूब [S] : [*kashfalmahjub*] देखिये : हुजवीरी।

ख़मसा वुजूदत [*S*] : [*khamsah vujudat*] अस्तित्व के पाँच प्रकार। मानव के अन्दर परात्पर अवस्था में परमात्मा की पाँच उपक्रान्तियाँ। देखिये : **वुजूद।**

खुदी [*S*] : मिथ्या अहम्।

कृष्ण : अवतार जिसका इतिहास हिन्दू महाकाव्य **महाभारत** में वताया गया है। युद्ध के ठीक पहले वीर योद्धा अर्जुन को दिया गया उसका उपदेश **भगवद् गीता** के नाम से प्रसिद्ध है।

लहर (हिन्दी, मराठी) : शब्दार्थ, लहर, तरंग, मौज, कल्पना। परमात्मा की मौज जिससे सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ।

लहूत [*S*] : [*lahut*] पूर्णता।

लाख (हिन्दी) : १००, ०००। V : **लक्ष**।

ला महदूद (*S*) : अनन्त। V : **अनन्त**।

ला मकां (*S*) : शब्दार्थ, स्थानरहित; "शून्य" बिन्दु। मनो लोक में स्थित "वीज" जहाँ काल और देश के सभी विचार एक बिन्दु पर केन्द्रित होते हैं, और जिससे सूक्ष्म एवं स्थूल जगतों का प्रादुर्भाव होता है।

ला सिफ़त ला सूरत (*S*) : गुण और रूप से रहित। V : **निर्गुण निराकार**।

लीला (V) : **सृष्टि** की "दैवी क्रीड़ा"। वह "खेल" जो ईश्वर खेलता है, जिससे **विश्व** का आविर्भाव होता है।

मारिफ़ [*S*] : ईश्वर के रहस्यों का प्रदेश (दिव्य ज्ञान का प्रदेश)।

महाचैतन्य [V] : अति-चेतना। पूर्ण चेतना जो चैतन्य **चेतना** के रूप में पूर्णतया प्रतिवर्द्धित हुई।

महाकारण शरीर [V] : व्यापक शरीर।

महाप्रलय [V] : एक ऐहिक युग के अन्त में विश्व का महा विनाश। *S* : **क़यामत**।

महापुरुष [V] : पाँचवीं भूमिका का सन्त। *S* : **वली, अबरार**।

महात्मा (V) : एक महान आत्मा। S : **अख़यार**।

महायोगी (V) : चौथी भूमिका का **योगी**।

महेश [V] : = शिव : संहारकर्त्ता। S : **फ़नाकार**।

मझ़्हुल-उन-नत [S] : [*majhulnna't*] अज्ञेय और अवर्णनीय। परमात्मा की परात्पर अवस्था का एक पद।

मजज़ूब (S) : शब्दार्थ, तल्लीन। वह व्यक्ति जो प्रतिवर्धित होती हुई चेतना की एक भूमिका में तल्लीन है।

मजज़ूब-ए-कामिल (S) : ईश्वर में निमग्न आत्मा। (सातवीं भूमिका की)। V : **ब्रह्मी भूत**।

मजज़ूबियत (S) : परमात्मा की आठवीं अवस्था, **मजज़ूब-ए-कामिल** की अवस्था।

मजज़ूब-सालिक (S) : एक पूर्ण पुरुष जिसके मजज़ूब के समान गुणों की प्रधानता होती है। V : **परमहन्स।**

मन दर हमा अम (S) : मैं हर चीज़ में हूँ।

नर-नारायण : एक पूर्ण पुरुष। S : **कुतुब।** V : **सद्गुरु।** देखिये : ईश-पुरुष भी।

मन हमा अम (S) : मैं सबकुछ हूँ।

मन (मराठी अथवा हिन्दी) : शब्दार्थ, मन, कारण शरीर भी। S : **जिस्म-ए-अल्ताफ़।** V : **मानस।**

मानव (V) : देखिये : **इन्सान।**

मण्डली (हिन्दी) : मेहेरबाबा के मण्डल के सदस्य। V : **मण्डल = वृत्त।**

मनो भूमि (V) : *(manobhumi)* मनो जगत। S : **आलम-ए-जबरूत।**

मनो भूमिका (V) : मानसिक भूमिका।

मनो भुवन (V) : मनो लोक। S : **आलम-ए-जबरूत।**

मनोनाश (V) : *(manonasa)* **मन** (अहं) का नाश। S : अन्तिम **फ़ना।**

मन्तिक-उत-तेयर (S) : *(mantiquttair)* **पक्षियों का सम्मेलन,** ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के सूफ़ी, शेख फ़रीदुद्दीन अत्तार की कही हुई एक रूपक कहानी।

मंत्र (V) : एक गुरु द्वारा अपने शिष्य को दिया गया आध्यात्मिक नियम के रूप में एक पवित्र नाम अथवा वाक्य। S : **वज़ीफ़ा।**

मावहिब (S) : *(maohib)* प्रदत्त; एक भेंट। कस्ब से तुलना कीजिये।

मारेफ़त (S) : *(ma'rifat)* ईश्वरीय ज्ञान। V : **चित्, ज्ञान।**

मारेफ़त-ए-हक़ीक़त (S) : *(ma'rifat–i haqiqat)* **सत्यता** का ज्ञानपथ। **पूर्ण पुरुष** अथवा **अवतार** का ज्ञानपथ, जिसको दुई में ड्यूटी प्राप्त होती है। V : **सत्यानुभूति।**

माशूक़ (S) : प्रियतम।

माशूक़ियत (S) : शब्दार्थ, प्रियतम होने की अवस्था। प्रथम अभिव्यक्ति **(तजल्ली-ए-अव्वल)** में सौन्दर्य का आविर्भाव, जिसमें परमात्मा **प्रेमी** होता है और मनुष्य प्रियतम होता है।

मसनवी (S) : जलालुद्दीन रूमी की प्रधान साहित्यिक कृति। देखिये, **दीवान** भी।

मस्त (S) : **मार्ग** पर ईश्वरोन्मत्त आत्मा।

मस्ती (S) : देखिये : सुलूक़।

मोवाहिद (S) : *[muvahhid]* एक अद्वैतवादी; **अहल-ए-तौहीद** का एक व्यक्ति।

माया (V) : शब्दार्थ, भ्रम। मिथ्या लगाव। वह जो **शून्य** को सबकुछ के रूप में दर्शाता है। अज्ञानता का मूल। परमात्मा की छाया। S : **मेजाज़**।

मेजाज़ (S) : *[majaz]* = माया।

मेवलेवी (S) : *[molavi]* देखिये : जलालुद्दीन रूमी।

मिकाईल (S) : [*mika'il*] मिकाइल नाम का देवदूत।

मोजेजा (S) : *[mu'jizah]* (बहुवचन मोजेजात : मुजीज़ात) **अवतार** अथवा **कुतुब** द्वारा किया गया चमत्कार।

मोक्ष (V) : देखिये : **मुक्ति**।

मुहम्मद : नबी, ५७०–६३२ ई०।

बसरा का मुहासिबी, अब्दुल्ला हैरिस : **हाल** और **मुकाम** के विषय का प्रारम्भिक लेखक। मृत्यु ८५७ ई०।

मुजद्दिद (S) : [*mujaddid]* प्रत्यक्षवादी। **वहदत-उल-शुहुद** के सिद्धान्त के अनुयायी।

मुजाहिदा (S) : [*mujahadah*] अभ्यास; प्रयास करना; प्रयत्न करना। V : **साधना**।

मुकम्मिल (S) : सर्वोच्च **पूर्ण पुरुष**। सद्गुरु। **सालिक-ए-मुकम्मिल** भी कहलाता है। **कुतुब**। V : **सद्गुरु**।

मुक्त (V) : वह व्यक्ति जो (पुनर्जन्म के चक्र से) छुटकारा पा गया है।

विदेह मुक्त : ईश्वर में निमग्न आत्मा = **ब्राह्मी** भूत। S : **मजज़ूब-ए-कामिल**।

जीवनमुक्त : बन्धन से छूटा देहधारी। S : **आज़ाद-ए-मुतलक़, सालिक-ए-कामिल**।

परम मुक्त : पूर्ण पुरुष = सद्गुरु। S : **कुतुब, सालिक-ए-मुकम्मिल**।

मुक्ति (V) : छुटकारा। जन्मों और मृत्युओं (अर्थात् पुनर्जन्म) के चक्र से छुटकारा।

साधारण मुक्ति : = मोक्ष । अधिकांश आत्माओं को प्राप्त हुई मुक्ति। S : **नजात** ।

विदेह मुक्ति : [*Videhamukti*] दुई की चेतना से रहित "मैं-ईश्वर-हूँ" अवस्था ।

जीवनमुक्ति : दुई की चेतना से युक्त "मैं-ईश्वर-हूँ" अवस्था ।

परम मुक्ति : ईश-चेतना और सृष्टि-चेतना से एकसाथ सम्पन्न "मैं-ईश्वर-हूँ" अवस्था ।

मुलहिद (S) : ईश्वर को न मानने वाला । V : **नास्तिक** ।

मुमकिन-उल-वुजूद : देखिये : **वुजूद** ।

मुमतान-उल-वुजूद : देखिये : **वुजूद** ।

मुनीस (V) : (मुनि-एकवचन) शब्दार्थ, मौन का अभ्यास करने वाला। एक पवित्र पुरुष, साधू, तपस्वी ।

मुनक़त-उल-इजहारात (S) : [*munqata'ulizharat*] वह अवस्था जिससे सम्बन्धित सभी लक्षणों का लोप होता है। परमात्मा की **परात्पर** अवस्था का एक पद ।

मुन्सिफ़, डाक्टर अब्दुल ग़नी : एक लम्बे समय से मेहेरबाबा का शिष्य । २० अगस्त १९५१ को मृत्यु ।

मुकद्दर (S) : देखिये : **प्रारब्ध** ।

मुक़ाम (S) : [*maqam*] (बहुवचन मुक़ामात : मक़ामात) पथ पर एक स्थान, अथवा भूमिका ।

मुक़ाम-ए-फुरूतत (S) : [*maqam-i furutat*] दिव्य सन्धि । V : **तुरिया अवस्था** ।

मुक़ाम-ए-हैरत (S) : [*maqam-i hairat*] मोहित होने का स्थान । तीसरी और चौथी भूमिकाओं के बीच पथ पर एक स्थान, जहाँ जिज्ञासु अपनी आध्यात्मिक प्रगति में लम्बे अर्से तक रुका रह सकता है ।

मुक़ाम-ए-मुहम्मदी (S) : एकसाथ ईश-चेतना और सृष्टि-चेतना की अवस्था । V : **विज्ञान भूमिका** ।

मुसर्रत (S) : [*masarrat*] आनन्द । V : **आनन्द** ।

मुतवस्सित (S) : उच्च आत्मा । V : **साधू** ।

नाद (V) : ध्वनि । दिव्य सङ्गीत । मूल **शब्द** ।

नफ्स (S) : आपा; मिथ्या अहं ।

नफ्स-ए-अम्मरा (S) : [*nafs-i ammarah*] कामुक अहं । स्थूल जगत अथवा लोक की चेतना ।

नफ्स-ए-लवामा (S) : [*nafs-i lavamah*] अधः अहं । सूक्ष्म लोक की चेतना ।

नफ्स-ए मुलहिमा (S) : [*nafs-i mulhimah*] स्फूर्तियुक्त अहं । छठवीं भूमिका पर स्थित आत्मा की चेतना ।

नफ्स-ए-मुतमइन्ना (S) : [*nafs-i mutma'innah*] आनन्द प्राप्त आत्मा । पाँचवीं भूमिका पर स्थित आत्मा की चेतना ।

नजात [S] : छुटकारा । V : साधारण **मुक्ति** ।

नास्तिक [V] : अनीश्वरवादी । S : **मुलहिद** ।

निराकार [V] : रूपरहित । S : **ला सूरत** ।

निर्गुण [V] : गुणरहित । S : **ला सिफ़त** ।

निर्वाण [V] : **यथार्थ फ़ना** की पहली स्थिति । कुछ उदाहरणों में उसके पश्चात् तत्काल दूसरी स्थिति **फ़ना-फ़िल्लाह** आती है ।

निर्विकल्प समाधि : देखिये : **समाधि** ।

शून्य : परमात्मा की, जो सबकुछ है, अनन्त छाया ।

नुक़ुश-ए-अमल [S] : [*nuqush-i amal*] शब्दार्थ, कर्मों के संस्कार । V : **संस्कार** ।

नूर [S] : (बहुवचन **अनवर**) कान्ति, तेज ।

नूर-ए-मुहम्मदी [S] : वह प्रकाश जिसका भान परमात्मा को पहले पहल खुद को जानने की इच्छा (लहर) के फलस्वरूप हुआ ।

ओम [V] : [*aum*] परमात्मा । प्रथम **शब्द**, सृष्टि के आदि के आदि में हुई मूल ध्वनि । देखिये, **नाद** भी ।

परमात्मा [V] : (अथवा परम आत्मा) सर्वशक्तिमान ईश्वर । S : अल्लाह । जरतोस्ती : **अहुरमज्द** । **यज़दान** ।

परमहन्स [V] : एक पूर्ण पुरुष, जो कभी-कभी ईश्वर में "निमग्न हो जाता है", जिस दशा में वह **मजजूब-सालिक** कहलाता है; और कभी-कभी उसको सृष्टि की भी चेतना होती है, जिस दशा में वह **सालिक-मजजूब** कहलाता है ।

परम मुक्त : देखिये : **मुक्त** ।

परम मुक्ति : देखिये : **मुक्ति** ।

परात्पर परब्रह्म [V] : परमात्मा की अति-परे [प्रथम] अवस्था। S : **वरा-उल-वरा। गैब-उल-गैब।**

परवरदिगार [S] : रक्षक अथवा पोषक : V : **विष्णु।**

पीर [S] : छठवीं भूमिका का गुरु। V : **सत् पुरुष।**

प्राण [V] : शब्दार्थ, प्राणशक्ति। सूक्ष्म शरीर। समग्र जीवन की स्वाँस, भी।

प्राण भूमि [V] : सूक्ष्म जगत। S : **आलम-ए-मलकूत।**

प्राण भूमिका [V] : सूक्ष्म भूमिका।

प्राण भुवन [V] : सूक्ष्म लोक। S : **आलम-ए-मलकूत।**

प्रारब्ध [V] : संस्कारी कड़ियाँ जो न केवल मनुष्य के जीवन काल की अवधि निर्धारित करती हैं : वरन् उसके स्वयं जीवन मार्ग को भी निर्धारित करती हैं। अनिवार्य भाग्य। S : **मुक़द्दर।**

प्रसाद [V] : एक छोटी भेंट, सामान्यतः खाने योग्य, जो सद्गुरु अपने प्रेम के ठोस प्रकाशन के रूप में देता है। निगल जाने पर वह एक बीज की तरह क्रिया करती है जो अन्ततः बढ़कर पूर्ण विकसित प्रेम हो जाती है। सद्गुरु की कृपा-पूर्ण भेंट।

पुनर्जन्म [V] : (*punarjanma*) पुनः पुनः जन्म। S : **रिजत।**

पुरातन पुरुष [V] : पूर्ण पुरुष। S : **इन्सान-ए-कामिल।**

क़दीम [S] : वह जो मूल (पुरातन) है। **हदस** से तुलना कीजिये।

क़ियामत [S] : (*qiyamat*) विश्व का महान [अन्तिम] विनाश। V : **महाप्रलय।**

क़ुदरत [S] : दिव्य शक्ति। V : **सत्।**

क़ुर्बत [S] : शब्दार्थ निकटता। ईश्वर से सम्बन्ध।

क़ुर्ब-ए-फरायिज़ [S] : (*qurb-i fara'iz*) अस्वैच्छिक [आवश्यक] निकटता : परमात्मा के प्रति **अवतार** का सम्बन्ध।

क़ुर्ब-ए-नवाफ़िल [S] : स्वैच्छिक निकटता : परमात्मा के प्रति सद्गुरु का सम्बन्ध।

क़ुतुब [S] : (*qutb*) शब्दार्थ, धुरी। एक **पूर्ण पुरुष।** V : **सद्गुरु।**

क़ुतुब-ए-इरशाद [S] : (*qutb-i irshad*) पाँच जीवन्त **क़ुतुबों** का अध्यक्ष जो विश्व के कार्यों का निर्देशन करता है। **अवतारिक** युग में इस पद पर **अवतार** आसीन होता है।

क़ुतुबियत [S] : सद्गुरुपन। परमात्मा की दसवीं अवस्था।

शाह-ए-तरीक़त [S] : देखिये : तरीकत।
रहरव (S) : (*rahrev*) वह व्यक्ति जो पथ पर चलता है। V : साधक।
राम : वह अवतार जिसके जीवन चरित्र का वर्णन हिन्दू महाकाव्य रामायण में किया गया है।
रसूल (S) : (*rasul*) रक्षक, क्राईस्ट। V : अवतार।
रिजत (S) : पुनर्जन्म। V : पुनर्जन्म, आवागमन।
रूह (S) : जान। आत्मा। V : आत्मा।
सद्गुरु (V) : एक पूर्ण पुरुष। S : कुतुब।
साधक (V) : वह व्यक्ति जो पथ पर चलता है। S : रहरव।
साधना (V) : देखिये : मुजाहिदा।
साधू (V) : एक तीर्थयात्री। एक उन्नत आत्मा। S : मुतवस्सित।
सदरत-उल-मुन्तहा (S) : (*sadratulmuntaha*) अन्तिम सीमा। चौथे [मिश्रित] लोक में एक बिन्दु जिसके परे कोई भी निराकार आत्मा (जैसे एक फ़रिश्ता अथवा प्रधान देवदूत) ईश्वर तक पहुँचने के लिये नहीं जा सकती है।
सगुण (V) : गुणोंसहित, गुणयुक्त। S : बा सिफ़त।
सहज समाधि : देखिये। समाधि।
सहवास (हिन्दी) : सद्गुरु द्वारा बुलाया गया सम्मेलन जिससे कि उसके भक्त उसकी संगति का आनन्द ले सकें, अर्थात् उसकी भौतिक उपस्थिति का आनन्द ले सकें।
साहेब-ए-जमों-फ़र्क़ (S) : (*sahib-i jam'o farq*) = आज़ाद-ए-मुतलक़ : शरीरधारी मुक्त आत्मा; पूर्ण पुरुष। परमात्मा की नवीं अवस्था में एक आत्मा। V : जीवनमुक्त।
साहेब-ए-ज़मां (S) : (*sahib-i zaman*) = रसूल।
साकार (V) : रूपधारी। S : बा सूरत।
सल्ब-ए-विलायत (S) : (*salb-i vilayat*) प्रथम चार भूमिकाओं में से एक पर स्थित आत्मा से सद्गुरु अथवा अवतार द्वारा चमत्कारी शक्तियों का छीनना।
सालिक (S) : वह आत्मा जिसे छः भूमिकाओं में से किसी एक का दिव्य अनुभव चैतन्यरूप से होता है। यथार्थ सालिक = ईश्वर के रूप में मनुष्य जो बक़ा-बिल्लाह की अवस्था का अनुभव करता है।
सालिक-ए-अकमल (S) : एक अत्यन्त पूर्ण पुरुष।

सालिक-ए-कामिल (S) : पूर्ण पुरुष । V : **जीवनमुक्त** ।
सालिक-ए-मुकम्मिल (S) : एक परम पूर्ण पुरुष = **कुतुब** । V : **सद्गुरु** ।
सालिक-मजजूब (S) : देखिये : **परमहंस** ।
समाधि (V) : आध्यात्मिक ध्यान लगाने से उत्पन्न हुई अचेत अवस्था ।
निर्विकल्प समाधि : *[nirvikalpasamadhi]* **पूर्ण पुरुष** की "मैं-परमात्मा-हूँ" अवस्था । आविर्भूत दिव्यता । S : **फ़ना-फिल्लाह** ।
सहज समाधि : **सद्गुरु** और **अवतार** की **पूर्णता** की प्रयासरहित और नित्य अवस्था । क्रियाशील दिव्यता । S : **बका-बिल्लाह** ।
शंकराचार्य : हिन्दू सद्गुरु, वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का संस्थापक । ६८६–७१८ ई० ।
संस्कार (V) : (संस्कार–एकवचन) संस्कार समूह । वे संस्कार भी जो आत्मा के ऊपर पूर्व जन्मों से प्राप्त स्मृतियों के रूप में रह जाते हैं, और जो मौजूदा जीवनकाल में मनुष्य की इच्छाओं और कर्मों को निर्दिष्ट करते हैं । S : **नुकुश-ए-अमल** ।
सन्त (**हिन्दी**) : सन्त । S : **अबरार वली** । V : **महापुरुष** ।
संन्यासी (V) : (*samnyasi*–एकवचन) वे लोग जिन्होंने दुनियाँ को त्याग दिया है ।
सार्वभौमिक मानस (V) : **व्यापक मन** । S : **अक्ल-ए-कुल** ।
सर्वोहम् (V) : "मैं सर्वस्व हूँ" । S : **हमा मन अम** ।
सत् (V) : दिव्य शक्ति । S : **कुदरत** ।
सत्पुरुष (V) : छठवीं भूमिका का सन्त । S : **पीर, अफराद** ।
सत्यानुभूति (V) : **सत्यता का ज्ञानपथ** । S : **मारेफत-ए-हकीकत** ।
सैर-ए-मा अल्लाह (S) : *[sair-i m'ahullah]* शब्दार्थ, ईश्वर के साथ सैर । **तीसरी ईश्वरीय यात्रा** ।
शाबिस्तरी, मौलाना महमूद : नवीं शताब्दी का सूफ़ी **गुलशन-ए-राज़** का लेखक ।
शक्ति (V) : सामर्थ्य ।
शम्सि तबरेज़ : पूर्ण पुरुष, चलता-फिरता फ़क़ीर और जलालुद्दीन रूमी का आध्यात्मिक गुरु । १२४६ ई० में मृत्यु ।
शरिअत (S) : सामान्य पथ; कट्टर पन्थी । V : **धर्म शास्त्र, कर्मकाण्ड** ।
शरीर (V) : शब्दार्थ, देह । स्थूल शरीर ।
शिबली, आबू बकर : बग़दाद के जुनायद का शिष्य । ९४६ ई० में मृत्यु ।

शिव (V) : = **महेश; संहारकर्त्ता** । परमात्मा, भी । S : **फ़नाकार** ।

शिव आत्मा (V) : (शिवात्मन भी) ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त एक पूर्ण आत्मा । S : **इन्सान-ए-कामिल** ।

शिवोहम् (V) : "मैं-परमात्मा-हूँ" । **अहम् ब्रह्मास्मि** । S : **अनल हक़** ।

शोबादा (S) : (*shu'badah*) पहली से तीसरी भूमिकाओं तक स्थित आत्माओं द्वारा शक्ति प्रदर्शन ।

शुहूदियाह (S) : सूफ़ीवाद का प्रत्यक्षवादी सम्प्रदाय । जिसके अनुरूप वेदान्तिक मत है **विशिष्ट अद्वैत** ।

सिद्धियाँ [V] : (सिद्धि—एकवचन) **दैवी शक्तियाँ**, गूढ़ शक्तियाँ भी । S : **तजल्लियत** ।

सिफत (S) : ईश्वर के गुण, ईश्वर के दिव्य सार [ज़ात] के विपरीत के रूप में । V : **गुण** ।

स्थान [V] : एक स्थल । S : **मुकाम** ।

स्थूल शरीर [V] : स्थूल शरीर । S : **जिस्म-ए-कसीफ** ।

सूफ़ी (S) : (सूफ़ी—एकवचन) रहस्यवादी जिनके मूल उद्भव **मध्य पूर्व** में स्थित हैं । उनके आरम्भ प्राचीन काल में लुप्त हो गये हैं । उनका अस्तित्व ज़ोरास्टर के काल में था और उनको मुहम्मद ने नया जीवन प्रदान किया था । आजकल उनका अस्तित्व दुनियाँ के सब भागों में है ।

सुहरावर्दी, शेख शहाबुद्दीन : ११४५-१२३४ ई० । **अवारिफ-उल-मारिफ** का लेखक । **प्रत्यक्षवाद** (**वहदत-उल-शुहुद**) का लेखक ।

सूक्ष्म शरीर [V] : प्राण शरीर । S : **जिस्म-ए-लतीफ** ।

सुलूक (S) : **मस्ती** का विलोम । ईश्वर-साक्षात्कार के पश्चात् सामान्य (सृष्टि) की चेतना की पुनः प्राप्ति, जिसका अनुभव **असली सालिकों** को **बका-बिल्लाह** में होता है ।

सुलूकियत (S) : अन्तिम **सुलूकियत बका-बिल्लाह** में **यथार्थ सालिक** की अवस्था है ।

तजल्ली (S) : (बहुवचन तजल्लियात) शब्दार्थ, अभिव्यक्ति । परमात्मा का ऐश्वर्य जिसका अनुभव जिज्ञासु को आध्यात्मिक पथ पर होता है ।

१) ईश्वर की उसकी मायावी **सृष्टि** के रूप में अभिव्यक्ति ।

२) सूक्ष्म जगत की प्रथम तीन भूमिकाओं की शक्तियाँ ।

३) चौथी भूमिका (**अनवर-ओ-तजल्लियत**) की दिव्य शक्तियाँ ।

तजल्ली-ए-अव्वल [S] : प्रथम अभिव्यक्ति, **वहीद-उल-वुजूद**।

तजल्ली-ए-चहारोम [S] : *(tajalli-yi caharum)* चौथी अभिव्यक्ति, **मुमकिन-उल-वुजूद**।

तजल्ली-ए-दोयम (S) : *(tajalli-yi duvvum)* द्वितीय अभिव्यक्ति, **आरिफ़-उल-वुजूद**।

तजल्ली-ए-जलाली (S) : ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति, अथवा आविर्भाव, जो आत्मा को **फना** का अनुभव प्रदान करता है, **आशकियत**।

तजल्ली-ए-जमाली (S) : सौन्दर्य का आविर्भाव, अथवा अभिव्यक्ति, जो ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मा को पुनः सामान्य चेतना प्रदान करती है, **माशूकियत**।

तजल्ली-ए-पन्जोम (S) : *(tajalli-yi panjum)* पाँचवीं अभिव्यक्ति, **वाजिब-उल-वुजूद**।

तजल्ली-ए-सिवोम (S) : *(tajalli-yi sivvum)* तीसरी अभिव्यक्ति, **मुमतान-उल-वुजूद**।

तजल्लियात (S) : **तजल्ली** का बहुवचन, तजल्ली के प्रसङ्ग में देखिये।

तजल्लियात-ए-खमसा (S) : *(tajalliyat-i khamsah)* : पाँच अभिव्यक्तियाँ = **खमसा वुजूदत**, पाँच प्रकार के अस्तित्व। देखिये : **वुजूद**।

तालिब (S) : एक खोजी।

तनज्जुलत (S) : पाँच प्रकारों के अस्तित्व के माध्यम से **परमतत्व** की उपक्रान्तियाँ।

तान्त्रिक [V] : (तान्त्रिक—एकवचन) वे आत्मायें जो **तान्त्रिक** अभ्यासों के द्वारा गूढ़ शक्तियों में प्रवीण हो गई हैं। तान्त्रिक अभ्यास तन्त्रों पर आधारित होते हैं। **तन्त्र** वे अभ्यास प्रदान करते हैं (पौराणिक कथा में, जिन्हें प्रारम्भ में भगवान शिव ने लिखा था) जो ऐसी शक्तियों की ओर अग्रसर करते हैं।

तंजीह [S] : अखण्ड। अनुभवातीत।

तापस [V] : (तप—एकवचन) तपस्यायें।

तपस्वी [V] : (तपस्वी—एकवचन) कठोर साधनायें करने वाले।

तरीकत [S] : आध्यात्मिक पथ। आध्यात्मिक उन्नति का उपनिषद् मार्ग।
V : **आध्यात्मिक मार्ग**।

तसव्वुफ़ [S] : आध्यात्मिक **ज्ञान**।

तश्बीह (S) : समान। गुणयुक्त। उसी समान। तुलना किया गया।

तौबा [S] : (*taubah*) प्रायश्चित। इन्द्रियों के जीवन से मुड़कर ईश्वर की ओर लौटना, जिसकी उत्पत्ति सहज उत्कण्ठा से होती है। आध्यात्मिक क्रमों, अथवा मुक़ामात, में प्रथम क्रम।

तौहीद [S] : ईश्वर की ऐक्य अवस्था।

तौहीद-ए-अफ़ाली [S] : ईश्वर का क्रियात्मक ऐक्य; वह ऐक्य जो आत्मा को सूक्ष्म भूमिकाओं पर प्राप्त होता है।

तौहीद-ए-अहवाली [S] : [*tauhid-i ahvali*] परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति; पाँचवीं भूमिका पर स्थित आत्मा के द्वारा प्राप्त हुआ ऐक्य।

तौहीद-ए-अक़्वाली (S) : परमात्मा का मौखिक ऐक्य; अधिकांश मानव जाति द्वारा प्राप्त करने योग्य एकत्व, जिन्होंने अब भी मार्ग में प्रवेश नहीं किया।

तौहीद-ए-शरियत (S) : विधान की एकता = **तौहीद-ए-अक़्वाली**।

तौहीद-ए-सिफ़ाती (S) : गुणों में ईश्वर का ऐक्य; छठवीं भूमिका पर स्थित आत्मा की प्राप्त हुई एकता।

तौहीद-ए-तंजीही (S) : अखण्ड ऐक्य। V : **अद्वैत**।

तौहीद-ए-तरीक़त (S) : आध्यात्मिक पथ पर चलती हुई आत्माओं का मिलन। उसमें **तौहीद-ए-अफ़ाली, अहवली,** और **सिफ़ाती** का समावेश होता है।

तौहीद-ए-ज़ाती (S) : सार तत्व में परमात्मा का मिलन। ईश्वर-साक्षात्कार-प्राप्त आत्मा की **तौहीद**।

तवज्जुह [S] : शब्दार्थ, प्रभाव। एक वली द्वारा साधक के भौतिक नेत्रों में टकटकी लगाये हुये उसके अन्तर्चक्षुओं से पर्दा हटाना।

त्रिभुवन [V] : तीनों लोक। सृजित विश्व, स्थूल, सूक्ष्म और मनों लोकों सहित, और चौथे (मिश्रित) लोक सहित। S : **दो आलम** (**दुनियाँ और उक़बा**)।

तुरिया अवस्था [V] : (*turiyavastha*) दिव्य सन्धि की अवस्था। S : **मुक़ाम-ए-फुक़्तत** पर **फ़ना-मा-अल-बक़ा**।

उबूदियत (S) : दासता। **यथार्थ सालिकों** की भूमिका जो बन्धन में जकड़ी मानवता को लाभ पहुँचाने के लिये सामान्य चेतना में वापिस आ गये हैं।

वक़्बा [S] : देखिये : **दो आलम** ।

वर्क़-उल-यक़ीन : देखिये : **यक़ीन** ।

व्यक्तिम (V) : विकास । S : **इरतेक़ा** ।

वैराग्य (V) : स्थायी त्याग ।

वैताग (मराठी) : निराशा द्वारा अस्थायी संन्यास ।

वस्ल (S) : देखिये : **ऐक्य** ।

वेदान्तिस्त (V) : (वेदान्त) वे आत्मायें जो वेदान्त शास्त्र का अभ्यास करती हैं जो न केवल ४ वेदों के सार तत्व पर आधारित होता है वरन् वेदों के बाद लिखे गये पवित्र ग्रन्थों पर भी आधारित होता है, जिनमें उपनिषद् सम्मिलित होते हैं ।

विदेह मुक्त : देखिये : मुक्त ।

विदेह मुक्ति : देखिये : मुक्ति ।

विज्ञान [V] : *[Vijnana]* चैतन्य मिलन । सर्वोच्च दिव्य चेतना । S : **अहदियत** ।

पूर्ण पुरुष की महा-चैतन्य स्थिति । S : **आलम-ए-लहूत** ।

विज्ञान भूमिका (V) : एकसाथ ईश-चेतना और सृष्टि-चेतना की अवस्था : पूर्ण पुरुषों की चेतना । (**मजज़ूब-ए-कामिल** को केवल **विज्ञान भूमिका** में ईश-चेतना प्राप्त होती है ।) S : **मुक़ाम-ए-मुहम्मदी** ।

विशिष्ट अद्वैत [V] : वेदान्तिक सम्प्रदाय जिसके विचारों की तुलना **शुहूदियाह** से की जा सकती है । प्रत्यक्षवादी ।

विष्णु [V] : पालनकर्त्ता । S : **परवरदिगार** ।

वहदत-उल-शुहूद (S) : (*vahdatushshuhud*) शब्दार्थ, दृष्टा का मिलन । प्रत्यक्षवाद ।

वहदत-उल-वजूद [S] : (*vahdatulvujud*) शब्दार्थ, अस्तित्व का मिलन । एकतावाद ।

वहदियत [S] : चैतन्य एकता ।

वहदियत-ए-वहदियत [S] : अनेकता-में-एकता की चेतनायुक्त चैतन्य एकता । यह **आलम-ए-लहूत** (प्रभुता के लोक) में **हक़ीक़त-ए-मुहम्मदी** की चेतना है ।

वहीदियत [S] : अनेकता की चेतनायुक्त ऐक्य । माया की तौहीद ।

वहीद-उल-वुजूद : देखिये : वुजूद ।

वली [S] : शब्दार्थ, मित्र। वह आत्मा जिसे **विलायत** प्राप्त है। इसका प्रयोग वहुधा अधिक नियन्त्रिक आशय में पाँचवीं भूमिका पर स्थित सन्त के अर्थ में किया जाता है। V : **महापुरुष**।

वली अल्लाह [S] : शब्दार्थ, परमात्मा का एक मित्र। एक **वली**।

वाकिफ़ [S] : शब्दार्थ, वह जिसको ज्ञान है। एक स्थूल चेतनायुक्त आत्मा।

वक्त (S) : ६५ से १२५ वर्षों की अवधि का एक युग। हर कालचक्र में ११ युग होते हैं। V : **काल**।

वरा-उल-वरा (S) : (*vara'ulvara'*) अवस्था I में परमात्मा। परमात्मा की परात्पर अवस्था। V : **परात्पर परब्रह्म**।

वासिफ़ (S) : शब्दार्थ, स्तुतिकर्त्ता। एक सूक्ष्म चेतनायुक्त आत्मा।

'दि वेफेयरर्स' : विलियम डङ्किन कृत एक ग्रन्थ, जिसमें **मस्तों** के साथ मेहेरबाबा के कार्य का वर्णन किया गया है। भारत में, आदि के० ईरानी द्वारा १९४८ ई० में प्रकाशित।

वज़ीफ़ा (S) : (*vazifah*) एक **मन्त्र**, मन्त्र के प्रसंग में देखिये।

विलायत (S) : शब्दार्थ, (परमात्मा के साथ) मैत्री। पाँचवीं और छठवीं भूमिकाओं पर स्थित एक आत्मा की अवस्था।

वुजूद (S) : शब्दार्थ, अस्तित्व।

आरिफ़-उल-वुजूद : (*'arifulvujud*) अस्तित्व का ज्ञाता (अस्तित्व को जानता हुआ), प्रभुता के लोक में **कुतुब** का वर्णन (**आलम-ए-हहूत**)। दूसरी अभिव्यक्ति के अनुरूप (**तजल्ली-ए-दोयम**)।

मुमकिन-उल-वुजूद : (*mumkinulvujud*) सूक्ष्म लोक में एक आत्मा का सम्भव अस्तित्व (**आलम-ए-मलकूत**)। चौथी अभिव्यक्ति के अनुरूप (**तज़ल्ली-ए-चहरुम**)।

मुमतान-उल-वुजूद : (*mumtana'lvujud*) एक आत्मा का मनो लोक में नकारात्मक अस्तित्व (**आलम-ए-जबरूत**)। तीसरी अभिव्यक्ति के अनुरूप (**तजल्ली-ए-सोयम**)।

वहीद-उल-वुजूद : (*vahidulvujud*) एकात्मक अस्तित्व, चैतन्य ऐक्य (**अहदियत**) जिसका अनुभव **मजजूब** को पूर्णता के लोक (**आलम-ए-लहूत**) में होता है। प्रथम अभिव्यक्ति के अनुरूप (**तजल्ली-ए-अव्वल**)।

वजीब-उल-वुजूद : (*vajibulvujud*) स्थूल लोक (**आलम-ए-नसूत**) में स्थूल चेतनायुक्त सामान्य व्यक्ति का आवश्यक अस्तित्व । पाँचवीं अभिव्यक्ति (**तजल्ली-ए-पंजुम**) के अनुरूप ।

वुजूद-ए-मुतलक (S) : परम अस्तित्व ।

वुजूदत (S) : अस्तित्व ।

खमसा वुजूदत : (*khamsah vujudat*) पाँच प्रकारों का अस्तित्व । देखिये : **वुजूद** ।

वुजूदियाह् (S) : एकरूपतावाद का सूफ़ी सम्प्रदाय, जिनके विचारों की तुलना वेदान्त के **अद्वैत** सम्प्रदाय से की जा सकती है ।

यक़ीन (S) : निश्चितता । दृढ़विश्वास ।

ऐन-उल-यक़ीन : (*'ainulyaqin*) दृष्टि द्वारा दृढ़ विश्वास, जो छठवीं भूमिका पर परमात्मा को आमने-सामने देखने से प्राप्त होता है । V : **अन्तर्दृष्टि** ।

हक़-उल-यक़ीन : (*haqqulyaqin*) **साक्षात्कार** की निश्चितता ।

इल्म-उल-यक़ीन : (*'ilmulyaqin*) चट्टान के समान अडिग श्रद्धा पर आधारित बौद्धिक दृढ़ विश्वास ।

उर्फ़-उल-यक़ीन : (*'urfulyaqin*) **अवतार** और **सद्‌गुरुओं** के ज्ञानपथ की निश्चितता, जो अपने ज्ञान का प्रयोग बन्धन में जकड़ी आत्माओं की सहायता के लिये करते हैं ।

यकीन-उल-यकीन : (*yaqinulyaqin*) पहली भूमिका से पाँचवीं भूमिका तक स्थित आत्माओं का दृढ़ विश्वास ।

यज़दान (**ज़ोरास्ट्रियन**): सर्वशक्तिमान ईश्वर । V : **परमात्मा** S : **अल्लाह्** ।

योग (V) : शब्दार्थ, मिलन । एक व्यक्ति की अवस्था जिस समय उसका कर्म और विचार का जीवन उसके जीवन के स्वयं स्रोत की लय में पूर्ण रूप से होता है । **योग** के नाना प्रकार होते हैं, जैसे :

भक्ति योग : प्रेम अथवा निष्ठा का **योग** ।

ज्ञान योग : ज्ञान का **योग** ।

कर्म योग : कर्म का **योग** ।

राज योग : ध्यान लगाने और चिन्तन करने के द्वारा किया गया **योग** ।

योगी (V) : = **साधक** : वह व्यक्ति जो **पथ** पर चलता है । S : **रहरव** ।

युग (V) : लगभग ७०० वर्ष से १४०० वर्षों की अवधि का एक कालचक्र, जिसका प्रारम्भ **अवतार** के प्रगट होने के समय होता है । S : **दौर, ज़मां** ।

ज़मां (S) : = **युग** ।

ज़ात (S) : परमात्मा का दिव्य सार तत्व ।

ज़ात-अल-बहुत (S) : *[zatalbaht]* निर्मल तत्व । परमात्मा की परात्पर अवस्था का एक पद ।

ज़िल (S) : शब्दार्थ, पृष्ठ के नीचे दी गई टीप; परिशिष्ट, दुम । परमात्मा की मायावी अभिव्यक्ति ।

जोरास्टर : (ज़रथुस्त्र भी) प्राचीन **अवतार** जो ईरान में रहता था, सबसे प्रारम्भिक अवतारों में से एक जिसका लेखा हमको प्राप्त है ।

अपनी चरम सीमा पर होता है और जिनकी भूमिका दुनिया को एक नवीन युग में एक नई दिशा प्रदान करने की होती है । २५ फरवरी, १९९४ ई० से ३१ जनवरी १९६९ ई० तक मानव जाति का त्राता पुन: इस पृथ्वी पर चलता–फिरता रहा । मसीहा, क्राईस्ट, अवतार, बुद्ध, ईश्वर का रसूल पुन: हमारे बीच में मेहेरबाबा के रुप में मानवदेह धारण किये हुये उपस्थित रहा । यह कथन बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, और न यह कोई दावा करने के लिये कहा गया है । मेहेरबाबा की महानता और सार्थकता की नाप केवल उन लोगों की अन्तरात्मा को विस्तृत करने के द्वारा की जा सकती है, जो उनके जीवन और उपदेशों के टकराव से आकर्षित होते हैं ।

मेहेरबाबा के जीवन–काल के आद्योपान्त, उनका प्रधान कार्यालय पश्चिमी भारत में, बहुधा पूना या अहमदनगर के निकट रहा था । यद्यपि वहाँ पहुँच एवं सम्पर्क पश्चिमी स्तरों के अनुसार कठिन थे (विशेष रुप से बाद में मेहेरज़ाद में स्थायी निवास करने पर) पर, यह पृथकता न थी । वहाँ मेहेरबाबा ने बारी–बारी से लम्बे समय तक एकान्तवास तथा लम्बी विश्व यात्रायें कीं । प्रसिद्ध पुरुषों एवं अज्ञात पुरुषों के साथ उन्होने व्यापक सम्पर्क किये । भीड़ में, उनकी शक्तिमान प्रकृति सबकी आँखों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी । उनके पास आने वाले सब भक्तों के लिए उनका आकर्षण और संवेदना सर्व–व्यापक थे । अपने भक्तों के लिए, वह उनके अस्तित्व के प्रत्येक पहलू को बदल देते थे । वे अपने जीवनों को पुन: ऐसा व्यवस्थित करते थे कि जिससे वे उन दुलर्भ अवसरों पर उनकी उपस्थिति में पहुँच सकें जब वह दर्शन या सहवास प्रदान करते थे । उनका मौन, जो उन्होने स्वेच्छा से १९२५ ई० से धारण किया था, विचार–विनिमय करने में बाधक न होता था । वह कहते थे, "भूतकाल में मैंने तुमको पर्यापत शब्द प्रदान किये हैं, अब उनको जीवन में आचरण में लाने का समय है । १९५४ ई० तक वह एक तख्ती का प्रयोग करते थे जिसमें अंग्रेजी के अक्षर छपे थे, जिन पर वह अँगुलियाँ रखकर अपनी बाँतें प्रकट करते थे । यह ग्रन्थ उन्होनें इसी प्रकार से लिखवाया था । सन् १९५४ ई० के बाद वह हाथ के इशारों का प्रयोग करते थे, जिनको उनके शिष्य पढ़ते थे ।

मेहेरबाबा कोई नया धर्म स्थापित करने के लिये नहीं आये थे । वह कहते थे, "यहाँ उनकी बहुतायत है ।" वह हमें जाग्रत करने के लिए आये थे । व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने धर्म को जीवन के आचरण में लावे – खुद अपने ऊपर प्रयोग करके और दूसरों की सेवा करने के द्वारा – और वह खुद अपने विचारों की समता करने के लिये दूसरों को बदलने का या उनके धर्म को बदलने का आचरण न करे । अपने जीवन भर अवतार मेहेरबाबा अपने आदर्श 'सेवकाई में प्रभुताई' के जीते–जागते नमूना थे । यह आदर्श समाधि के ऊपर अंकित है जहाँ अब मेहेराबाद–पहाड़ी के ऊपर उनका शरीर दफन है ।